अर्थशास्त्र



मुरलीधर जोशी
सेवाराम शर्मा

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186658

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H330 | J83A Accession No. H2951

Author जोशी, मु० लक्ष्मी सेनाराम

Title अर्थशास्त्र | १९५१

This book should be returned on or before the date last marked below.

Dec 1963

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र

मुरलीधर जोशी
अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय
और
सेवाराम शर्मा
अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय

लखनऊ
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
१९५१

प्रथम संस्करण १९५१

सर्वाधिकार स्वरक्षित

कम्पोज़िंग: दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
मुद्रण: जनता प्रेस, लखनऊ

प्रस्तावना

गत पच्चीस-तीस वर्षोंमें पाश्चात्य देशोंमें अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके विवेचन और विश्लेषणमें बड़े वेगसे प्रगतिहुई है। कोईभी आधुनिक अर्थशास्त्री इन प्रवृत्तियोंसे प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। प्रस्तुत पुस्तकमें अर्थशास्त्रके सम्पूर्ण क्षेत्रके सिद्धान्तोंकी विवेचना कीगई है। प्रत्येक विषयपर आधुनिक मतका प्रतिपादन करते हुए तत्सम्बन्धी अन्य मतोंकी विवेचनाभी करदी गई है। आशाहै कि पाठकों—विशेषकर विश्वविद्यालयोंके विद्यार्थियों—के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

साधारणत: अर्थशास्त्रके दो विभाग किये जाते हैं। एक विभाग सिद्धान्तोंका निरूपण करताहै और दूसरा आर्थिक समस्याओंका अध्ययन करता है। दोनों विषय महत्वपूर्ण हैं। इस पुस्तकमें अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंपर ही प्रकाश डालनेका प्रयास कियागया है। अतएव इसमें पाठकोंको आर्थिक समस्याओं और उनके समाधानों का विशेष वर्णन नहीं मिलेगा।

अर्थशास्त्रकी आधुनिक पुस्तकोंमें एक विशेष दृष्टिकोणके आधारपर सम्पूर्ण विषयोंकी विवेचना करनेकी प्रथा चलपड़ी है। किसीमें आर्थिक क्षेमको, किसीमें राष्ट्रीय आयको, किसीमें मूल्यको और किसीमें सीमान्त विश्लेषणको प्रधानता दी गई है। इस रीतिसे विषयका प्रतिपादन करनेमें कुछ विशेषताएं अवश्य हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकोंने अपनेको किसी एक दृष्टिकोणसे बद्ध नहीं किया है। उन्होंने केवल एकही दृष्टिकोण अपने सामने रखाहै और वह यह कि पाठक इस विषयके विविध प्रकरणोंको सुगमताके साथ समझ सकें। यही कारणहै कि आधुनिक प्रवृत्तियोंका समावेश करतेहुए भी अध्यायोंके क्रममें कुछ अंशतक पुरानाही ढंग रखागया है।

इस पुस्तकको लिखनेमें सबसे बड़ी कठिनाई लेखकोंको विषय सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दोंको प्राप्त करनेमें हुई। प्रचलित पुस्तकों, अर्थशास्त्र शब्दावलियों और कोषोंमें जो शब्द प्राप्त हुए उनमें अनेक अनुपयुक्त जानपड़े। अतएव लेखकोंने बहुतसे शब्दोंकी सृष्टि स्वयंकी है। कहीं कहींपर एकही अर्थमें दो शब्दोंका भी

प्रयोग होगया है जैसे प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा, मजूरी और पारिश्रमिक इत्यादि। अभी अर्थशास्त्र शब्दावली बननेको है। अतएव लेखकोंने अपनेको किसी शब्द-विशेष से बद्ध नहीं करलिया है। पाठकोंकी सुविधाके लिए पुस्तकमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोंकी एक शब्दावली पुस्तकके अन्तमें दे दीगई है।

अर्थशास्त्रके सम्पूर्ण क्षेत्रकी विवेचना करनेमें एक समस्या यह उत्पन्न होजाती है कि भिन्न भिन्न विषयोंका किस अनुपातमें समन्वय कियाजाये। अर्थशास्त्रके अन्तर्गत अनेक विषय और प्रकरणहैं और प्रत्येकसे सम्बन्धित अनेक मत है। अतएव किस विषयको कितना स्थान देना चाहिए इसका निर्णय करना कठिन है। हो सकताहै कि प्रस्तुत पुस्तकमें किसी प्रकरण विशेषकी उस मात्रामें विवेचना न होपाई हो जिस मात्रामें अन्य पुस्तकोंमें प्राप्तहो अथवा पाठक आशा करते हों। कालान्तरमें भिन्न भिन्न विषयोंके महत्वमें परिवर्तन होता रहताहै और भिन्न भिन्न प्रकरणोंके सन्तुलनमें लेखककी मनोवृत्तिका भी प्रभाव पड़ता है। पाठकोंसे हमारा सविनय अनुरोधहै कि वे हमको पुस्तककी त्रुटियों और अशुद्धियोंकी सूचना देनेका कष्ट करें जिससे हम दूसरे संस्करणमें पुस्तकको अधिक उपयोगी बना सकें।

हमारे ज्ञानका आधार प्रधानतया पाश्चात्य देशोंके अर्थशास्त्रियोंकी पुस्तकें और लेखहैं। हम इनके बहुत आभारी हैं। हमको मार्शल, टौसिग, पीगू, विक्सीड, विकसेल, वीज़र, नाइट, रौबिन्स्, माइज़ेज़, हायक, ओहलिन, केन्स और हैबरलरकी पुस्तकों से विशेष सहायता मिली है। विश्वविद्यालयमें अध्यापनका कार्य करनेके कारण हमको स्वयंभी सोचने-समझने और तर्क करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम अपने सहयोगी अध्यापकों और अर्थशास्त्रके छात्रोंके भी आभारी हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय

मुरलीधर जोशी
सेवाराम शर्मा

विषय-सूची

१ अर्थशास्त्र का स्वरूप और क्षेत्र	...	पृष्ठ १
अर्थशास्त्र का विषय	...	... २
अर्थशास्त्र का क्षेत्र	...	... ६
आर्थिक विश्लेषण की रीतियां	...	... १०
आर्थिक क्षेम	...	... १३
अर्थशास्त्र और विज्ञान	...	... १४
अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध	...	... १५
अर्थशास्त्र के नियम	...	... १६
२ आवश्यकताएं	...	... १८
उपभोग का महत्व	...	... १८
आवश्यकताएं और उनकी विशेषताएं	...	... १८
उपयोगिता	...	... २२
क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम	...	... २३
कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता	...	... २५
सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम	...	... २८
३ मांग	...	... ३३
मांग का तात्पर्य	...	... ३३
मांग का नियम	...	... ३५
मांग में परिवर्तन	...	... ३७
मांग की लोच	...	... ३९
मांग की लोच में भिन्नता	...	... ४२
मांग की लोच का महत्व	...	... ४५
उपभोक्ता की बचत	...	... ४५
४ तटस्थ रेखाएं	...	... ४९
उपयोगिता का दोष	...	... ४९
तटस्थ रेखा का आकार	...	... ५१
स्थानापन्नता की दर	...	... ५२

सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात ५३
तटस्थ रेखा की स्पर्शरेखा और उसका ढलान ... ५३
आय रेखा ५५
आय-उपभोग रेखा ५६
मूल्य-उपभोग रेखा ५६
स्थानापन्नता की लोच ५७

५ बाज़ार ५९
बाज़ारों के प्रकार ५९
शुद्ध बाज़ार के लक्षण ६०
बाज़ार का विस्तार ६१
श्रम बाज़ार ६३
बाज़ारों की व्यवस्था ६३
सट्टा ६४

६ प्रतिस्पर्धा ६७
प्रतिस्पर्धा का अर्थ ६७
पूर्ण प्रतिस्पर्धा के फल ६९
पूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार ७०
उत्पत्ति विभेदीकरण ७१
मूल्य-भेद ७२
एकाधिकार के आधार ७४
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार की सीमा ... ७५
उत्पादक साधनों की गतिशीलता ७६
भूमि की गतिशीलता ७७
श्रम की गतिशीलता ७७
पूंजी की गतिशीलता ७८
पूर्ण उद्यम और गतिशीलता ७९

७ मूल्य निर्धारण की विधि ८०
मूल्य के प्रकार ८०
मूल्य का महत्व ८०
मांग, पूर्ति और मूल्य ८१
काल-भेद और मूल्य ८२

क्षणिक काल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा, और मूल्य ८३
अल्पकाल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य ८३
अल्पकाल, एकाधिकार और मूल्य ८७
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य ८८
बाज़ार-मूल्य और सामान्य-मूल्य ८९
औसत उत्पादन-व्यय और औसत आय ९१
सम्मिलित उत्पत्ति और मूल्य ९६
सम्मिलित मांग ९६
एक वस्तु के भिन्न भिन्न मूल्य ९७

८ प्रतिस्थापना ९८
प्रतिस्थापना का महत्व ९८
प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थिति ९८
दो प्रकार की स्थानापन्न वस्तुएं ९९
प्रतिस्थापना और मूल्य ९९
सीमान्त स्थानापन्नता १००
प्रतिस्थापना और उपभोग १०१
प्रतिस्थापना और उत्पादन १०१
प्रतिस्थापना और वितरण १०२
प्रतिस्थापना की विरोधी शक्तियां १०३

९ आर्थिक सन्तुलन १०४
मूल्यों का पारस्परिक सम्बन्ध १०४
मूल्यों का सन्तुलन १०५
संस्था का सन्तुलन १०७
उद्योग और उसका सन्तुलन १११
उत्पादन और उसका सन्तुलन १११

१० मूल्य और उसके सिद्धान्त ११४
मूल्य का अर्थ ११४
मूल्य का श्रम सिद्धान्त ११५
उत्पादन-व्यय सिद्धान्त ११७
श्रम और उत्पादन-व्यय सिद्धान्तों की त्रुटियां ... ११८
सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त ११९

११ उत्पादन के साधन–भूमि १२२
उत्पादन का अर्थ १२२
उत्पादन के साधन १२३
भूमि १२५
उत्पत्ति का क्रमागत-ह्रास सिद्धान्त १२६
परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त १२८
सर्वोत्तम बिनियोग का सिद्धान्त १३१
साधनों की अविभाज्यता १३२
१२ आर्थिक साधन–श्रम १३४
श्रम की परिभाषा १३४
जन-संख्या १३५
जन-संख्या में परिवर्तनों का महत्व १३८
वृद्धिशील जन-संख्या १३८
ह्रासशील जन-संख्या १३९
कुशलता १४०
श्रमविभाजन के लाभ १४२
१३ उत्पादन के साधन–पूंजी १४४
उत्पादन काल और उसकी दीर्घता १४५
उत्पादन अवधि और उत्पादनशीलता १४७
पूंजी की वैकल्पिक परिभाषा १४८
विभिन्न प्रकार की पूंजी १४८
पूंजी और बचत १५०
पूंजी का संरक्षण १५०
१४ व्यवस्था १५२
व्यवस्था की आवश्यकता १५२
बड़े परिमाण में उत्पत्ति १५३
व्यवस्था के रूप १५५
उत्पादन-व्यय १५८
१५ उद्योग-धन्धों का अभिनवीकरण १६२
अभिनवीकरण का अभिप्राय १६२

अभिनवीकरण के मुख्य अंग १६२
अभिनवीकरण के लाभ तथा हानियां १६४
वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ तथा उद्देश्य १६६
वैज्ञानिक प्रबन्ध के दोष १६८

१६ आर्थिक पद्धतियां १७०
पूंजीवाद का अर्थ १७०
पूंजीवाद के लक्षण १७१
पूंजीवाद का विकास १७३
मार्क्सवाद १७४
मार्क्सवाद की शाखाएं १७५
समाजवाद १७५
साम्यवाद १७६
आर्थिक उन्नति और पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम १७७
न्याययुक्त वितरण १७८

१७ राष्ट्रीय आय १८०
राष्ट्रीय आय का अर्थ १८०
राष्ट्रीय आय की माप-विधि १८१
वैकल्पिक माप-विधियां १८२
राष्ट्रीय आय और भौतिक कल्याण १८३
राष्ट्रीय आय मांपने के लाभ १८५

१८ भूमि-कर १८८
रिकार्डो का भूमि-कर सिद्धान्त १८८
रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना १९१
भूमि-कर का आधुनिक सिद्धान्त १९३
कृषि-सम्बन्धी समुन्नति और भूमि-कर १९५

१९ मजूरी (पारिश्रमिक) और उसके सिद्धान्त ... १९६
मजूरी की परिभाषा १९६
मजूरी का लोह सिद्धान्त १९७
मजूरी कोष सिद्धान्त १९८
सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त १९८

मजूरी का आधुनिक सिद्धान्त २०१
जीवन-स्तर और मजूरी २०२
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मजूरी २०३
नये आविष्कार और मजूरी २०६
मजूरी-भुगतान २०६

२० ब्याज और उसके सिद्धान्त २०८
शुद्ध तथा मिश्रित ब्याज २०८
ब्याज की दर २०९
पूंजी की उत्पादनशीलता और ब्याज २११
उपभोग-व्याक्षेप, बट्टा और ब्याज २१२
ब्याज और द्रव्य-वरीयता २१४
ब्याज और पूंजी की उत्पादनशीलता २१५

२१ लाभ २१७
शुद्ध और मिश्रित लाभ २१७
लाभ का भूमि-कर सिद्धान्त २१७
जोखिम और लाभ २२०
ब्याज का प्रगतिशील सिद्धान्त २२१

२२ द्रव्य २२३
द्रव्य की आवश्यकता २२३
वस्तु विनिमय की प्रथा २२४
विनिमय का माध्यम २२५
मूल्य का माप-दंड २२६
कालयापन माप-दंड २२८
द्रव्य और बचत २२९
द्रव्य के प्रकार २२९
धातु-द्रव्य २३०
मुद्रा २३१
नोट २३४
विनिमयसाध्य नोट २३६
अविनिमयसाध्य नोट २३७
साख-द्रव्य २३९

साख-द्रव्य का सृजन २४०

२३ द्रव्य पद्धतियां २४४

द्रव्य पद्धतियों के प्रकार २४४
द्विधातु-पद्धति २४५
ग्रेशम-नियम २४६
स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति २४६
स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति २४७
अमुद्रित-स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति २४७
स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति २४८
स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के गुण और दोष २४९
स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के व्यावहारिक नियम २५२
स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति का अन्त २५४
अविनिमयसाध्य प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति २५५

२४ द्रव्य का विनिमय-मूल्य २६१

मूल्य और विनिमय-मूल्य २६१
द्रव्य का विनिमय-मूल्य २६२
सूचक-अंक २६३
द्रव्य के विनिमय-मूल्य का पारिमाणिक सिद्धान्त ... २६६
द्रव्य का संचयन सिद्धान्त २७०
द्रव्य के विनिमय-मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव ... २७२

२५ बैंक २७५

साख और साख-पत्र २७५
बैंकों का विकास और उनके कार्य २७७
बैंकों की लेनी-देनी ... २७९
केन्द्रीय बैंक २८२

२६ विदेशी विनिमय २९०

विदेशी विनिमय की आवश्यकता २९०
अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी का सामंजस्य २९१
व्यापारिक विषमता सिद्धान्त २९४
स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय २९५

नियन्त्रित विदेशी विनिमय २९७
अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय ... ३००
विदेशी विनिमय-नियन्त्रण-कोष ३०२

२७ अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्व बैंक ... ३०५
द्रव्य-कोष ३०५
कोष और विदेशी विनिमय की दर ३०७
विश्वबैंक ३१०

२८ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ३१३
पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता ३१३
उद्योग-धन्धों के स्थानीकरण से सम्बन्ध ३१३
तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त ३१५
मांग की लोच और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ३१८

२९ उन्मुक्त और संरक्षित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ... ३२०
उन्मुक्त के लाभ ३२०
संरक्षण ३२१
संरक्षण के लाभ और हानियां ३२१
संरक्षण और डम्पिंग ३२५
निर्यात और आर्थिक सहायता ३२६
व्यापारिक समनुबन्ध ३२७

३० आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष ३२८
आर्थिक प्रगति ३२८
आर्थिक चक्र ३२९
बेकारी ३३२
आर्थिक चक्र के सिद्धान्त ३३४
कृषि-सिद्धान्त ३३४
मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ३३५
द्रव्य सम्बन्धी सिद्धान्त ३३७
हायेक का सिद्धान्त ३३९
उपभोग-हानि सिद्धान्त ३४१
बचत और पूंजी-लगाव सिद्धान्त ३४३

गुणक सिद्धान्त ३४४
गति-वृद्धि सिद्धान्त ३४५
उत्कर्ष और अपकर्ष का प्रतिकार ३४७

३१ राजस्व का स्वरूप और क्षेत्र ३५१

राज्य और शासन की आवश्यकता ... ३५१
आर्थिक कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता ... ३५२
राजस्व के मुख्य विभाग ३५३
अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त ३५५
व्यक्ति और राज्य के आय-व्यय सम्बन्धी कार्यों में समानता और भेद ३५६

३२ राज्य का व्यय ३५९

राज्य के व्यय का महत्व ३५९
राज्य के व्यय का वर्गीकरण ३५९
राज्य के व्ययसम्बन्धी नियम ३६२
केन्द्रीय, प्रांतीय और स्थानीय व्यय ३६३
राज्य के व्यय का आर्थिक प्रभाव ३६४
राज्य के व्यय पर उत्पादन का प्रभाव ३६५
राज्य के व्यय का वितरण पर प्रभाव ३६७

३३ राज्य की आय ३६८

राज्य की आय की मदें ३६८
राज्य के उद्योग-धन्धे ३६९
प्रशासनकारी आय ३७०
राज्य की आय का वर्गीकरण ३७२
राज्य की अच्छी आय-पद्धति की विशेषताएं ... ३७२

३४ कर-प्रणाली ३७५

कर की उत्पत्ति और विकास ३७५
कर के सिद्धान्त ३७६
शक्ति अथवा क्षमता सिद्धान्त ३७७
वर्धमान और आनुपातिक कर ३७९
प्रत्यक्ष और परोक्ष-कर ३८१

एककर-प्रणाली और बहुकर-प्रणाली ३८२
कर सम्बन्धी नियम ३८४
३५ कर भार का हस्तान्तरण और आर्थिक प्रभाव ... ३८६
कर-भार ३८६
प्रसरण-सिद्धान्त ३८६
कर को हस्तान्तरित करने की क्रिया ३८७
मांग और पूर्ति का प्रभाव ३८९
एकाधिकारी पर कर ३९२
मकानों पर कर ३९५
खेती की भूमि पर कर ३९६
आय-कर ३९६
करों का आर्थिक प्रभाव ३९८
करों का उत्पत्ति पर प्रभाव ३९८
करों का वितरण और नियोग पर प्रभाव ४०१
३६ राज्य-ऋण ४०३
राज्य-ऋण का प्रयोजन और महत्व ४०३
युद्ध-कालीन ऋण ४०५
ऋण अथवा कर ४०७
ऋण-परिशोधन ४०७
ऋण-परिशोधन-कोष ४०८
विशेष पूंजी-कर ४०८
ऋण-परिवर्तन ४०९
परिशिष्ट
शब्दावली ४११
अनुक्रमणिका ४२७

१

अर्थशास्त्र का स्वरूप और क्षेत्र

इस संसारमें मनुष्य जिस वातावरणमें जन्म लेता है वह वास्तवमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंका सम्मिश्रण मात्र है। इनमेंसे कुछ परिस्थितियां ऐसी हैं जिनके उत्पन्न करनेमें उसका कुछ हाथ नहीं है और कुछ ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे उसीके आचरण और व्यवहारके फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। इन सभी प्रकारकी परिस्थितियोंका उसपर तथा उसके कार्योंपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। अतएव वह इन परिस्थितियों और तत्सम्बन्धी तथ्योंको समझनेकी चेष्टा करता है। सम्भव है कि प्रारम्भमें वह केवल स्वाभाविक उत्सुकतावशही ऐसा करता रहा हो परन्तु निश्चयही आगे चलकर इस प्रकार प्राप्त ज्ञानका प्रयोग उसने या तो परिस्थितियोंको अपने अनुकूल अथवा अपने को परिस्थितियोंके अनुकूल बनानेमें किया। यही नहीं जहां परिवर्तन सम्भव नहीं हुआ वहां प्रतिकूल परिस्थितियोंसे संघर्ष करनेमें भी इस ज्ञानसे उसको बड़ी सहायता मिली।

उत्सुकता जाग्रत करने वाली वस्तुओंमें प्रकृतिका स्थान सर्वप्रथम है। मनुष्य अपने आस पास जीव-जन्तुओं और पेड़-पौदोंको देखता है और उनकी उत्पत्ति एवं विकास, गुण तथा प्रवृत्ति जाननेकी चेष्टा करता है। इसी प्रकार वह आकाशमें सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रोंको देखता है। पृथ्वी पर प्रकाश, धूप, वृष्टि, नदी, समुद्र पहाड़ इत्यादि को देखता है। खानसे खनिज पदार्थ, लोहा, कोयला, सोना, चांदी इत्यादि निकलते हुए देखता है। निश्चय ही उसके मनमें इनके विषयमें जाननेकी उत्कंठा होती है। केवल देख-सुनकर प्राप्त साधारण बोधसे ही उसको सन्तोष नहीं होता। वह गहराईमें जाना चाहता है और कार्य-कारणके सम्बन्धका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह इन विषयोंकी छान-बीन करके उनके अन्तर्गत नियमों और सिद्धान्तोंकी स्थापना करता है तथा उनके आधार पर भावी परिस्थितियोंके विषयमें कुछ अंश तक भविष्यवाणी करनेका भी दावा करता है। इस प्रकारके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। भिन्न भिन्न विषयोंके सम्बन्धमें एकत्रित

ज्ञान-विज्ञान विभिन्न शास्त्रोंके अन्तर्गत आते हैं। उदाहरणके लिए प्राणियोंके विषयमें जो विज्ञान है, उसका समावेश प्राणि शास्त्रमें, पेड़-पौदोंका वनस्पति शास्त्र में और ग्रह-नक्षत्रों आदिका खगोल शास्त्र में है। इसी प्रकार रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र इत्यादि भी अपने अपने विषयोंके विज्ञानको प्रतिपादित करते हैं। इनमें भी कुछ विषयों पर अधिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है क्योंकि उनके प्राप्त करनेके अधिक साधन उपलब्ध हैं; अन्य बहुतसे विषयों पर अभी ज्ञान बहुत ही परिमित है।

अर्थशास्त्र का विषय

मनुष्य न केवल वाह्य परिस्थितिको ही समझनेका प्रयत्न करता है, वरन् वह अपने और अपने कार्योंके विषयमें भी जानना चाहता है। उदाहरणके लिए, वह अपने शरीरके तथा अपनी मनोवृत्तिके विषयमें भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इन विषयोंकी विवेचना तथा व्याख्याके फलस्वरूप शरीरविज्ञान शास्त्र और मनोविज्ञान शास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाजमें रहना पसन्द करता है। अतएव उसके अन्य मनुष्योंसे अनेक प्रकारके सम्बन्ध हो जाते हैं। इन सम्बन्धोंके अध्ययनके फलस्वरूप अनेक शास्त्रोंकी सृष्टि हुई है। जैसे समाजके संगठित रूपमें रहनेके लिए व्यवस्था एवं नियमकी आवश्यकता होती है, जिसके लिए किसी प्रकारक शासक अथवा शासकसंघ का होना आवश्यक है। इसके फल-स्वरूप राजा और प्रजा, शासक और शासित, राज्य और नागरिकोंके बीच अनेक प्रकारके कर्तव्य और उत्तरदायित्वके प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका विवेचन राजनीति शास्त्रमें किया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य और मनुष्यके बीच धर्म सम्बन्धी, भाषा सम्बन्धी, नीतिसम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न होजाती हैं जिनका अध्ययन तत्सम्बन्धी शास्त्रोंमें किया जाता है।

मनुष्यकी अनेक प्रकारकी आवश्यकताएं होती हैं जिनकी पूर्तिके लिए वह सतत प्रयत्न करता रहता है। इन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए किसान खेतोंमें और श्रमजीवी कारखानोंमें काम करते हैं। कुछ मनुष्य अध्यापनका कार्य करते हैं, कुछ चिकित्साका, कुछ व्यापारका और कुछ सरकारी नौकरीका। इन्हीं आवश्यकताओं

की पूर्तिके लिए विविध प्रकारके कल कारखानों, बैंक, रेल, जहाज़, डाक और तार इत्यादिका निर्माण हुआ है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए साधारणत: मनुष्य चिन्तित रहता है और कठिन परिश्रम तथा दौड़धूप करता है। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि मनुष्य इस विषयकी ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुआ है तथा उसने इसके अध्ययनकी चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप एक शास्त्रकी उत्पत्ति हुई, जिसे अर्थशास्त्र कहते हैं।

अर्थशास्त्रके नामही से उस विद्याका बोध होता है, जिसका सम्बन्ध 'अर्थ' अर्थात् धन, द्रव्य और सम्पत्तिसे हो। हम देखते भी हैं कि मनुष्यके समयका एक बड़ा भाग अर्थके उपार्जन और उसके द्वारा अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें व्यय होता है। जिन आवश्यकताओंकी पूर्ति अर्थ द्वारा होसकती है उनको आर्थिक आवश्यकताएं कह सकते हैं। आजकलके आर्थिक समाजमें प्राय: सभी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें अर्थकी आवश्यकता पड़ती है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि मनुष्यकी कुछ आवश्यकताएं आर्थिक होती है और कुछ अनार्थिक और तत्सम्बन्धी आर्थिक तथा अनार्थिक कार्य भी होते है। वास्तव में प्रत्येक आवश्यकता तथा कार्यका कम या अधिक मात्रा में आर्थिक पक्ष अवश्य रहता है। अतएव इन कार्यों और आवश्यकताओंसे अर्थशास्त्रका सम्बन्ध हो जाता है तभी अर्थशास्त्री को उनका अध्ययन करना पड़ता है।

मनुष्यकी आवश्यकताएं जहां अपरिमित होती है, वहीं उनकी पूर्तिके साधन परिमितभी होते हैं। अतएव मनुष्य अपनेको इस प्रकारकी परिस्थिति में पाता है जिसमें उसे यह निर्णय करना पड़ता है कि किन आवश्यकताओंकी पूर्ति की जावे और किस अंश में। हम देखते हैं कि प्रत्येक कुटुम्ब की आय सीमित होती है परन्तु उसके सामने अनेक प्रकारकी आवश्यकताएं रहती हैं, जिन सभी की तृप्ति इस सीमित आय से नहीं हो सकती क्योंकि आय का जो भाग एक आवश्यकता की पूर्ति पर व्यय किया जाता है, वह दूसरी आवश्यकताकी पूर्ति के लिए उपलब्ध नहीं रहता। अर्थात् एक आवश्यकताकी पूर्ति का अर्थ हुआ किसी दूसरी इच्छा का अतृप्त रहना। मनुष्यकी आवश्यकताओंकी पूर्ति उपभोगकी वस्तुओंसे होती है। समाजके सभी लोगों की सभी आवश्यकताओंके लिए उपभोगकी वस्तुएं पर्याप्त नहीं होती हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि इन वस्तुओंको उत्पन्न

करनेके साधन, प्राकृतिक सामग्री, पूंजी और मनुष्यों की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति सीमित है। अतएव यह एक महत्वपूर्ण समस्या है कि इन सीमित साधनोंका असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ किस प्रकार सामंजस्य किया जाय। इस समस्याको हम आर्थिक समस्या भी कह सकते हैं। यह समस्या प्रत्येक व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज के सामने है। यही समस्या अतीतकाल में भी रही है और भविष्य में भी रहेगी। यह ठीक है कि अतीतकाल की अपेक्षा वर्तमान समय में उत्पत्तिके साधनों और वस्तुओंके उत्पादन में बहुत वृद्धि हो गयी है परन्तु साथ ही साथ आवश्यकताओंकी संख्या में भी वृद्धि हुई है। अतएव समस्या ज्यों की त्यों बनी है। यह समस्या प्रत्येक प्रकार की आर्थिक पद्धति में पायी जाती है। देश में पूंजीवादी व्यवस्था हो अथवा समाजवादी, प्रत्येक व्यवस्थाको इस परिस्थितिका सामना करना पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति भिन्न भिन्न रीतियोंसे इस समस्याको सुलझाना चाहता है। पृथ्वीके अधिकांश भागमें आजकल पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था है अतएव इस पुस्तकमें प्रधानतया इसी बातकी विवेचना की जायेगी कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस समस्या का समाधान किस प्रकार किया जाता है। इस व्यवस्थाके अतिरिक्त जो अन्य प्रकार की व्यवस्थाएं प्रचलित हैं उनमें किस प्रकारसे इसका समाधान किया गया है, इसका भी संक्षेपमें विवेचन किया जायेगा।

मनुष्य अपनेको इस परिस्थिति में पाता है कि उसकी आवश्यकताएं तो अपरिमित हैं किन्तु उसके पास उनकी पूर्तिके साधन परिमित हैं। इन साधनोंमें एक विशेष गुण यह है कि इनमेंसे बहुतसे इस प्रकारके हैं जिनसे अनेक प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका कार्य लिया जा सकता है। उदाहरणके लिए भूमि एक उत्पत्ति का साधन है। भूमि पर कई प्रकारका अनाज पैदा किया जा सकता है; मकान बनाया जा सकता है; तालाब अथवा कुंआ खुदवाया जा सकता है; और भी अनेक प्रकारसे भूमिका उपयोग हो सकता है। परन्तु यदि भूमि का एक टुकड़ा किसी समय एक कार्यमें लगा दिया गया तो उसी समय उससे दूसरा कार्य नहीं लिया जा सकता। यही अवस्था श्रम और पूंजीकी भी है। ऐसी दशा में परिमित एवं विविध कार्योंके योग्य साधनों का अपरिमित आवश्यकताओंसे सामंजस्य करने में जिस प्रकारका आचरण होता है, वह मनुष्यके लिए बड़े महत्वका है, क्योंकि उसीके आधार पर इस बात का निर्णय होता है कि उसकी किन आवश्यकताओंकी पूर्ति

होसकेगी और किस अंश तक। कई आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतमें अर्थशास्त्र के विषयका मूल तत्व यही है। हम संसार में जितने आर्थिक कार्य, आर्थिक संस्थाएं और आर्थिक सम्बन्ध पाते हैं वह सब इसी मूल तत्व पर केन्द्रित हैं। एक प्रकारसे अर्थशास्त्रके विषयको इस दृष्टिकोणसे देखना ठीक भी है। किसी समस्या को समझने, सुलझाने और समाधान करनेका कार्य ही किसी भी शास्त्रका मुख्य उद्देश्य है। मनुष्य और समाजके सामने एक बड़ी विकट समस्या यह है कि वह अनेक प्रकारकी आवश्यकताओंसे घिरा हुआ है और इनमें बराबर वृद्धि हो रही है। इनकी तृप्तिके लिए वह अपने पास पर्याप्त मात्रा में साधन नहीं पाता। ऐसी परिस्थिति में वह क्या करता है और वैसा क्यों करता है, इसका विश्लेषण करना और इनको कार्य-कारणसे सम्बन्धित कर उनके साधारण व्यापार पर प्रकाश डालना एक महत्वपूर्ण विज्ञानसम्बन्धी कार्य है। अर्थशास्त्रके मूल में यही तत्व है।

• इसी परिस्थितिको हम दूसरे प्रकारसे भी देख सकते हैं। मनुष्यको जीवित रहनेके लिए वायुकी आवश्यकता है। परन्तु सौभाग्यसे प्रकृतिने वायुको इतनी प्रचुर मात्रामें प्रदान किया है कि उसके सम्बन्धमें कभी भी इस प्रकार की समस्या पैदा नहीं हुई कि 'कब' 'कहां' और 'कितनी मात्रामें' इसका प्रयोग करें। सभी वायु सम्बन्धी आवश्यकताओंकी पूर्ति करने पर भी यह बहुत परिमाणमें बची रहती है। इसलिए वायुके सम्बन्धमें कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती। यही कारण है कि वायुके लिए हमको किसी प्रकारका मूल्य नहीं देना पड़ता। जिस वस्तुको बिना प्रयास और बिना मूल्यके किसी भी मात्रामें प्राप्त किया जासके, उसको हम बिना मूल्यकी वस्तु कहेंगे। इस प्रकारकी वस्तुएं हमारे बड़े कामकी हो सकती हैं परन्तु आर्थिक दृष्टिसे इनका कोई महत्व नहीं है। अतएव इन वस्तुओंको हम आर्थिक वस्तुओंके वर्गमें नहीं रखते। मनुष्यके दुर्भाग्यसे ऐसी वस्तुओंकी संख्या बहुतही कम है। अधिकांश वस्तुओंकी मात्रा सीमित होती है और उनको प्राप्त करनेके लिए हमको स्वयं परिश्रम करना पड़ता है अथवा मूल्य देकर दूसरेसे लेना पड़ता है। प्रकृतिने सभी वस्तुओंको प्रचुरताके साथ नहीं दिया। भूमि का क्षेत्र सीमित है और कृषिके योग्य भूमि का तो बहुतही सीमित। इसी प्रकार खनिज पदार्थोंका परिमाण भी सीमित है। आवश्यकतासे कम मात्रामें होनेके कारण

इनको प्राप्त करनेके लिए श्रम अथवा द्रव्यके रूपमें मूल्य चुकाना पड़ता है। मनुष्य की बनाई हुई वस्तुएंभी सीमितही होती हैं क्योंकि उनको बनानेके साधन भी सीमित हैं। अतएव उनको प्राप्त करनेके लिए भी मूल्य देना होता है। एक प्रकारसे हम कह सकते है कि मूल्यवाली वस्तुएं ही आर्थिक वस्तुएं हैं और इन वस्तुओंके उपभोगसे जिन आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है वही आर्थिक आवश्यकताएं समझी जाती है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

आर्थिक साधनोंके परिमित होनेके कारण अनेक प्रकारके आर्थिक व्यापार उत्पन्न होजाते है। पहिला महत्वपूर्ण व्यापार उत्पत्तिके साधनोंसे भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुएं भिन्न भिन्न मात्राओंमें उत्पन्न करना है। उत्पत्तिकी इस क्रियापर राष्ट्रीय आयका परिमाण और उसका स्वरूप निर्भर करता है। आर्थिक साधनोंके समुचित प्रयोग पर आर्थिक क्रियाका स्तर निर्भर करता है। अतएव राष्ट्रीय आय कितनी है और किस प्रकार की है और इसमें किस प्रकारका परिवर्तन हो रहा है यह अर्थशास्त्रका एक महत्वपूर्ण अंग है जिसका विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। दो प्रकार की वस्तुओंका उत्पादन होता है। एक तो उपभोग्य वस्तुएं और दूसरी उत्पादक वस्तुएं। इन वस्तुओंकी उत्पत्तिकी क्रियामें जो साधन भाग लेते हैं, उनकी द्रव्यरूपी आय भी इसी क्रिया द्वारा प्राप्त होती है। इस द्रव्यरूपी आयके व्यय पर ही उत्पन्नकी हुई वस्तुओंकी मांग अवलम्बित रहती है और मांगके आधार पर उत्पत्तिका स्तर निर्भर करता है। यदि मांगमें किसी कारण कमी आ जाय तो आर्थिक साधनोंमें बेकारी, उत्पत्तिकी मात्रामें कमी और आर्थिक क्षेमका ह्रास होने लगता है। पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें इस प्रकारकी अवस्था बहुधा हो जाया करती है। इस प्रकारकी परिस्थितियां क्यों उत्पन्न हो जाती हैं और किस प्रकार इनका प्रतिकार किया जासकता है, यह आधुनिक आर्थिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण अंग हो गया है क्योंकि इसी पर राष्ट्रीय आयका और साधनोंके उपयोग का परिमाण निर्भर करता है।

दूसरा आर्थिक व्यापार जो कि प्रत्येक आर्थिक व्यवस्थामें पाया जाता है,

विनिमयका है। प्राचीनसे प्राचीन मनुष्यजाति में भी किसी न किसी मात्रामें श्रमविभाजन और विशिष्टीकरण पाया गया है। आधुनिक संसारमें तो यह विशिष्टीकरण इतना विस्तृत एवं व्यापक हो गया है कि कोई भी मनुष्य अपने उपभोग की वस्तुओंका एक छोटा भाग भी स्वयं नहीं उत्पन्न करता। लाखों करोड़ों वस्तुओंके बीच वह एक भी समूची वस्तु नहीं बनाता; केवल उसका एक नगण्य भाग बनाता है। ऐसी अवस्थामें अपनी अपनी आवश्यकताओं की तृप्तिके लिए विनिमयका कार्य आवश्यक हो जाता है। प्राचीन कालमें यह कार्य वस्तु-विनिमय की प्रथा द्वारा सम्पन्न होता था। आजकल वही द्रव्यके माध्यमसे होता है। विनिमयकी सुगमताके लिए दो बातोंका होना अति आवश्यक है। एक तो विनिमयका आधार और दूसरा उसका माध्यम। विनिमयका आधार मूल्य है और माध्यम द्रव्य। आजकल द्रव्यके रूपमें ही मूल्य प्रकट किया जाता है और द्रव्यकी सहायतासे क्रय-विक्रय होता है।

द्रव्यका परिमाण सरकार, केन्द्रीय बैंक और अन्य व्यापारी बैंकों द्वारा निर्धारित होता है। प्रगतिशील देशोंमें बैंकों द्वारा प्रचलित किये गये साखद्रव्य की ही प्रधानता है। आर्थिक पद्धतिके संगठन तथा संचालन में द्रव्यका इतना महत्व है कि इसके परिमाण, व्यय और संचयके परिवर्तनसे आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतएव द्रव्य और द्रव्य सम्बन्धी संस्थाओंके नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

द्रव्यके रूपमें वस्तुओंके जो मूल्य निर्धारित होते हैं, उन्हींके आधार पर पूंजीवादी पद्धतिमें उत्पत्तिका स्तर और स्वरूप बनता और बदलता जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता की व्यवस्थामें उत्पादक उन्हीं वस्तुओंका, उन्हीं मात्राओंमें उत्पादन करते हैं जिनसे उन्हें अधिक लाभ हो। वस्तुओंके बनानेमें जो लागत लगती है वह इन वस्तुओंके उत्पादनमें लगे साधनोंके मूल्यका ही समुच्चय है। वस्तुओंके मूल्य और लागतके अन्तर पर ही लाभकी मात्रा निर्भर करती है। अतएव उत्पादकको अपना व्यवसाय और उत्पादनकी मात्राको स्थिर करनेके लिए वस्तुओं और साधनोंके मूल्यकी जानकारी होनी चाहिए। यह मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है और इसपर किन किन बातोंका प्रभाव पड़ता है, इसका विश्लेषण अर्थशास्त्र का एक पधान अंग है। यदि हम ध्यानसे देखें तो ज्ञात होगा कि मूल्यस्तरों पर न केवल

लाभकी मात्रा निर्भर करती है अपितु उत्पत्तिके साधनोंकी नियुक्ति, राष्ट्रीय आय और व्यक्तिगत आय भी इन्हींपर निर्भर करती है।

उत्पादित आय भिन्न भिन्न मनुष्यों अथवा वर्गोंमें किस प्रकार विभक्त होती है, यहभी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि आयका जो भाग उनको मिलता है, उसीपर उनका आर्थिक क्षेम निर्भर करता है। आजकल मुख्यत: आय द्रव्यके रूपमें होती है, जिसका उपार्जन उत्पत्तिके कार्यमें सहायता देनेसे होता है। यह द्रव्यमयी आय श्रमजीवियों को पारिश्रमिक और वेतनके रूपमें और पूंजीपतियोंको ब्याज, लगान और लाभके रूपमें प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि इस आयकी मात्रा उत्पत्तिके साधनों के प्रयोग और उनके मूल्यपर अवलम्बित होती है। श्रमजीवियोंकी आयका परिमाण इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी नियुक्ति कितने समयके लिए और कितने पारिश्रमिक पर होगी। उत्पत्तिके अन्य साधनोंके मूल्यका निर्धारण भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार साधारण वस्तुओंके मूल्यका।

राष्ट्रीय आय किस प्रकार समाजमें भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गोंमें और किस अनुपात में विभाजित होती है, इसका प्रभाव केवल इन वर्गोंके क्षेमपर ही नहीं परन्तु सारी आर्थिक व्यवस्था पर पड़ता है। अनुभवसे यह ज्ञात हुआ है कि कम आयवाले अपनी आयका अधिकांश भाग उपभोगकी वस्तुएं खरीदनेमें व्यय कर देते हैं और धनी वर्ग अपनी आयका एक बड़ा भाग बचा लेते हैं। इसी बचतसे उद्योग-धन्धोंके लिए पूंजी बनती है। यदि यह बचत पूंजीके रूपमें प्रकट होती रहे और आर्थिक कार्योंमें लगती रहे तो इससे आर्थिक साधनोंको काम मिलता रहेगा और उत्पत्तिकी मात्रा और आयस्तरमें भी वृद्धि होती रहेगी। परन्तु बहुधा ऐसा होजाता है कि यह बचत पूंजीके रूपमें न लगकर संचित रूपमें बेकार पड़ी रहजाती है क्योंकि इसको लगानेसे पूंजीपतियोंको लाभकी आशा नहीं होती। बचत और इसके उपयोगके व्यवधानसे आर्थिक कार्यमें शिथिलता और मन्दी आजाती है। कुछ लोगोंका विश्वास है कि सामाजिक आयमें से यदि कम आय वाले वर्गको अधिक भाग प्राप्त हो तो उनकी व्ययशीलतासे उपभोगके पदार्थोंकी मांग बढ़ेगी, जिससे पूंजीकी उत्पादकतामें वृद्धिकी आशा बनी रहेगी, क्योंकि पूंजीवादी समाजमें आयका वितरण बहुत असमान होता है और अधिकांश बचतकी मात्रा एक छोटे वर्गके पास केन्द्रित रहती है अतएव वर्ग सम्बन्धी वितरणका इस प्रकरणमें बहुत महत्व

हो जाता है।

उत्पत्तिका चरम उद्देश्य उपभोग है। उत्पादक वस्तुओंका प्रयोजन भी उपभोग की वस्तुओंके निर्माणमें सहायता देना है। अतएव इनका मूल्य भी इनकी सहायता से निर्मित उपभोगकी वस्तुओंके मूल्य पर निर्भर करता है। उत्पादकोंको उपभोक्ताओंके लिए वस्तुएं बनानी हैं। साधारणत: पूंजीवादी व्यवस्थामें उपभोक्ताको कोई भी वस्तु किसी भी मात्रामें प्राप्त करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उपभोक्ता किस परिमाणमें किन किन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी चेष्टा करेगा इसका निश्चय अवश्यही उसकी आयके परिमाण, उसकी आवश्यकताओंकी गरिमा और आवश्यकताओंको तृप्त करने वाली वस्तुओंके मूल्य पर निर्भर करेगा। यह जानी हुई बात है कि उत्पादक वर्ग विज्ञापनों और अपने क्रय-चातुर्यसे अपनी वस्तुओंकी मांग उत्पन्न करते हैं और उनके बेचनेमें समर्थ होते हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा वही उत्पादक अपने व्यवसायमें सफल होंगे जो अपने उद्योग-धंधोंका शीघ्रतासे उपभोक्ताओंकी मांगमें होने वाले परिवर्तनोंके साथ सामंजस्य बनाये रख सकेंगे। इस प्रकरणमें एक गूढ़ विषयकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है कि किस प्रकार उत्पत्ति और उपभोगकी क्रियाएं एक साथ गुथी हुई हैं। उत्पत्ति की क्रियासे आयका सृजन होता है। इस आयका साधनोंके स्वामियोंमें वितरण होता है। इसके फलस्वरूप भिन्न भिन्न वस्तुओंकी भिन्न भिन्न मात्रामें मांग होती है और इसके आधार पर पुन: उत्पत्तिकी क्रिया निर्भर करती है।

आधुनिक कालमें कोईभी देश स्वावलम्बी नहीं रह सकता। भारतवर्ष बहुतसी वस्तुएं दूसरे देशोंसे मोल लेता है और अपनी वस्तुओंको दूसरे देशोंमें बेचता है। इसके अतिरिक्त एक देशकी पूजीभी दूसरे देशमें लगी होती है। इस प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धोंके कारण आयात-निर्यात, विदेशीविनिमय, लेनदेन का असन्तुलन इत्यादि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जिनका विवेचन और विश्लेषणभी अर्थशास्त्रके अन्तर्गत होता है।

प्रत्येक देशकी सरकारभी उसकी आर्थिक पद्धतिका महत्वपूर्ण अंग होती है। अपनी कर-व्यय-ऋणनीति एवं आर्थिक विधानों द्वारा वह उत्पत्तिकी मात्रा और उसके स्वरूप, राष्ट्रीय आय और उसके वितरणमें बहुत प्रभाव डाल सकती है। अतएव राजस्वनीति सम्बन्धी सभी कार्य अर्थशास्त्री के अध्ययनके विषय होजाते हैं।

आर्थिक विश्लेषण की रीतियां

हमने देखाकि अर्थशास्त्रके अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण समस्याएं हैं। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार इन समस्याओंका विश्लेषण करके उनके कार्यकारण सम्बन्ध की खोज की जाय और किस प्रकार उनके अन्तर्गत नियमोंका ज्ञान प्राप्त किया जाय। कुछ विज्ञान ऐसे हैं जिनके विषयोंका अध्ययन और विश्लेषण प्रयोग-शालाके अन्दर वातावरणको अनुकूल बनाकर अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों को नियन्त्रित करके कियाजा सकता है। उदाहरणके लिये रसायनशास्त्र में विविध रसायनोंका अलग अलग सम्मिश्रण करके नियन्त्रित वातावरणमें उनका प्रभाव देखा जासकता है। अर्थशास्त्रीकी समस्याएं इस प्रकारकी हैं जिनका अध्ययन नियन्त्रित वातावरणमें किसी प्रयोगशालाके अन्दर नहीं होसकता। यहभी सम्भव नहीं होता है कि अन्य व्यवधानोंको हटाकर किसी एक कारणके प्रभावका अध्ययन किया जा सके। उदाहरणके लिए यदि हम यह जानना चाहें कि चीनीके मूल्यमें वृद्धि होनेसे इसकी मांग और उत्पत्तिपर क्या प्रभाव पड़ताहैतो यह सम्भव नहीं है कि हम उन सब अन्य कारणों को हटा सकें जिनका चीनीकी मांग एवं उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है जिसस केवल चीनीके मूल्यकी वृद्धिका प्रभाव अलगसे ज्ञात होसके। यदि मांग घट गई, तो हम यह नहीं कह सकते कि यह कमी केवल मूल्यकी वृद्धिके कारण हुई है। मांगकी कमीके और भी कारण होसकते हैं जिनका प्रभावभी सम्भव है उसी समय पड़ रहा हो जबकि चीनीके मूल्यमें वृद्धि हुई है। उदाहरणके लिए, कल्पना कीजिये, डाक्टरों ने चायमें कोई ऐसी बात ढूंढ निकाली जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता हो, जिसके कारण लोग धीरे धीरे चायका प्रयोग कम कर रहे हों। अत: चीनीकी मांग गिरने लगी हो। अब चूंकि दोनों कारण साथ साथ चल रहे हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि मांगकी कमी पर किस कारणका कितना प्रभाव पड़ रहा है। यदि मांगकी कमीके दो ही कारण होते तो भी हम चाय पीनेवालोंको अलग कर मूल्यकी वृद्धिका प्रभाव चाय न पीनेवाले मनुष्योंकी मांगके परिवर्तनके आधार पर निश्चित करनेमें बहुत कठिनताका अनुभव करते। परन्तु मांगको प्रभावित करनेवाले अन्य बहुतसे कारण होसकते हैं जिनका प्रभाव हम नहीं रोक सकते। वास्तव में अर्थशास्त्र काविषयही ऐसा है जिसमें हम स्वाधीन मनुष्योंके

व्यवहार और कार्योंका अध्ययन करते हैं अतएव यह असम्भव है कि हम उनको प्रयोगशालामें नियन्त्रित कर उनपर कार्यकारण सम्बन्धी प्रयोग करें। यही कारण है कि अर्थशास्त्रीकी प्रयोगशाला कोई कमरा नहीं वरन् सारा जगत् है।

आर्थिक विश्लेषण की एक रीति, जो ऐतिहासिक रीति कही जाती है, यह है कि हम पूर्वघटित आर्थिक घटनाओंके आधार पर उन आर्थिक नियमोंको खोज निकालें जिनसे ये घटनाएं समझाई जा सकें। आर्थिक घटनाएं नित्य ही घटती रहती हैं। यदि हम किसी विशेष प्रकार के घटनासम्बन्धी नियम जानना चाहें तो भिन्न भिन्न समयोंमें घटित उस प्रकारकी घटनाके क्रम का अध्ययन तथा विश्लेषण करके उसमें कार्यकारण सम्बन्धके खोजनेका प्रयत्न कर सकते है। उदाहरण के लिए यदि अनेक बार हमको दिखायी दे कि जब जब भी चीनीके मूल्यमें वृद्धि हुई है तभी चीनीकी मांगमें कमी पायी गयी है, तो इससे यह परिणाम निकाला जासकता है कि मूल्य की वृद्धिक कारण मांगमें कमी हुई है और उसी आधार पर हम कह सकते है कि यदि भविष्यमें भी मूल्यमें वृद्धि होगी तो मांगमें कमी आ जायेगी। पूर्वघटित घटनाओं का विवरण आंकड़ोंके रूपमें इकट्ठा किया जाता है। अनेक आर्थिक घटनाएं आंकड़ोंमें मापी जा सकती हैं जैसे मूल्य, उत्पत्ति, मांग, कर, ब्याज की दर, बेकारी इत्यादि। यदि घटनाओंसे संलग्न आंकड़े ऐतिहासिक क्रम से इकट्ठा किये जायें और इनमें असम्बद्ध घटनाओंको छोड़कर सम्बद्ध घटनाओंके आधार पर पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात किया जाय तो इनका समान धर्म निर्धारित किया जा सकता है। इस रीति का प्रयोग सरल नहीं है और इसके आधारपर प्राप्त नियमोंकी अवश्यम्भाविता भी सन्देहजनक है। कोई भी ऐतिहासिक घटना तत्कालीन परिस्थितियोंसे संलग्न रहती है। कोई भी घटना भिन्न भिन्न कालोंमें एक ही परिस्थितिमें नहीं वरन् भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें घटित होती है। अतएव उसके सम्बन्धमें जो सामान्य धर्म हम स्थापित करते हैं वह पूर्णरूप से लागू नहीं होगा क्योंकि संलग्न परिस्थतियां एक ही प्रकारकी नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त दो घटनाएं एकके पीछे एक घट रही हैं इससे हम यह तात्पर्य नहीं निकाल सकते कि वे कार्यकारणसे अवश्यही सम्बन्धित हों। वे पूर्णत: स्वतन्त्र हो सकती हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है कि वे दोनों घटनाएं किसी तीसरी घटनासे प्रभावित हो रही हों।

एक और रीतिका भी प्रयोग किया जाता है जिसको आनुमानिक रीति कहते हैं। यह सर्वविदित है कि वास्तविक आर्थिक घटनाएं बहुत गहन, पेचीली और उलझी होती हैं जिससे उनका पूर्ण रूपसे विश्लेषण करना बहुत ही कठिन कार्य है। अतएव विश्लेषणके लिए अर्थशास्त्री आर्थिक परिस्थितिको काल्पनिक रूपसे सरल बनानेकी चेष्टा करता है। इस कल्पित आर्थिक व्यवस्थामें वह कुछ बातोंको स्वयंसिद्ध मान लेता है। उदाहरणके लिए मनुष्य आर्थिक कार्योंको अपने लाभके उद्देश्यसे करता है, आर्थिक व्यवहारोंमें पूर्ण स्पर्द्धा पायी जाती है इत्यादि। इन अनुमानोंके आधार पर वह तर्क द्वारा नये नये परिणाम निकालता है। अब ये नये परिणाम वास्तविक जगत्में कहां तक लागू होंगे, यह इस बात पर निर्भर है कि उसकी कल्पनाएं वास्तविक स्थितिसे कितनी भिन्न हैं। यदि वास्तविक स्थितियों में कल्पित स्थितियोंसे अधिक विभिन्नता न हो तो हम कह सकते हैं कि जो परिणाम काल्पनिक स्थितियोंके आधार पर प्राप्त किये गये हैं, वे वास्तविक जगत् में भी ठीक उतरेंगे। यदि ऐसा नहीं है तो वास्तविक जगत् में ये परिणाम पूर्णरूप से लागू नहीं होंगे। उदाहरणके लिए, यदि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाके आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचें कि अमुक वस्तु का अमुक मूल्य होगा और यदि वास्तविक संसारमें अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो तो हमारा परिणाम ठीक नहीं उतरेगा। यह नहीं समझना चाहिए कि वास्तविक जीवन इन कल्पित अवस्थाओंसे भिन्न है अतएव इस आनुमानिक रीतिका कोई महत्व नहीं है। एक मिश्रित और पेचीली स्थिति का विश्लेषण करनेके लिए इस रीतिका प्रयोग बहुधा सुविधाजनक होता है। एक सरल आर्थिक प्रतिरूप कल्पितकर उसके आधारपर कुछ परिणाम निकाले जाते हैं और क्रमशः इस कल्पित प्रतिरूपमें वास्तविकता का समावेश करके उनमें संशोधन कियाजा सकता है। यह भी नहीं समझना चाहिए कि जिन अर्थशास्त्रियों ने इस विधिका प्रयोग किया है वे वास्तविकतासे अनभिज्ञ थे। हां, इस बातको पूर्णरूप से ध्यानमें रखना चाहिए कि आनुमानिक आधार पर जो कार्य-कारण शृंखलाका प्रतिपादन किया जाता है उसकी वास्तविकता और यथार्थता तभी प्रमाणित होसकती है, जब कि वे कल्पनाएं वास्तविकतासे अधिक दूर न हों।

व्यवहारमें अर्थशास्त्रीको अपने विषयको समझनेमें और उसके विश्लेषणमें इन सभी रीतियोंकी आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक रीतिका महत्व इसलिए है कि

इसके प्रयोगमें हम वास्तविकताके साथ चलते हैं और उसके आधार पर ही सामान्य धर्म जाननेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु आर्थिक विषयोंकी गम्भीरता और जटिलता के कारण प्रत्येक अवस्थामें इस रीतिका प्रयोग सम्भव नहीं होता। अतएव हमको आनुमानिक रीतिका आश्रय लेना पड़ता है। इस रीतिके आधार पर जो परिणाम प्राप्त किये जातेहैं उनकी यथार्थताकी परीक्षाके लिए हमको उन्हें वास्तविकता की कसौटी पर कसना पड़ता है।

आर्थिक क्षेम

जब मनुष्य किसी विषयका अध्ययन एवं विश्लेषण करता है तो उसका कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। एक उद्देश्य तो उस विषयका ज्ञान प्राप्त करना, उसके विविध अंगों-प्रत्यंगोंका अध्ययन करके उनके कार्य-कारण पर प्रकाश डालना और तत्सम्बन्धी सामान्य धर्म खोज निकालना है। इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए उसे अनेक प्रकारकी वैज्ञानिक रीतियों और प्रयोगोंको काममें लाना पड़ता है। परन्तु हमारा उद्देश्य केवल ज्ञानप्राप्ति ही नहीं होसकता। इस जगत्में केवल ज्ञानही से हमारा काम नहीं चलता। हमको कर्म करने पड़ते हैं। ज्ञान प्राप्त करनेकी मनोवृत्ति, अवकाश तथा साधन केवल कुछही लोगोंको उपलब्ध होते हैं परन्तु कर्म सभीको करने पड़ते है क्योंकि बिना कर्म किये हम अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सकते। योंतो थोड़ा बहुत प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यके विषयमें जानता ही है, परन्तु प्रत्येक मनुष्यको उसका पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतएव ऐसे लोगोंके कार्य उतनी उत्तमतासे नहीं होसकते जितनी कि तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्तिसे होसकते हैं। यदि हमें किसी विषयका ज्ञान होजाये तो उस विषय सम्बन्धी कार्योंको हम अधिक सुगमता से और अच्छे ढंगसे करसकते हैं। अतएव प्राप्त ज्ञानका व्यवहारमें प्रयोग होना चाहिए। उदाहरणके लिए, यदि मनुष्यको शरीरके अवयवों, उनके कार्यों और सम्बन्धोंका ज्ञान प्राप्त हो तो व्यवहारमें उस ज्ञानसे शारीरिक व्याधियोंको दूर अथवा कम करनेमें उसको सुविधा होगी।

आर्थिक क्षेत्रमें जो कार्य किये जाते हैं उनका उद्देश्य अन्ततोगत्वा आवश्यकताओं की पूर्ति कर आर्थिक क्षेमको बढ़ाना है अतएव इस क्षेत्रके अध्ययन और विश्लेषण

से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उससे आर्थिक क्षेमकी वृद्धिमें सहायता मिलने की भावना होना स्वाभाविक है। जिन विज्ञानोंका सीधा सम्बन्ध मानव समाज से है और विशेषकर जो मनुष्यकी आर्थिक आवश्यकताओंसे सम्बन्धित हैं उनको तो अर्थ-शास्त्रके कार्यक्षेत्रमें बहुत महत्व प्राप्त है। अतएव अर्थशास्त्रीको अपने ज्ञानके प्रकाशसे आर्थिक क्षेमकी वृद्धिके लिए सरकारको, अन्य संस्थाओंको और व्यक्तियों को उचित आर्थिक नीतिका अवलम्बन करनेमें सहायता देनी चाहिए।

अर्थशास्त्र और विज्ञान

कभी कभी यह प्रश्न किया जाता है कि अर्थशास्त्रको विज्ञान कहना चाहिए अथवा नहीं। वास्तवमें यह प्रश्न ठीक नहीं है। जब हम आर्थिक परिस्थितियों, कार्यों और सम्बन्धोंका वैज्ञानिक रीतियोंसे अध्ययन और विश्लेषण करते हैं और उनके आधारपर कार्य-कारणके सम्बन्धोंका ज्ञान करते हैं और तत्सम्बन्धी नियमोंका प्रति-पादन करते हैं तो निश्चय ही हम इस विद्याको विज्ञान द्वारा सम्बोधित करेंगे। हो सकता है कि हमारा विज्ञान अनेक कठिनाइयोंके कारण अभीतक उच्च स्तर तक न पहुँच सका हो। परन्तु हमारा लक्ष्य और ध्येय यही है। अर्थशास्त्रको इससे भी कोई प्रयोजन नहीं कि हमारी आवश्यकताएं अच्छी हैं अथवा बुरी और हमारा लक्ष्य वांछनीय है अथवा अवांछनीय। अर्थशास्त्री तो वास्तवमें जो आर्थिक कार्य हो रहे हैं और जो आर्थिक सम्बन्ध पाये जाते हैं उनका ही अध्ययन और विश्लेषण करता है और उनके विषयमें ही सामान्य धर्म का प्रतिपादन करता है। मनुष्यको मदिरापान करना चाहिए अथवा नहीं, उसको अधिक द्रव्य भोजनमें व्यय करना चाहिए अथवा सिनेमामें, इनका उत्तर अर्थशास्त्रकी परिधिके बाहर है। इसका उत्तर सम्भवत: नीति शास्त्र देसके। अर्थशास्त्री देखता है कि लोग मदिरा पीते हैं, उसके लिए मूल्य देनेको तत्पर हैं अतएव उत्पादकोंको मदिरा उत्पादन करनेमें लाभ की आशा होती है और उत्पत्तिके कुछ साधन मदिरा बनानेके काममें आते हैं जिस के फलस्वरूप यह साधन अन्य आवश्यकताओंको तृप्त करनेके लिए प्राप्त नहीं होते। इस प्रकारकी परिस्थितियोंका अर्थशास्त्री अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र विज्ञान तो अवश्य है, परन्तु अन्य विज्ञानोंकी अपेक्षा इसका सम्बन्ध

कार्यक्षेत्रसे अधिक है। ऐसा होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि इसका विषय ही इस प्रकार का है। अर्थशास्त्रके विषयको अच्छी तरह समझकर और उसका मनन कर जो क्रियायें की जायेंगी उनसे आर्थिक क्षेममें वृद्धि होनेकी सम्भावना है। यही कारण है कि इंगलैंडके विद्वान अर्थशास्त्री प्रोफ़ेसर पीगू ने कहा है कि अर्थशास्त्री इस प्रकारके विज्ञानकी वृद्धिकी चेष्टा करेगा जो कि क्रियाका आधार बन सके।

अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

इस अध्यायके आरम्भमें ही लिखा जा चुका है कि भिन्न भिन्न विषयोंके अध्ययनके फलस्वरूप भिन्न भिन्न शास्त्रोंकी सृष्टि हुई है। परन्तु वास्तवमें इन सभी विषयों और तत्सम्बन्धी शास्त्रोंमें पृथकता नहीं है। सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें, कम या अधिक मात्रामें एक दूसरेसे सम्बन्धित है। अर्थशास्त्रका सम्बन्ध मनुष्यों के एक विशेष प्रकारके व्यवहार एवं आचरणसे है परन्तु इस व्यवहार एवं आचरणके लिए मनुष्य अपनेको अन्य परिस्थितियोंसे अलग नहीं कर सकता। इस प्रकरणमें अर्थशास्त्रसे केवल उन्हीं शास्त्रोंके सम्बन्धकी विवेचना, संक्षेपमें की जायेगी जो उसके अधिक निकट हैं।

अर्थशास्त्रका समाजशास्त्रसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्रका एक भाग है क्योंकि दोनोंके विषय और क्षेत्र अलग अलग हैं। परन्तु चूंकि आर्थिक कार्य एवं सम्बन्ध सामाजिक पद्धति, वर्गीकरण, संस्थाओं, विचारों और व्यवहारोंसे प्रभावित होते हैं अतएव अर्थशास्त्रीको समाज सम्बन्धी विषयोंकी जानकारी होना आवश्यक है। इस प्रकार मानव शास्त्र से भी अर्थशास्त्र सम्बन्धित है। भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न भिन्न प्रकारकी संस्कृतियोंमें मनुष्यका अध्ययन मानव शास्त्र का विषय है। इस विषयके अध्ययनसे अर्थशास्त्रीको प्राचीन, आर्थिक संस्थाओं और सम्बन्धोंको समझनेमें सहायता मिल सकती है। राजस्व शास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्रको जोड़ता है। राज्यका विधान किस प्रकार का है, आर्थिक क्षेत्रमें राज्यकी क्या नीति है और राज्य किस प्रकार आर्थिक कार्योंका नियन्त्रण करता है, राज्यकी कर-व्यय-ऋणनीति क्या है, इनका आर्थिक स्थिति और क्रियाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक क्षेमसे नीति शास्त्रका विशेष

सम्बन्ध है। माना कि अर्थशास्त्रीको, क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए, इस विषयसे विशेष प्रयोजन नहीं होता है फिरभी अनेक आर्थिक नीतियां और विधान नीतिशास्त्रकी उक्तियों परही आश्रित रहती हैं। उदाहरणके लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक न्यूनतम जीवनस्तरको सुरक्षित करना, सन्तोषजनक पारिश्रमिक देना, सामाजिक बीमा करना, सम्पत्तिके वितरणमें असमानता कम करना; इस प्रकारके सभी कार्य अधिकतर नीतिशास्त्रसे सम्बन्धित हैं। मनोविज्ञानसे भी अर्थशास्त्रका सम्बन्ध है। उपयोगिताकी प्राप्ति, लाभकी आशा, निराशा, उपयोग और बचत करनेकी प्रवृत्ति इस प्रकारकी मनोवृत्तियोंका आर्थिक कार्यों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

अर्थशास्त्र के नियम

प्राय: कहा जाता है कि अर्थशास्त्रके नियम प्राकृतिक विज्ञानोंमें प्रतिपादित नियमोंके समान अनिवार्य नहीं होते हैं अर्थात् अर्थशास्त्रके नियमोंसे हमको इस प्रकारकी आशा नहीं करनी चाहिए कि वे सभी काममें और सभी परिस्थितियोंमें चरितार्थ होंगे। परन्तु यदि हम इस विषयके मूलमें जायें तो पता चलता है कि इस प्रकारका आक्षेप ठीक नहीं है। अर्थशास्त्रके नियम अन्य विज्ञानोंके नियमोंके समान ही हैं। किसी भी नियमसे यही बोध होता है कि किन्हीं दीगयी परिस्थितियोंमें किस परिणामकी आशा करनी चाहिए। यदि यह आशा पूरी नहीं होरही है तो अवश्यमेव परिस्थितिमें बदलाव होगया होगा। उदाहरणके लिए बाज़ारका एक नियम है कि यदि किसी वस्तुके परिमाणमें वृद्धि होजाये तो उसका मूल्य गिरने लगेगा। अब यदि वस्तुके परिमाणमें वृद्धि होगई और फिरभी मूल्य नहीं गिरा तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि नियम अशुद्ध है। यह नियम चरितार्थ इसलिए नहीं होरहा होगा कि सम्भव है परिस्थितियोंमें अन्तर पड़ गयाहो। होसकता है मांगभी उसी अनुपातमें बढ़ गयी हो जिस अनुपातमें बाज़ारमें पूर्ति बढ़ी है। अथवा बढ़े हुए परिमाणको बाज़ारमें न रखकर उत्पादक अथवा व्यापारी संग्रह कर रहे हों।

अर्थशास्त्रके और प्राकृतिक नियमोंके भेद करनेका प्रधान कारण होसकता है यह रहाहो कि प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धी नियमोंकी प्रयोगशालामें परीक्षा की

जासकती है, जहां परिस्थितियां नियन्त्रित की जासकती हैं। जैसा कि पहिले बताया जाचुका है कि अर्थशास्त्री की प्रयोगशाला किसी कमरेके भीतर सीमित नहीं की जासकती और न आर्थिक परिस्थितियां ही इच्छानुकूल बनायी जासकती हैं। अतएव आर्थिक नियमोंकी परीक्षा करनेके लिए हमको सदैव इस प्रकारकी शुद्ध परिस्थितियां प्राप्त नहीं होतीहैं जिनमें वह नियम पूर्णरूप से चरितार्थ होसके। यही कारणहै कि आर्थिक नियमोंके प्रतिपादनमें प्राय: 'जब अन्य बातें यथावत् रहें' यह वाक्य जोड़ दिया जाता है।

२

आवश्यकताएं

उपभोग का महत्व

हम चारों ओर मनुष्यको अनेक प्रकारके कार्योंमें व्यस्त पाते हैं। कोई खेतमें, कोई कारखानेमें, कोई व्यापारमें, कोई दफ़्तरमें और कोई किसी अन्य व्यवसायमें लगा दिखायी देता है। इसका प्रधान कारण यह है कि साधारणत: मनुष्य इसी प्रकारके कार्यों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करसकता है। आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए विविध प्रकारकी वस्तुओं और सेवाओंका उपभोग करना पड़ता है। उपभोग शब्दका सम्बन्ध उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्तिसे है। कुछ वस्तुएं ऐसीहैं जिनका अस्तित्व एकही बारके उपभोगसे, कमसे कम वाह्य रूपमें तो समाप्त होजाता है—रोटी, फल, कोयला इस प्रकारके उदाहरण हैं; और कुछ वस्तुएं टिकाऊ होती हैं। इनका अस्तित्व एवं उपयोगिता दीर्घकाल तक बनी रहती है। कपड़ा, फ़र्निचर, रेडिओ इसके उदाहरण हैं। वस्तुओंके उपभोगसे हम वस्तुओंकी उपयोगिता प्राप्त करते है। यदि किसी वस्तुकी उपयोगिता उपभोक्ताकी आवश्यकताकी पूर्तिके बिना नष्ट होजाये तो उसको उपभोग नहीं कहा जायेगा। ऐसी स्थितिमें हम कहेंगे कि वह वस्तु नष्ट होगयी। उदाहरणके लिए बाढ़, भूचाल, आंधी, अग्नि आदि प्रकोपोंसे जो विनाश होताहै उसको उपभोग नहीं कहा जाता। उपभोगसे किसी आवश्यकतांकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। आवश्यकता अच्छी है अथवा बुरी, इसका प्रश्न नहीं है। कैसीभी आवश्यकताहो, यदि किसी वस्तु अथवा सेवा द्वारा उसकी पूर्ति होजाये तो ऐसी स्थितिमें उपभोग शब्द प्रयोग किया जाता है।

आवश्यकताएं और उनकी विशेषताएं

हम देखते हैं कि मनुष्यको अनेक प्रकारकी वस्तुओं एवं सेवाओंकी आवश्यकता

होती है। जन्मसे मरण पर्यन्त इन आवश्यकताओंसे छुटकारा नहीं मिलता। चाहे मनुष्य वनमानुषकी अवस्थामें हो अथवा आधुनिक सभ्यताके नये युगमें, आवश्यकताएं उसको घेरे रहती हैं। हां यह अवश्यहै कि सभी मनुष्योंकी सभी अवस्थाओं में एकही प्रकारकी आवश्यकताएं नहीं होतीं। जब मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करता था तो उसकी आवश्यकताएं केवल उदर-पूर्ति तकही सीमित थीं। ज्यों ज्यों वह सभ्यताकी ओर अग्रसर होता गया, उसकी आवश्यकताओं की संख्यामें वृद्धि होती गयी। कहा जाताहै कि सभ्यताका विकास और आवश्यकताओं की वृद्धि साथ साथ चली आयी हैं। आधुनिक कालमें तो आवश्यकताओं का कोई अन्त ही नहीं दिखायी पड़ता। साधारणत: मनुष्य अपनेको इनके बोझसे दबा हुआ पाता है। प्रारम्भिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त, जिनकी पूर्ति जीवन-रक्षाके लिए अनिवार्य है, जैसे अन्न, वस्त्र, मकान, आधुनिक कालमें सांस्कृतिक और भोगविलास सम्बन्धी आवश्यकताओं की बहुत वृद्धि हुई है। इन्हीं बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए आर्थिक साधनों, कार्यों और सम्बन्धोंकी भी वृद्धि हुई है।

आवश्यकताओंमें अनेक प्रकारकी विशेषताएं दिखायी देती है।

(१) आवश्यकताओं की संख्या अपरिमित है। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जिसकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति होगयी हो। धनी से धनी मनुष्यको भी यही प्रतीत होताहै कि यदि उसके पास और अधिक धन होता, तो वह और अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता अथवा इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति विशेष प्रकारसे कर पाता। आवश्यकताएं सदैव प्रत्यक्ष नहीं रहती हैं। जैसेही किसी प्रबल आवश्यकताकी पूर्ति हुई, दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार मनुष्यके आर्थिक और आय स्तरमें वृद्धि होनेके कारणभी अनेक प्रकारकी आवश्यकताएं उत्पन्न होजाती हैं। एक साधारण आवश्यकताकी पूर्तिके लियेही अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। उदाहरणके लिए उदर-पूर्ति का काम रूखे सूखे भोजनसेभी चल सकता है, परन्तु मनुष्यकी तृप्ति इस प्रकारके भोजनसे नहीं होती। वह बढ़िया और स्वादिष्ट भोजन चाहताहै साथही समय समयपर उसमें परिवर्तनभी चाहता है। इसी प्रकार सर्दी-गर्मीसे शरीरकी रक्षाके लिए उसे वस्त्रोंकी आवश्यकता होती है। काम तो साधारण वस्त्रोंसे भी चल

जाता है, परन्तु मनुष्यको इससे सन्तोष कहां होता है। उसको तो बढ़िया और विविध प्रकारके वस्त्र चाहिए, घूमनेके लिए अलग, सोनेके लिए अलग, खानेके और खेलनेके लिए अलग। इसी विविधता और विलासिताके समावेशसे एक सरल सी आवश्यकताभी दुरूह बन जाती है।

पाश्चात्य देशोंकी विचार-धाराके अनुसार इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप ही सभ्यताकी वृद्धि हुई है। यदि मनुष्य सन्तोषी होकर हाथपर हाथ रखकर बैठ जाता तो सुख, आराम और विलासकी अनेक सामग्रियां जो हम अपने चारोंओर देखते हैं, कहांसे उपलब्ध होतीं। यह बात हमकोभी मान्यहै कि मनुष्यके शारीरिक एवं मानसिक सुख-सन्तोषके लिए विविध प्रकारकी वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। अपनी वर्तमान अवस्थासे असन्तोषके कारणही वह उद्यम एवं उद्योग करनेको प्रेरित होताहै जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके आविष्कार होते हैं, जिससे मनुष्यकी आर्थिक अवस्थामें विकास होता है। यदि सन्तोषावस्था मनुष्यको आलसी और निष्क्रिय बनाने लगे तो इस प्रकारका सन्तोष उसके और समाजके लिए हितकर न होगा। वह असन्तोष जो मनुष्यको अग्रसर होनेके लिए प्रेरित करता है, वांछनीय समझा जाना चाहिए।

(२) हमने बताया कि कोईभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी एक आवश्यकता की पूर्णरूप से पूर्ति नहीं करसकता। आवश्यकताओं की एक विशेषता यह है कि किसी विशेष समय में किसी विशेष वस्तुकी आवश्यकता की पूर्णरूप से पूर्ति की जासकती है। इसका कारण यहहै कि जैसे जैसे आवश्यकताकी पूर्तिके साधन हमारे पास बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे उस आवश्यकताकी तीव्रता घटती जातीहै और अन्तमें ऐसा समय आजाता है कि वह आवश्यकता उस समय बिल्कुल शान्त होजाती है। इसका उदाहरण हम भोजनकी आवश्यकतासे देसकते हैं। भूखकी सीमा होती है जैसे जैसे भोजनकी सामग्री हमें अधिक मात्रामें प्राप्त होती जातीहै, वैसे वैसे भूख मिटती जाती है। जब पेट भर जाताहै तो भोजनकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार परिमाणके साथ प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और पर्याप्त मात्रामें उस वस्तुकी प्राप्ति होने पर उसकी आवश्यकताकी पूर्णरूप से पूर्ति होजाती है। अर्थशास्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त जिसे 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रासनियम' कहते हैं, आवश्यकताओं

की इसी विशेषता पर आधारित है। इस नियमका विवेचन आगे चल कर किया जायेगा।

(३) आवश्यकताओंकी आपसमें प्रतिस्पर्द्धा रहती है। इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्यके पास एकसाथ सभी आवश्यकताओं की पूर्तिके साधन नहीं होते। इसलिए उसको निर्णय करना पड़ताहै कि किस आवश्यकता की पूर्ति किस अंश तक कीजाये। इसका उदाहरण हमको अपने नित्यके व्यवहारमें मिलता है। यदि किसी विद्यार्थीको एक पुस्तक और एक कोट की आवश्यकता है और उसके पास एकही वस्तुको खरीदनेके लिए धनहै तो इन दो आवश्यकताओं में होड़ होगी और विद्यार्थीको इनमेंसे एकको चुनना पड़ेगा यदि वह कोट खरीदता है, तो उसे किताब से वंचित रहना पड़ेगा।

(४) आवश्यकताएं विकल्पितभी होती हैं अर्थात् किसी आवश्यकताकी पूर्ति अनेक वस्तुओंसे होसकती है। ये वस्तुएं एक दूसरेकी स्थानापन्न होसकती हैं। उदाहरणार्थ भूख-निवारणके लिये गेहूं, जौ चना अथवा बाजरेकी रोटी खायी जासकती है। कुछ अंशोंमें एक अन्न दूसरे अन्नका स्थानापन्न होसकता है। यदि गेहूंका मूल्य बढ़जाय तो लोग जौ, चना इत्यादि अन्नोंको काममें लाने लग जायेंगे। यदि एक आवश्यकता दो वस्तुओंमें से किसी एकसे सन्तुष्ट की जासकती है तो लोग उस वस्तुको खरीदेंगे, जिसका मूल्य कम होगा। इस प्रकारकी वस्तुओंमें बहुत अधिक मात्रामें प्रतिस्पर्द्धा होती है। उत्पादनके कार्यमें भी कई साधन ऐसे होतेहैं जो एक दूसरेके स्थानापन्न होसकते है। उत्पादक को प्रायः यह विचार करना पड़ता है कि वह मज़दूरोंकी संख्यामें वृद्धि करे अथवा मशीनों की। इस प्रवृत्तिके आधार पर प्रतिस्थापन सिद्धान्त बना है। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस सिद्धान्त का प्रयोग अर्थशास्त्रके सभी भागोंमें होता है।

(५) आवश्यकताएं एक दूसरेकी पूरक भी होती है। किसी एक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अनेक वस्तुओंकी एकसाथ आवश्यकता होतीहै, जैसे टेनिस खेलनेके लिये बल्ला, गेंद, जाल और परदों की एकसाथ आवश्यकता होती है। इन सबके सहयोगसे ही टेनिस खेलनेकी आवश्यकता की पूर्ति होसकती है। इस प्रकार विशेष रूपसे सम्बन्धित वस्तुओंमें से किसी एकके मूल्यमें परिवर्तन होनेसे तत्सम्बन्धी वस्तुओंकी मांग में एवं उनके मूल्यमें भी परिवर्तनकी सम्भावना रहती है।

(६) किसी मनुष्य अथवा परिवारकी विविध आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए जो वस्तुएं नित्य व्यवहारमें लाई जाती हैं, उन सबसे मिलकर उस मनुष्य अथवा कुटुम्बका जीवन-स्तर निर्धारित होता है। इन वस्तुओंके उपभोगका स्वभाव पड़ जाताहै, जिसमें बहुत धीरे धीरे परिवर्तन होता है। इसी प्रकार अनेक वस्तुओंका प्रयोग लोकाचारसे होता है। इनमेंभी परिवर्तन धीरे धीरे होता है। इस प्रवृत्तिसे वस्तुओंके उपभोग और उनकी मांगमें कुछ अंश तक स्थिरता आजाती है, जिससे उत्पादन कार्यमें भी उसी सीमा तक स्थिरता आजाती है।

उपयोगिता

जब हम यह कहतेहैं कि हमारी अमुक आवश्यकता है तो उससे किसी वस्तुका अभाव सूचित होता है। यदि वह वस्तु पर्याप्त मात्रामें प्राप्त होजाती है तो अभाव दूर होजाता है और हम कहते हैं कि इस आवश्यकता की पूर्ति होगयी। वस्तुओं और सेवाओंके उपभोगसे हमको जो तृप्ति होतीहै उसको मापनेके लिये उपयोगिता शब्दका प्रयोग किया जाता है। तृप्ति एक मानसिक अवस्थाहै जिसका विश्लेषण बहुतही कठिन कार्य है। किसी एकही मनुष्यको भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें एकही वस्तुसे भिन्न भिन्न मात्रामें तृप्ति मिलती है, जिनकी माप करना एवं उनकी तुलना करना सुगम नहीं होता। अन्य मनुष्योंको किसी वस्तु अथवा सेवासे किस मात्रामें तृप्ति मिलतीहै, इसका ज्ञान होना तो अत्यन्त दुष्कर है। फिरभी इस कार्यके लिये किसी प्रकारका वाह्य मापदंड काममें लाना अनिवार्य होजाता है।

किसी मनुष्यको एक वस्तुके उपभोगसे कितनी मात्रामें तृप्ति प्राप्त होतीहै इस का निरपेक्ष रूपमें तो अनुमान नहीं होसकता किन्तु विविध वस्तुओंके उपभोगसे उस को जो सापेक्ष तृप्ति मिलनेकी सम्भावना रहतीहै उसका अनुमान किया जासकता है। यदि दो वस्तुओंका मूल्य समानहो और कोई व्यक्ति उन दोनोंमें से एकको खरीदताहै तो इससे प्रकट होताहै कि वह दूसरी वस्तुकी अपेक्षा उस वस्तुके उपभोग से अधिक मात्रामें तृप्तिकी आशा करता है। किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिए मूल्य देना पड़ता है। उस मूल्यसे अन्य वस्तुएंभी प्राप्त होसकती हैं। जब कोई व्यक्ति एक वस्तु खरीदताहै तो वह उससे प्राप्त होनेवाली तृप्तिकी तुलना उन

वस्तुओंसे प्राप्तहोनेवाली तृप्तिसे करताहै जो उसने नहीं खरीदीं। इस प्रकार हम देखतेहैं कि किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये मनुष्य जो द्रव्य देताहै, उससे वस्तुसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताका बोध होता है। यदि वह यह निश्चय नहीं कर पारहा कि वह उस वस्तुको ले अथवा द्रव्यको अपने पास रखे तो इससे बोध होताहै कि किसी दूसरी वस्तुसे अपेक्षित तृप्ति पहली वस्तुकी अपेक्षित तृप्तिके समकक्ष है।

किसी दीहुई परिस्थितिमें किसी वस्तुके उपभोग से जो तृप्ति मिलतीहै उसको उपयोगिता कहते हैं। इस उपयोगिताकी माप तो नहीं होसकती परन्तु किसी व्यक्ति विशेषकी उस परिस्थितिमें उस वस्तुसे अपेक्षित उपयोगिताकी अन्य वस्तु अथवा द्रव्यसे अपेक्षित उपयोगितासे हम तुलना कर सकते हैं। यदि किन्हीं दो वस्तुओंके लिए मनुष्य समान द्रव्य देनेको तैयारहो तो हम यह कह सकतेहैं कि वह उन दोनोंसे समान उपयोगिताकी आशा करता है। अतएव साधारणतया कहा जासकता है कि दो वस्तुओंकी अपेक्षित उपयोगिताएं उसी अनुपातमें हैं जिस अनुपातमें उनको प्राप्त करनेके लिए द्रव्य दिया जाता है। इस प्रकरणमें हम यह बताना चाहतेहैं कि द्रव्यसे उपयोगिताकी माप और तुलना करनेमें सुविधा होती है। द्रव्य-विहीन आर्थिक पद्धतिमें भी इस प्रकारका तुलनात्मक कार्य किया जासकता है जबकि एक वस्तुसे अपेक्षित उपयोगिताकी तुलना सीधे दूसरी वस्तुसे अपेक्षित उपयोगितासे कीजाती है।

क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम

आवश्यकताओं और उनकी विशेषताओंकी चर्चा करते हुए हमने बताया था कि प्रत्येक आवश्यकता सीमित होतीहै अर्थात् उसका निवारण होसकता है। इसका कारण यह है कि जैसे जैसे उस आवश्यकताकी पूर्ति करनेके साधनोंका संग्रह अथवा उपभोग होता जाताहै, वैसे वैसे उस आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और एक समय आजाता है जब उसका लोप होजाता है। इसी बातको हम दूसरे प्रकारसे भी कह सकते हैं। किसी समय अथवा परिस्थितिमें यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु विशेषका लगातार उपभोग अथवा संचय करता है तो उस वस्तु की क्रमागत इकाइयोंसे प्राप्त उपयोगिता घटने लगतीहै क्योंकि उस वस्तु कीआव-

श्यकताकी तीव्रता घटने लगती है। अतएव तृप्तिकी मात्राभी कम होने लगती है। जब वह वस्तु इतनी मात्रामें संचित होजाती है अथवा उपभोग की जातीहै कि आवश्यकता बिल्कुल शान्त होजाती है तो ऐसी अवस्थामें तृप्तिके कुल परिमाणमें वृद्धि नहीं होती और हम कह सकतेहैं कि उपयोगिता शून्य होगई है। अब यदि इस सीमाके आगेभी उपभोग किया जाय तो कुल उपयोगितामें हानि होनेकी सम्भावना रहतीहै अर्थात् उपयोगिता प्रतिकूल होने लगती है। उपयोगिताकी इस प्रकारकी प्रवृत्तिके आधार पर एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाहै, जिसको 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम' कहते हैं। इस नियमकी व्याख्या इस प्रकारसे कीजाती है: जैसे जैसे किसी कालावधि में किसी वस्तुका संग्रह क्रमशः बढ़ता जाताहै, वैसे वैसे क्रमागत प्राप्त उपयोगिताका ह्रास होने लगता है। अर्थात् वस्तुकी किसी इकाई से प्राप्त उपयोगिता उससे पहिलेकी इकाईकी उपयोगितासे कम रहती है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वस्तुकी इकाइयोंमें असमान उपयोगिता निहित है। सभी इकाइयोंका रूपरंग इत्यादि विशेषताएं समानहैं परन्तु जैसे जैसे एक मनुष्य उस वस्तुकी इकाइयोंका क्रमशः उपभोग अथवा संचय करता जाताहै, वैसे वैसे उसको प्राप्त क्रमागत उपयोगिताका ह्रास होने लगता है। उदाहरणके लिए कोई मनुष्य केलेखरीदता है जोकि सब बातोंमें समान हैं। तुलनाके निमित्त मान लीजिये कि पहिले केलेसे उसको १०० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है। जब वह दो केले लेताहै तो (केलेकी इच्छाकी आंशिक तृप्ति हो चुकनेके कारण) मान लीजिए ८० इकाई उपयोगिताकी वृद्धि हुई अर्थात् दो केलोंसे कुल १८० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि दूसरे केलेकी उपयोगिता ८० इकाई है और पहिलेकी १००। दोनों केले सर्वथा समान हैं परन्तु क्योंकि वह व्यक्ति एक केला लेचुका है अतएव उसके मनमें दूसरे केलेके लिए पहिले जैसी तीव्र अभिलाषा नहीं है। कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी वस्तुकी उपयोगिता जाननेके लिए यह आवश्यकहै कि उपभोक्ता के पास उस वस्तुकी कितनी इकाइयां हैं। उपरोक्त उदाहरण में जब वह व्यक्ति तीसरा केला खरीदता है तो मान लीजिये कुल उपयोगितामें ५० इकाइयोंकी वृद्धि होजाती है। अर्थात् कुल उपयोगिता २३० इकाइयां होजाती हैं। इसी प्रकार मान लीजिये कि चौथे केलेसे केवल २० इकाई उपयोगिता की वृद्धि होजाती है। इस प्रकार ४ केलोंकी कुल उपयोगिता २५० इकाइयां हुईं। यह नहीं कहना

चाहिए कि तीसरे केलेकी उपयोगिता ५० और चौथे केलेकी २० इकाइयां है बल्कि इस प्रवृत्तिको इस प्रकार बताना चाहिए कि जब प्राप्त केलोंकी संख्या दो से तीन होगयी हो तो कुल उपयोगितामें ५० इकाइयोंकी वृद्धि हुई और जब संख्या तीनसे चार हुईतो कुल उपयोगितामें २० इकाई की वृद्धि हुई। यहां पर हम देख रहे हैं कि ज्यों ज्यों केलोंकी संख्या बढ़ती जारही है, त्यों त्यों कुल उपयोगिता कम अनुपातमें बढ़ रही है।

• कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता

ऊपर दिये गये केलोंके उदाहरणसे हम कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के भेद और उनके सम्बन्धका स्पष्टीकरण कर सकते हैं। इस उदाहरणको बढ़ा कर हम आगे दीहुई तालिकामें दिखा रहे हैं :*

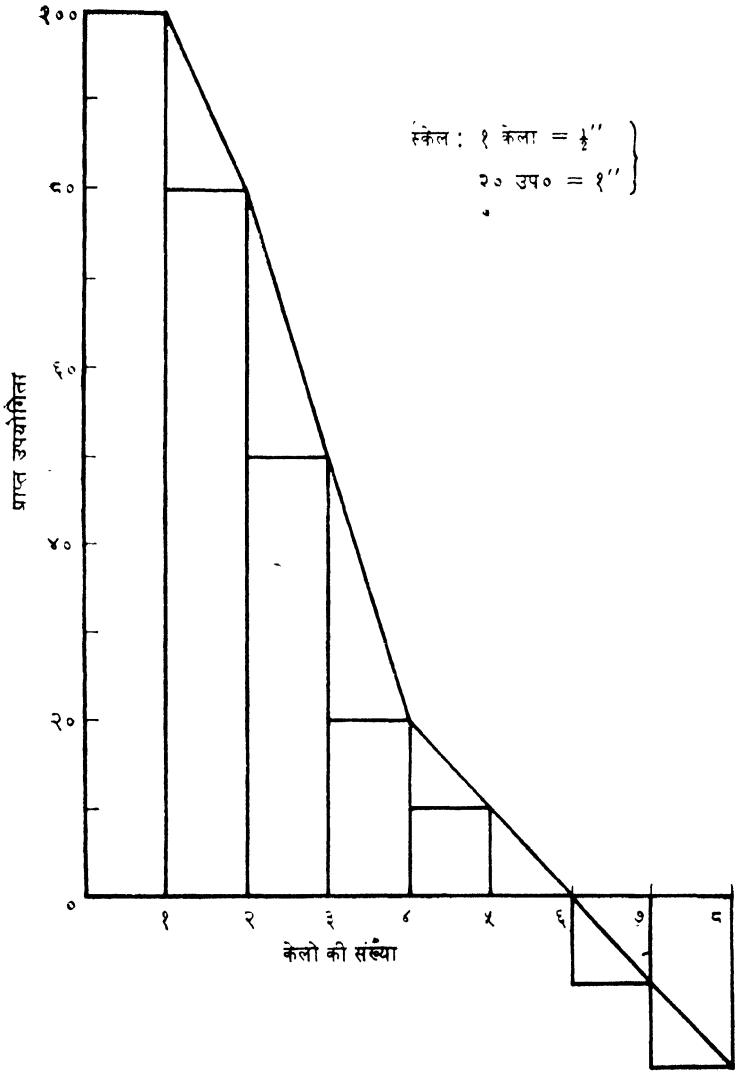
केलोंकी संख्या	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
१	१००	१००
२	१८०	८०
३	२३०	५०
४	२५०	२०
५	२६०	१०
६	२६०	०
७	२५०	—१०
८	२३०	—२०

ध्यान रहे कि तालिका में जो संख्याएं दीगयी हैं वह सब काल्पनिक हैं। वास्तव में न कुल उपयोगिता और न सीमान्त उपयोगिता इस प्रकार संख्या के रूपमें प्रकट की जासकती हैं। यहां पर संख्याओं द्वारा केवल इस बातको दिखानेकी चेष्टा कीगयी है कि कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता किस प्रकारसे सम्बन्धित हैं।

किसी वस्तुकी जितनीभी इकाइयां लीगयी हों उन सभीकी उपयोगिताके समुदायको कुल उपयोगिता कहते हैं। तालिकाके कॉलम २ में केलोंकी भिन्न भिन्न संख्याओंकी कुल उपयोगिता दिखायी गयी है। उदाहरणके लिए ५ केलोंकी कुल उपयोगिता २६० इकाई है। वस्तुकी इकाइयोंकी क्रमागत वृद्धिसे प्रत्येक बार कुल उपयोगितामें जो वृद्धि होतीहै, उसे सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। इसको तालिकाके कालम ३ में दिखाया गया है। जब केलोंकी संख्या बढ़कर ३ से ४ हुई तो कुल उपयोगिता २३० से २५० इकाइयां होगयीं अर्थात् कुल उपयोगितामें २० इकाइयों की वृद्धि हुई। अतः ४ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता २० है। इसी प्रकार ५ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता १० है जबकि कुल उपयोगिता २५० से बढ़कर २६० इकाइयां होजाती है। सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करनेकी सरल विधि यहहै कि जब वस्तुकी संख्यामें एक इकाई बढ़ा या घटा दीगयी हो तो दो क्रमागत कुल उपयोगिताओंका अन्तर निकाल लिया जाये।

इस तालिकासे यहभी पता चलताहै कि ५ केलोंके प्राप्त करने तक कुल उपयोगिता बढ़ती जाती है, यद्यपि क्रमागत वृद्धिका अनुपात घटता जाता है। छठे केलेके लेनेपर उपयोगिता पूर्ववत् रहतीहै और सातवें और आठवें केलोंके लेने पर घटने लगती है। अब यदि हम सीमान्त उपयोगिताके कॉलमको ध्यान-पूर्वक देखें तो मालूम होगा कि केलोंकी संख्यामें वृद्धि होनेपर क्रमागत सीमान्त उपयोगिता घटती जातीहै; परन्तु पांच केलों तक (जहां तक कुल उपयोगिता बढ़ती रहती है) यह धनात्मक रहती है। ६ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता शून्य होजाती है और कुल उपयोगिताकी वृद्धिभी समाप्त होजाती है अर्थात् कुल उपयोगिताके अधिकतम स्तर पर सीमान्त उपयोगिता शून्य रहती है। जब केलोंकी सातवीं और आठवीं इकाई लीजाती है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होजाती है और कुल उपयोगिता घटने लगती है। सामने दिये रेखा-चित्रमें सीमान्त उपयोगिता दिखायी गयी है।

इस चित्रमें समकोण चतुर्भुज द्वारा सीमान्त उपयोगिता दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि जैसे जैसे केलोंकी संख्या बढ़ती जातीं है, चतुर्भुजका क्षेत्रफल घटता जाता है। यदि इन चतुर्भुजोंके सिरोंको अविच्छिन्न रेखा द्वारा जोड़दें तो दाहिनी ओर को गिरती हुई इस रेखासे भी घटती हुई सीमान्त उपयोगिता दृष्टिगोचर होती है।


१००
८०
६०
४०
२०
०
प्राप्त उपयोगिता
१
२
३
४
५
६
७
८
केलो की संख्या
स्केल : १ केला = ½''
२० उप० = १''

क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियमके कुछ अपवाद भी बताये जाते हैं। देखा जाताहै कि यदि कोई वस्तु बहुत ही सूक्ष्म मात्रामें लीजाये तो कुछ सीमा तक सीमान्त उपयोगिता घटनेके बदले बढ़ती जान पड़ती है। परन्तु यदि हम किसी वस्तुकी इकाई पर्याप्त मात्रामें लें तो यह नियम प्रारम्भसे ही लागू होजायेगा। उदाहरणके लिए अमरूदकी छोटी छोटी फांकोंको भी उसकी इकाई माना जा सकताहै और एक अमरूदको अथवा एक सेर अमरूदको भी। किसी वस्तुकी इकाई का पर्याप्त परिमाण क्याहो, इसका परिमाण भिन्न भिन्न वस्तुओंके लिए भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होगा।

इसी प्रकार यदि ४ कुर्सियोंका एक सेट होताहै और किसी व्यक्तिके पास ३ कुर्सियां हैं तो चौथी कुर्सीसे उसको अधिक सीमान्त उपयोगिता जान पड़ेगी। ऐसी परिस्थितिमें चारों कुर्सियोंके एक पूरे सेटको एक पर्याप्त मात्राकी इकाई समझना चाहिए। यही बात डाकके टिकट इकट्ठा करनेवालों अथवा विलक्षण वस्तुओंका संग्रह करनेवालों के विषयमें भी कही जासकती है। पूर्वोक्त उदाहरण क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियमके वास्तविक रूपमें अपवाद नहीं है।

सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम

प्रत्येक मनुष्य चाहताहै कि उसको अधिकतम सन्तोष और तृप्ति मिले। वह अपने परिमित साधनोंका प्रयोग इस प्रकारसे करना चाहताहै जिससे उसे प्रत्येक साधनके सीमान्त उपभोगसे सम उपयोगिता प्राप्त हो। यदि किसी साधनके एक दिशाके उपयोगसे दूसरी दिशाके उपयोग द्वारा अधिक उपयोगिता प्राप्त होनेकी सम्भावना हो तो यह उसके हितमें होगा कि वह उस साधनको कम उपयोगिता वाले उपयोगसे हटाकर अधिक उपयोगिता वाले उपयोगमें लगाये। जब उसके साधनोंकी सीमान्तिक उपयोगिताएं सभी उपयोगोंमें समान होजाती हैं तो फिर साधनको एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें बदलनेसे कोई लाभ नहीं होता। साधनोंको विविध उपयोगोंमें वितरण करनेकी इस प्रवृत्तिको सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम कह सकते हैं। इसका दूसरा नाम प्रतिस्थापना सिद्धान्त भी है क्योंकि इसके अन्तर्गत साधनोंके विभिन्न उपयोगोंकी इस प्रकारसे प्रतिस्थापना होती है कि किसी भी

उपयोगोंसे समान सीमान्तिक उपयोगिता प्राप्त हो। जब इस प्रकारका वितरण हो जाता है तो फिर तटस्थताका आविर्भाव होजाता है, अतएव इस दशाको तटस्थता सिद्धान्तभी कहा गया है। प्रति स्थापना शीर्षक अध्याय में सिद्धान्त का पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है। वह हम देखेंगे कि यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सभी भागों अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरणामें चरितार्थ होता है।

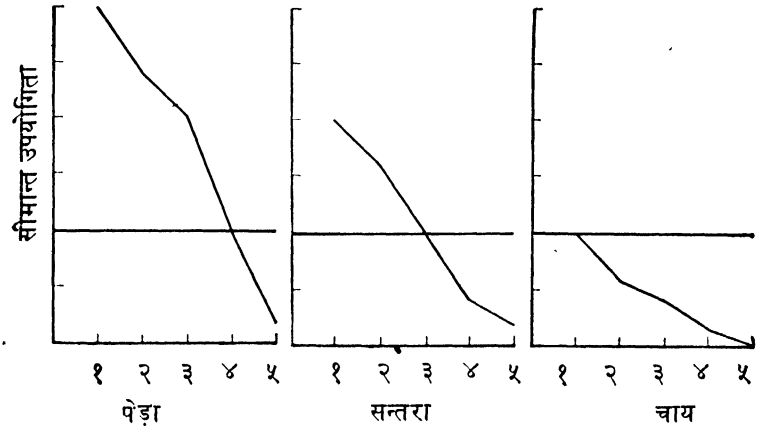
उपभोगके सम्बन्धमें इस प्रवृत्तिको 'सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम' कहते हैं। इस नियम की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को भिन्न भिन्न वस्तुओंमें इस प्रकार व्यय करेगा, जिससे उसको विभिन्न वस्तुओंमें व्यय किये गये रुपये अथवा आनोंसे समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्तहो। आय एक ऐसा साधन है जिसका उपयोग विविध वस्तुओंको प्राप्त करनेमें होता है। यदि आयकी एक इकाईसे एक उपयोगकी अपेक्षा दूसरे उपयोगमें अधिक उपयोगिता मिलनेकी सम्भावना हो तो उसको दूसरे उपयोगमें व्यय करनेमें अधिक तृप्ति मिलेगी। परन्तु जब किसी उपयोगमें द्रव्यकी एक इकाईके बाद दूसरी इकाई क्रमशः व्यय की जायेगी तो उस उपयोगकी सीमान्तिक उपयोगिता घटती जायेगी और ऐसी स्थिति आजायेगी जबकि दूसरे उपयोगसे अधिक तृप्ति होगी। इस दूसरे और इसी प्रकार तीसरे, चौथे उपयोगोंमें भी क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम लागू होगा। अतएव वह व्यक्ति द्रव्यकी विभिन्न इकाइयोंको व्यय करनेके पहिले यह जाननेकी चेष्टा करेगा कि किस वस्तुमें व्यय करनेसे उसे अधिक सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होगी। उसको अपने कुल व्ययसे अधिकतम उपयोगिता तभी मिल सकेगी जब द्रव्यकी प्रत्येक इकाईसे सभी उपयोगोंमें समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। इस नियमको हम साधारण एवं सुगम उदाहरणसे दिखा सकते हैं। मान लीजिए एक लड़केके पास एक रुपया है, जिससे वह चाय, पेड़ा और सन्तरे लेना चाहता है। सुगमताके लिए हम यहभी मान लेतेहैं कि इन सभी वस्तुओंकी इकाईका मूल्य दो आना है। अब प्रश्न यह है कि वह कितनी इकाइयां भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मोलले, जिससे उसे अधिकतम उपयोगिताकी प्राप्ति हो। वह निश्चयही अपने मनमें प्रत्येक वस्तुकी विभिन्न इकाइयोंसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओं की तुलना करेगा। अगले पृष्ठ पर दीगयी तालिकामें काल्पनिक संख्याओंमें इन तीनों वस्तुओंकी विभिन्न इकाइयोंसे प्राप्त उपयोगिता दीगयी है।

प्रति दुअन्नीसे प्राप्त वस्तुकी इकाइयां	आपेक्षित उपयोगिता		
	चाय	पेड़ा	सन्तरा
१	५	१५	१०
२	३	१२	८
३	२	१०	५
४	१	५	२
५	०	१	१

इस तालिकाको ध्यानमें रखते हुए उस लड़केको एक रुपया निम्न प्रकारसे व्यय करनेमें अधिकतम उपयोगिता मिलेगी:

वस्तुओंकी इकाई	उपयोगिता	कुल
१ प्याली चाय	५	५
४ पेड़े	१५ + १२ + १० + ५	४२
३ सन्तरे	१० + ८ + ५	२३
	कुल उपयोगिता	७०

यदि वह चौथे पेड़के स्थानमें एक प्याली चाय और पिये तो कुल उपयोगितामें ५ इकाईकी कमी और ३ इकाईकी वृद्धि होगी अर्थात् कुल उपयोगितामें २ इकाई की कमी होजायेगी, कुल उपयोगिता ६८ (७० — ५ + ३) रह जायेगी। पाठक स्वयं जांच करके ज्ञात कर सकतेहैं कि अन्य किसी प्रकारसे वस्तुओंको मोल लेनेमें कुल उपयोगिता ७० से कम ही मिलेगी। इस उदाहरणमें प्रत्येक वस्तुमें व्यय की गयी दुअन्नीकी सीमान्त उपयोगिता ५ है। इसी स्थितिको रेखाचित्र द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं।



इस रेखाचित्र में पड़ी रेखा द्वारा प्रति दुअन्नीसे प्राप्त वस्तुका परिमाण और खड़ी रेखा द्वारा सीमान्तिक उपयोगिता दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि आठ दुअन्नियों से चार पेड़े, तीन सन्तरे और एक प्याली चाय लेनेसे उसको समान (५) सीमान्तिक उपयोगिता मिलती हैं।

वास्तवमें सभी वस्तुओंकी इकाइयोंका मूल्य समान नहीं होता है। इस बात को ध्यानमें रखते हुए हम इस सिद्धान्तको इस प्रकारसे भी कह सकतेहैं कि प्रत्येक विचारवान् मनुष्य इस प्रकार व्यय करेगा जिससे सभी मोल लीगयी वस्तुओंकी सीमान्त उपयोगिता उनके मूल्यके अनुपातमें हो। उदाहरणके लिए यदि छातेका मूल्य १० रुपया, टोपीका २ रुपया और रूमालका १ रुपया हो तो कोई मनुष्य

छाते को खरीदना नहीं चाहेगा, यदि छातेसे अपेक्षित उपयोगिता कमसे कम ५ टोपियों और १० रूमालोंके बराबर न हो। इस सम्बन्धको समीकरणके रूपमें इस प्रकार लिखा जा सकता है :

$$\frac{\text{छातेका मूल्य}}{\text{छातेकी सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{टोपीका मूल्य}}{\text{टोपीकी सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{रूमालका मूल्य}}{\text{रूमालकी सीमान्त उपयोगिता}}$$

यदि किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होजाये तो भिन्न भिन्न वस्तुओंकी इकाइयों को खरीदनेमें भी इसी प्रकार परिवर्तन होनेकी प्रवृत्ति होगी, जिससे अनुपात पूर्ववत् होजाये।

भिन्न भिन्न वस्तुओं पर द्रव्यको व्यय करनेसे कोईभी व्यक्ति कुल उपयोगिताको तभी अधिकतम बना सकता है जब कि मोल लीगयी वस्तुओंकी सीमान्त उपयोगिताएं उनके मूल्यके अनुपातमें हों।

वास्तविक संसारमें भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मांगकी स्थिरता और अनेक मूल्यों में बहुत भिन्नता होनेके कारण इस अनुपातके अनुसार चलना कठिन होजाता है। परन्तु प्रवृत्ति इस प्रकारकी अवश्य रहती है। एक बात और भी ध्यानमें रखनेकी है कि कालान्तरमें फ़ैशन और रुचिमें परिवर्तन होनेके कारण भिन्न भिन्न वस्तुओंकी सापेक्ष सीमान्तिक उपयोगिताओं में भी अन्तर आजाता है। यदि कुछ काल तक वस्तुओंके मूल्य और रुचिमें परिवर्तन न हो तो मनुष्यको अपने व्ययके वितरणसे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करनेमें सुगमता होगी।

३

मांग

मांग का तात्पर्य

अर्थशास्त्र में 'मांग' शब्दका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें होता है। किसी मनुष्यकी किसीभी वस्तु सम्बन्धी मांग उसके मूल्यके साथ निहित रहती है। 'मोहनकी २० आमोंकी मांग है' यह वाक्य असम्बद्ध समझा जायेगा, जबतक इसके साथ आमका भाव न जोड़ दिया जाये। वस्तुत: हमको कहना चाहिए, 'यदि आमका मूल्य चार आने प्रति आम हो तो इस मूल्यपर मोहनकी मांग २० आमकी है।' यदि आमका भाव चार आने न होकर पांच आने अथवा तीन आने हो तो सम्भव है कि मोहनकी मांगमें भी अन्तर पड़ जाये। भिन्न भिन्न मूल्यों पर मोहनके लिए आमोंकी मांग भिन्न भिन्न होगी। अतएव मांगका तात्पर्य यह है कि किसी समय विशेषमें खरीदार भिन्न भिन्न मूल्योंपर किसी वस्तुकी कितनी इकाइयां खरीदेगा।

मांगका आवश्यकताओं और उनकी विशेषताओंसे घनिष्ट सम्बन्ध है। दूसरे अध्यायमें हमने बताया है कि किसीभी वस्तुकी आवश्यकता की तीव्रता उस वस्तु के संग्रहसे कम होजाती है। आवश्यकता की तीव्रतामें न्यूनता आनेके कारण उस वस्तुकी उपयोगिता भी कम होतीचली जाती है अतएव उसका मूल्यभी उपभोक्ताकी दृष्टिमें गिरता जाता है। आवश्यकताकी तीव्रताका मांगपर भी प्रभाव पड़ता है। यदि किसी मनुष्यको किसी वस्तुकी आवश्यकता बहुत तीव्रहो तो उसके लिए उस वस्तुकी उपयोगिता बहुत अधिक होगी और वह उसको अधिक मूल्यपर भी खरीद लेगा। परन्तु यदि आवश्यकता शिथिल पड़ गयीहो तो वह उस वस्तुको कम मूल्य पर खरीदना चाहेगा। इस प्रकार हम देखतेहैं कि मोहन अधिक परिमाणमें आम खरीदना तभी पसन्द करेगा जबकि विक्रेता उनका मूल्य घटाये। अधिक मूल्य होने पर वह कम आम खरीदेगा। मांगकी इस प्रवृत्तिका हम पृष्ठ पर दीगयी तालिका द्वारा निदर्शन कर सकते हैं :

मूल्य (आनों में)	मोहनकी मांग
८ प्रति आम	० आम
७ ,, ,,	१
६ ,, ,,	५
५ ,, ,,	१०
४ ,, ,,	२०
३ ,, ,,	३०
२ ,, ,,	३५

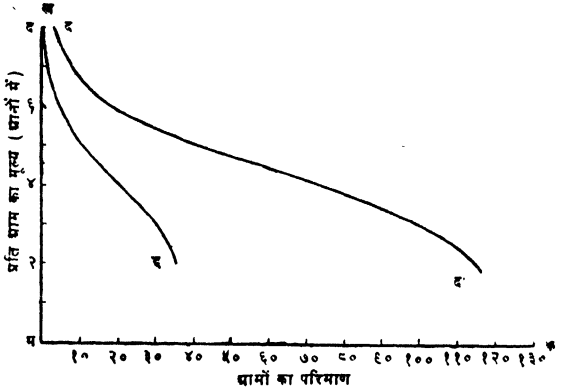
स्मरण रहे कि उपरिलिखित तालिका किसी विशेष व्यक्ति की किसी विशेष समय पर आमोंकी मांगकी द्योतक है; भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही समय पर अथवा एकही व्यक्तिके लिए भिन्न भिन्न समयों पर यह तालिका भी भिन्न हो-सकती है क्योंकि प्रत्येक मनुष्यकी किसीभी वस्तु सम्बन्धी मांग उसकी आय, अभिरुचि और अन्य वस्तुओंके मूल्यपर अवलम्बित रहती है। इनमें परिवर्तन होने से उसकी मांगमें भी परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु किसी समय विशेषमें इन सब बातोंके यथावत् रहनेपर वह भिन्न भिन्न मूल्योंपर उस वस्तुको भिन्न भिन्न परिमाणों में खरीदनेको तत्पर रहेगा। भिन्न भिन्न मनुष्यों की आय, अभिरुचि, आवश्यकताकी तीव्रता किसी वस्तुके लिये भिन्न भिन्न होती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न मूल्योंपर किसी वस्तुको समान परिमाणमें नहीं खरीदेगा। ऊपर दीगयी तालिकाके अनुसार मोहन ६ आनेके हिसाबसे ५ आम खरीदता है, दूसरे उपभोक्ताकी मांग, जिसको आममें अधिक अभिरुचि नहीं है अथवा जो इस भावपर आम खरीदने में असमर्थ है, ६ आने प्रति आम मूल्य होनेपर शून्य हो सकती है। अतएव प्रत्येक उपभोक्ताकी आमकी मांगकी तालिका भिन्न भिन्न होने की सम्भावना है। यदि हम किसी समय विशेषके लिए सभी उपभोक्ताओं की मांगकी तालिकाओं का समुच्चय करें तो हमको सभी उपभोक्ताओं की कुल आमों की मांगकी तालिका प्राप्त होसकती है। कल्पना कीजिए, आमोंके बाजारमें पांच उपभोक्ताहैं, जिनकी किसी एक दिनकी मांगकी तालिका निम्न प्रकारकी है :

प्रति आम का मूल्य	दैनिक मांग					
	क	ख	ग	घ	ङ	कुल
८ आना	०	०	१	०	२	३
७	१	०	२	०	५	८
६	५	०	५	२	८	२०
५	१०	१	१०	५	१५	४१
४	२०	३	१५	१०	२५	७३
३	३०	५	२०	१५	३०	१००
२	३५	१०	२०	२०	३०	११५

अन्तिम कोष्टकमें उपभोक्ताओं की भिन्न भिन्न मूल्योंसे सम्बन्धित कुल मांग पांचों उपभोक्ताओं की मांगोंके योगसे प्राप्त कीगयी है। उदाहरणके लिए यदि आमोंका मूल्य ४ आने प्रति आमहो तो कुल मांग ७३ होगी और यदि २ आने हो तो कुल मांग ११५ होगी। इस कुल मांगकी तालिकाको (तथा प्रत्येक उपभोक्ताकी मांग की तालिकाको) रेखाचित्र द्वाराभी व्यक्त किया जासकता है।

मांग का नियम

मांग की तालिका और रेखाचित्र से मांगके विषयमें हमको एक बड़ी महत्वपूर्ण बात मालूम होती है। वह यहकि जैसे जैसे आमका मूल्य घटता जाता है, वैसे वैसे उसकी मांग बढ़ती जाती है और जैसे जैसे मूल्य बढ़ता जाता है, वैसे वैसे मांग घटती जाती है। यही बात स्वाभाविकभी मालूम पड़ती है। यदि किसी वस्तुको अधिक मात्रामें बेचनाहो तो उसके मूल्यको घटाना ही पड़ेगा; क्योंकि अधिक मात्रामें लेनेसे किसीभी उपभोक्ताको कम सीमान्तिक उपयोगिता प्राप्त होती है। अतएव अन्य बातोंके यथावत् रहनेपर उपभोक्ताओं को अधिक मात्रामें खरीदने के लिए मूल्य घटाकर ही आकृष्ट किया जासकता है। इसी बातको हम दूसरे प्रकारसे भी कह सकते हैं। कोई उपभोक्ता किसी मूल्यपर वस्तु खरीदता है तो



इस रेखाचित्रमें द द रेखा मोहनके मांगकी तालिका और द' द' रेखा कुल मांगको दर्शाती है।

वह अपनेको उसी मूल्यसे प्राप्त होनेवाली दूसरी वस्तुसे वंचित करता है अर्थात् जिस दूसरी वस्तुको वह लेसकता था, उसका उसे त्याग करना पड़ता है। अब यदि उसको पहिली वस्तु कम मूल्यपर प्राप्त होसके तो दूसरी वस्तुकी अपेक्षा वह वस्तु अधिक क्रय सिद्ध हो जायेगी। अर्थात् यदि दो वस्तुओंमें प्रतियोगिता हो और उनमेंसे एकके मूल्यमें कमी करदी जाये तो जिस वस्तुका मूल्य कम कर दिया गया है उसकी मांग बढ़ जायेगी और अपेक्षत: अधिक मूल्यवाली वस्तुके स्थानमें भी इसी वस्तुको अधिक मात्रामें लेनेकी प्रवृत्ति होगी क्योंकि मूल्यमें कमी होनेसे अन्य स्थानापन्न वस्तुओंका स्थानभी कुछ अंश तक वही वस्तु ग्रहण करने लगेगी। अतएव इसकी मांगमें वृद्धि अवश्य हो जायेगी।

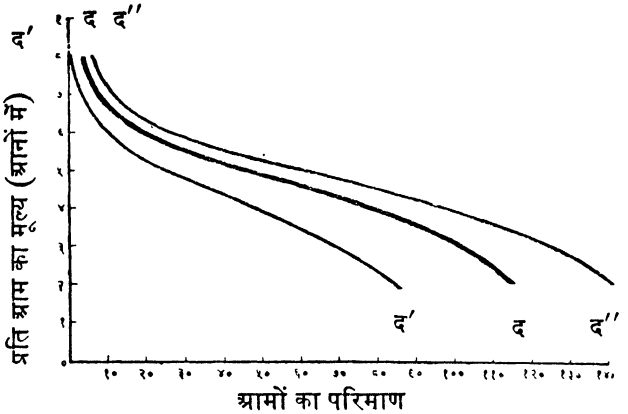
चाहे हम इस विषयको घटती हुई सीमान्तिक उपयोगिताके दृष्टिकोणसे देखें अथवा स्थानापन्न वस्तुओंके परिमाणमें अन्तरके दृष्टिकोणसे देखें, किसी वस्तुकी मांग अधिक मूल्यपर कम और कम मूल्यपर अधिक रहेगी। इसीको मांग का नियम भी कहते हैं। यह स्थिति रेखाचित्रमें दाहिनी ओर गिरती हुई मांगकी रेखासे व्यक्त होती है।

मांग में परिवर्तन

मांगके नियमके अनुसार अन्य बातें यथावत् रहनेपर भी मूल्यमें कमी होनेसे किसी वस्तुकी मांगमें वृद्धि और मूल्यमें वृद्धि होनेपर मांगमें कमी होजाती है। यह प्रवृति किसीभी मांगकी तालिका अथवा मांगकी रेखामें देखीजा सकती है। परन्तु मूल्यमें कमी अथवा वृद्धि न होने परभी किसी वस्तुकी मांगमें कमी अथवा वृद्धि हो सकती है। मांगमें इसप्रकार होनेवाली कमी अथवा वृद्धिको 'मांगमें परिवर्तन' के नामसे पुकारते हैं। परिवर्तनकी परिभाषा इसप्रकार है। यदि किन्हीं दियेगये मूल्योंपर उपभोक्ता पहिलेसे कम अथवा अधिक परिमाणमें उस वस्तुको खरीदें तो हम कहतेहैं कि उस वस्तुकी मांगमें परिवर्तन होगया है। यदि दियेगये मूल्यों पर उपभोक्ता पहिलेसे अधिक परिमाणमें उस वस्तुको खरीदे तो हम कहेंगे किमांग का प्रसार हुआ और यदि कम मात्रामें खरीदें तो हम कहेंगे कि मांगमें संकुचन हुआ। नीचे दीहुई तालिकामें मांगके परिवर्तनको दिखाया गया है :

आमोंका मूल्य (आना)	पहिलेकी मांग	इकाई की मांग	
		क	ख
८ प्रति आम	३	५	०
७ ,, ,,	८	१२	२
६ ,, ,,	२०	३०	१०
५ ,, ,,	४१	६०	२५
४ ,, ,,	७३	९०	४५
३ ,, ,,	१००	१२०	६०
२ ,, ,,	११५	१४०	८५

नयी मांगका कोष्टक (क) मांगमें प्रसार और कोष्टक (ख) मांगमें संकुचन सूचित करता है। इस तालिकाको रेखाचित्रमें पृष्ठ पर दिखाया गया है :



पिछली मांगको द द रेखासे दिखलाया गया है। द' द' रेखासे मांगमें संकुचन और द'' द'' रेखासे मांगमें प्रसार दिखलाया गया है।

इस प्रकार हम देखतेहैं कि मांगमें परिवर्तन होनेपर मांगकी तालिका और रेखाचित्र बदल जाते हैं। मांगमें परिवर्तन होनेका कारण यहहै कि अन्य सब बातें पूर्ववत् नहीं रहती हैं। घट बढ़ होनेसे, भिन्न भिन्न वस्तुओं सम्बन्धी अभिरुचि में परिवर्तन होनेसे अथवा अन्य वस्तुओंके कम या अधिक मात्रा और मूल्यमें प्राप्त होनेके कारणभी किसी वस्तुकी मांगमें परिवर्तन होसकता है। साधारणतः आय की वृद्धिसे किसी वस्तुकी कुल मांगमें प्रसार और आयकी कमीसे मांगमें संकुचन होजाता है। यदि किसी कारणसे लोग आमोंको पहिलेसे अधिक पसन्द करने लगें तो भी मांगका प्रसार होगा और यदि कम पसन्द करें तो मांग संकुचित हो जायेगी। इसी प्रकार यदि किसी वस्तुकी प्रतिरूप वस्तुओंकी संख्यामें वृद्धि होजाये अथवा किसी प्रतियोगिता वाली वस्तुका मूल्य कम करदिया जाये तो पहिली वस्तुकी मांगमें संकुचन हो जायेगा। इसके प्रतिकूल यदि प्रतिरूप वस्तुओंकी संख्या कम होजाय अथवा किसी प्रतियोगिता करनेवाली वस्तुका मूल्य बढ़जाये तो पहिली वस्तुकी मांगमें प्रसार होगा। उदाहरणके लिए यदि कोई नया फल बाजारमें बिकने लगे तो कुछ लोग आमोंकी कमी करके इस नये फलको लेने लगेंगे। अतएव आमकी मांगकी रेखा बायीं ओर नीचेको होजायेगी। और यदि सेब, सन्तरा इत्यादि फलोंके मूल्यमें

वृद्धि होजाये तो कुछ लोग इनके बदले आम लेने लगेंगे और आमकी मांगमें प्रसार होजायेगा।

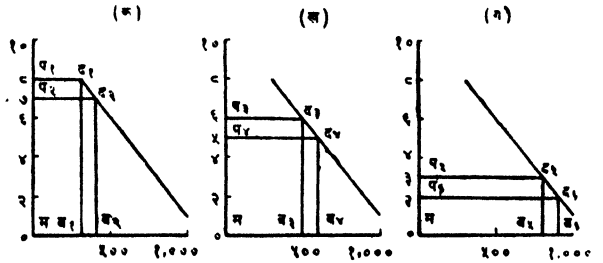
मांग की लोच

अभी हम देख चुके हैं कि मूल्यमें परिवर्तन होनेसे किसी वस्तु की मांगके परिमाणमें भी परिवर्तन होजाता है। परन्तु सभी वस्तुओंके मूल्यमें कुछ घट-बढ़ हो जानेका प्रभाव सभी मनुष्यों पर एकसा नहीं पड़ता। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनके मूल्यमें थोड़ासा अन्तर होजाने पर उनकी मांगमें विशेष परिवर्तन नहीं होताहै जैसे नमक। परन्तु यह बात चीनीके लिए नहीं कह सकते हैं। यदि चीनीका मूल्य १ रुपया प्रति सेर से घटकर १४ आने प्रति सेर होजाये तो उसकी मांगमें अवश्य ही वृद्धि होगी और १ रुपया २ आने प्रति सेर होनेपर मांग घट जायेगी। हां यहबात अवश्यहै कि कुछ धनीलोग जिनकी १ रुपयेके भावपर चीनीकी आवश्यकता पूर्णरूप से तृप्त होजाती है, वह १४ आने सेरके हिसाबसे भी उतनी ही मात्रामें चीनी खरीदेंगे और १ रुपया २ आने प्रति सेरपर भी उतनीही मात्रामें खरीदेंगे। यदि चीनी २ आने प्रति सेरके हिसाबसे बिकने लगे तो प्रायः सभीलोग इस भावपर चीनीको पर्याप्त परिमाणमें खरीद लेंगे और डेढ़ आने प्रति सेरपर मांगमें विशेष वृद्धि न होगी। किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होनेसे जो मांगके परिमाणमें परिवर्तन होजाता है उसको मांगकी लोच कहते हैं। अर्थात् मांगकी लोच मूल्य-परिवर्तनसे प्रभावित होकर मांगमें पड़नेवाले अन्तरकी माप है। यदि मूल्यके परिवर्तनसे मांगमें कुछभी अन्तर न हो तो उसको बेलोच मांग कहेंगे। शायदही ऐसी कोई वस्तुहो जिसकी समुदायिक मांग बेलोच हो। वास्तवमें भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मांग कम या अधिक लोचदार होती है। इसको जाननेकी एक सुगम रीति यहहै कि किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होनेके कारण उस वस्तुमें कियेगये व्यय में परिवर्तनको मालूम किया जाय। मान लीजिये आमके मूल्यमें कुछ वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप उसकी मांगकी मात्रामें इतनीही कमी हुई कि उसपर कियागया कुल व्यय पूर्ववत्ही रहा अथवा आमके मूल्यमें कुछ कमी होनेपर उसकी मांगमें इतनीही वृद्धि हुई कि उसपर कियागया कुल व्यय उतनाही रहा

तो ऐसी अवस्थामें हम कहतेहैं कि इन दो मूल्य-स्तरोंके अन्तर्गत मांगकी लोच एक इकाई है। परन्तु यदि मूल्य घटनेसे कुल व्यय बढ़जाये और मूल्य बढ़नेसे कुल व्यय घटजाये तो हम कह सकतेहैं कि मांगकी लोच एक इकाईसे अधिक है। इसके प्रतिकूल यदि मूल्यके घटनेसे कुल व्यय घटजाये और मूल्यके बढ़नेसे कुल व्यय बढ़जाये तो हम कह सकतेहैं कि मांगकी लोच एक इकाईसे कम है। इस बातको नीचे दीहुई तालिकामें दिखाया गया है :

मूल्य आना	मांग	कुल व्यय आने	लोचकी मात्रा
८	३००	२४००	इकाईसे अधिक
७	४००	२८००	,, ,,
६	५००	३०००	इकाई
५	६००	३०००	,,
४	७००	२८००	इकाईसे कम
३	८००	२४००	,, ,,
२	९००	१८००	,, ,,
१	१०००	१०००	,, ,,

मांगकी लोचको नापनेकी इस साधारण विधिको रेखाचित्र द्वारा भी दिखाया जासकता है:



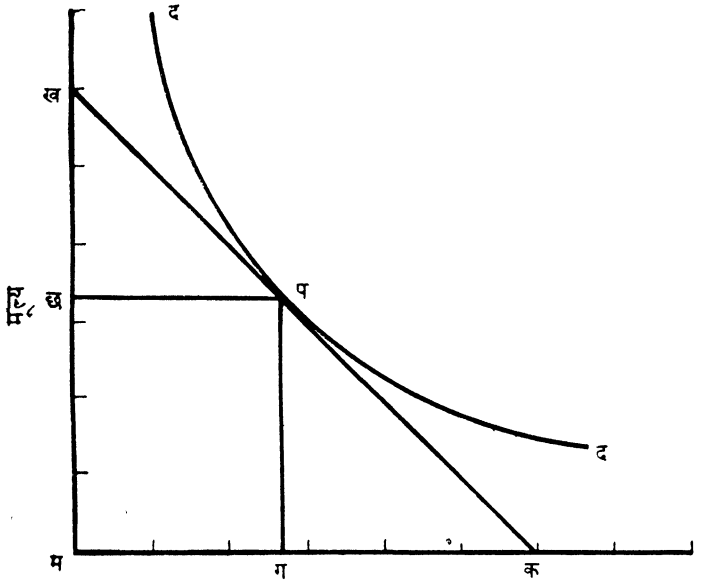
रेखाचित्र (क) में द १ और द २ मूल्योंके अन्तर्गत मांगकी लोच इकाईसे अधिक है क्योंकि 'म' प २' 'द२, ब२' का क्षेत्रफल (कुल मूल्य) 'म, प१' 'द१, ब१' से अधिक है। चित्र (ख) मे 'द ३' और 'द ४' के अन्तर्गत मांगकी लोच इकाई है क्योंकि 'म, प ३' 'द ३ ब ३' और 'म, प ४' 'प ४, ब ४' का क्षेत्रफल बराबर है और रेखा चित्र (ग) में 'द ५' और 'द ६' मूल्योंके अंतर्गत मांगकी लोच इकाईसे कम है क्योंकि 'म, प ६' 'द ६, ब ६' का क्षेत्रफल 'म, प ५' 'द ५, ब ५' से कम है। इन तीनों रेखाचित्रों में मांगकी रेखाएं एकसी है परन्तु मांगकी रेखाओंके एक सी होनेका तात्पर्य यह न समझना चाहिये कि मांगकी लोच भी एकसी ही है; भिन्न भिन्न मूल्योंपर लोच भिन्न भिन्न हैं। अतएव हमको बिना विश्लेषणके नहीं कहना चाहिए कि किसी वस्तुकी मांग कम या अधिक लोचवाली है, जबतक कि सारी रेखाकी एक सी लोच न हो। चूंकि लोच भिन्न भिन्न मूल्योंपर भिन्न भिन्न होसकती है इस कारण मांगकी लोचका विवेचन करते समय हमको किसी मूल्य-विशेषपर लोचके सम्बन्धमें बताना चाहिए।

एक और प्रकारसे मांगकी लोच अंकों द्वारा प्रकटकी जासकती है। यदि किसी वस्तुके मूल्यमें कमी होनेके कारण मांग उसी अनुपातमें बढ़े तो हम कहेंगे कि लोच एक इकाई है। यदि मांग अधिक अनुपातमें बढ़े तो लोच एकसे अधिकहै और यदि मांग कम अनुपातमें बढ़े तो लोच एकसे कम समझी जायेगी। यदि मांग बिल्कुल ही न बढ़े तो लोच शून्य समझी जायेगी। इस सम्बन्धको निम्नलिखित समीकरण के रूपमें लिख सकते हैं :

$$\text{लोच} = \frac{\text{मांगमें प्रतिशत वृद्धि}}{\text{मूल्यमें प्रतिशत कमी}}$$

उदाहरणके लिये यदि आमके मूल्यमें १० प्रतिशत कमी होनेपर उसकी मांगके परिमाणमें १० प्रतिशत वृद्धिहो तो लोच एक इकाई, १५ प्रतिशत वृद्धि होनेपर इकाईसे अधिक और ५ प्रतिशत वृद्धि होनेपर इकाईसे कम और पूर्ववत् रहनेपर शून्य होगी।

गणितकी ओर जिनकी प्रवृत्ति हो, ऐसे पाठकोंके लिए मांगकी लोचको रेखा-चित्र द्वारा दिखलाया और मापा जा सकता है।



इस चित्रमें 'म, क' रेखा द्वारा मूल्य और 'म, ख' रेखा द्वारा मांगका परिमाण दिखाया गया है। 'द, द' किसी वस्तुकी मांगकी रेखा है। 'प' इस रेखापर एक बिन्दु है जो यह दिखलाता है कि 'म,छ' मूल्यपर 'म ग' मांग है। 'क ख' रेखा 'प' बिन्दु पर स्पर्श-रेखा है। मांगकी लोच 'प' बिन्दुपर 'प क': 'प ख' अनुपात द्वारा प्रकट कीजाती है। यदि 'प ख' = (२ × प क) तो मांगकी लोच २ हुई, अर्थात् यदि मूल्यमें एक प्रतिशत कमीहो तो मांगके परिमाणमें २ प्रतिशत वृद्धि होगी। इसी सम्बन्धको 'ग क': 'ग म' अथवा 'म छ': 'ख क' अनुपात द्वाराभी प्रकट कर सकते हैं।

मांग की लोच में भिन्नता

किसीभी वस्तुकी मांग-लोच सभी मनुष्यों अथवा सभी मूल्योंपर समान नहीं

होसकती है। फिरभी साधारणत: हम कह सकतेहैं कि आवश्यकताकी वस्तुओंकी मांग कम लोचदार होतीहै और विलासिताकी वस्तुओंकी मांग अधिक लोचदार होती है। इसीप्रकार हम कह सकतेहैं कि साधारणत: किसी वस्तुके ऊंचे मूल्य-स्तरों पर मांग अधिक लोचदार होती है और जैसे जैसे मूल्य गिरता जाता है, लोच भी कम होती जाती है। यहां तक कि बहुत कम मूल्य-स्तर पर लोच शून्य होसकती है। उदाहरणके लिए घड़ीकी मांगसे गेहूंकी मांग कम लोचदार होगी और घड़ीकी मांगमें भी ऊंचे मूल्यपर अधिक लोच और बहुत कम मूल्यपर कम लोचकी सम्भावना होगी। इस प्रकारके साधारण सम्बन्धोंमें कठिनाई यह होतीहै कि कोई वस्तु एक मनुष्यके लिये आवश्यकताकी और दूसरेके लिए विलासिताकी वस्तु समझी जा सकती है। उदाहरणके लिए विश्वविद्यालयका छात्र फाउन्टेनपेन को आवश्यक वस्तु समझे परन्तु एक मज़दूरके लिए तो वह विलासिताकी वस्तु ही समझी जायेगी। इसी प्रकार धनी व्यक्तिके लिए दो रुपये सेरके हिसाबसे चीनीका मूल्य भले ही ऊंचा न हो परन्तु एक मध्यम श्रेणीके व्यक्तिके लिए तो यह मूल्य ऊंचाही होगा।

मांगकी लोचमें भिन्नता होनेके कुछ प्रमुख कारण नीचे दिये जाते हैं :

(१) यदि किसी वस्तुकी स्थानापन्न वस्तुएं प्रचुरतासे प्राप्त हों और वह उस वस्तुका स्थान सुगमताके साथ ग्रहण कर सकें तो उस वस्तुकी मांग अधिक लोचदार होगी। इसका कारण यहहै कि यदि उस वस्तुके मूल्यमें कमी होजाये तो लोग अन्य स्थानापन्न वस्तुओंके बदले इस वस्तुको अधिक मात्रामें लेने लगेंगे और यदि उसके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो इसको छोड़कर अन्य स्थानापन्न वस्तुओंको लेंगे जिससे इसकी मांगमें अधिक कमी होजायेगी।

यदि किसी वस्तुकी कोई योग्य स्थानापन्न वस्तु न हो अथवा स्थानापन्न वस्तुओं की संख्यामें कमी होजाये तो उस वस्तुकी मांग कम लोचदार हो जायेगी; क्योंकि वस्तुओंके चुनावका क्षेत्र इस प्रकार संकुचित होजाता है। उदाहरणके लिए बाज़ारमें अनेक प्रकारकी चाय बिकती है। यदि एक प्रकारकी चायके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो अनेक लोग दूसरे प्रकारकी चाय खरीदने लगेंगे। अतएव पहिली चाय की मांगमें बहुत कमीकी सम्भावना रहेगी। परन्तु यदि एकही प्रकारकी चाय होती तो चायके उपभोक्ताओंको यह सुविधा प्राप्त न होती और मूल्य बढ़नेपर भी उनको यही चाय खरीदनी पड़ती अर्थात चायकी मांग कम लोचदार होती।

(२) यदि किसी वस्तुका उपयोग अनेक कार्योंमें होसकता हो तो उसकी मांग अधिक लोचदार होगी क्योंकि मूल्यके गिर जानेसे उस वस्तुका उपयोग उन कार्यों में भी होने लगेगा जिनमें ऊंचे मूल्यपर नहीं किया जाता था और मूल्यके बढ़जाने पर उस वस्तुका उपयोग अधिक आवश्यक कार्यों तकही सीमित रहेगा।

(३) यदि किसी वस्तुके मूल्य बहुत ऊंचे स्तरसे गिरकर नीचे स्तरपर आजायें तो न केवल ऊंचे मूल्यपर खरीदनेवाले उपभोक्ता उस वस्तुको अधिक मात्रामें खरीदने लगेंगे वरन् निम्न आयवाले उपभोक्ताभी उसकी ओर अधिक संख्यामें आकर्षित होने लगेंगे। निम्न आयवाले उपभोक्ता अधिक संख्यामें पाये जाते हैं अतएव ऐसा होनेपर मांगमें अधिक वृद्धि होजाती है। ऐसी अवस्थामें मांग अधिक लोचदार होजाती है। परन्तु यदि किसी वस्तुका मूल्य आरम्भसे ही इतने नीचे स्तर पर हो कि न्यूनतम आयवाले उपभोक्ताभी उस मूल्यपर पर्याप्त मात्रामें उस वस्तुको खरीद लेतेहैं तो ऐसी अवस्थामें मूल्य घटनेपर मांगमें बहुत कम वृद्धि होगी। अर्थात् मांगमें बहुत कम लोच रहेगी।

(४) यदि कुल व्ययकी तुलनामें किसी एक वस्तु पर नगण्य व्यय होता है तो उस वस्तु की मांगमें कम लोच रहती है। उदाहरणके लिए किसी परिवारमें महीनेमें भोजनके पदार्थोंमें जितना व्यय होताहै उसकी तुलनामें नमक पर नगण्य ही व्यय होता है। अतएव यदि नमकके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो भी उसकी मांगमें अधिक कमी नहीं होगी। परन्तु यदि कुल व्ययका एक बड़ा भाग किसी एकही वस्तुके उपर होताहो तो ऐसी वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होनेसे उसकी मांगके परिमाणको अधिक घटानेकी प्रवृत्ति होगी।

यदि दो वस्तुओंकी मांग सम्मिलित हो तो जिस वस्तुपर कम व्यय होताहै, उस की मांगमें कम लोच होती है। उदाहरणके लिए धूम्रपानके लिए सिगरेट और दियासलाईकी सम्मिलित मांग रहतीहै और धूम्रपानके कुल व्ययमें दियासलाई पर किया गया व्यय बहुत कम रहता है। अतएव दियासलाईके मूल्यमें वृद्धि होने के कारण धूम्रपानमें अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा और दियासलाईकी मांगमें भी अधिक कमी नहीं होगी।

(५) जो वस्तुएं टिकाऊ होतीहैं और जो मरम्मत होनेपर कामके योग्य बन सकतीहैं उनकी मांगमें अधिक लोच होती है। उदाहरणके लिए यदि जूतोंके

मूल्यमें वृद्धि होजाये तो हम कुछ समय तक मरम्मत करवा कर पुराने जूतोंसे काम चला सकते हैं। नये जूतोंके मूल्यकी तुलनामें मरम्मतमें बहुत कम पैसा लगता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि किसी वस्तुकी मांगकी लोचका विषय पेचीला है। इसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए कई बातोंको साथ साथ ध्यानमें रखना पड़ता है।

मांग की लोच का महत्व

मांगकी लोचका ज्ञान अनेक व्यावहारिक कार्योंमें आवश्यक होता है। किसी भी उत्पादक अथवा विक्रेताको केवल इतनाही जान लेना पर्याप्त नहीं होता कि वह चालू मूल्यपर किसी वस्तुको किस परिमाणमें बेच सकता है। वह यहभी जानना चाहेगा कि यदि वह किसी वस्तुका मूल्य कम करे तो उसकी बिक्रीमें कितनी वृद्धि होगी। यदि मूल्यमें कमी करनेसे मांग बहुत बढ़ जातीहै तो सम्भवत: मूल्य घटानेसे प्रति अदद जो क्षति उसको होतीहै, उससे अधिक लाभ उसको बिक्रीमें वृद्धिसे होसकता है। परन्तु यदि मांग बहुत कम बढ़े तो उसको हानि होनेकी सम्भावना है। साधारणत: जिन वस्तुओंमें बहुत कम लोच रहतीहै उनका मूल्य अधिक रहनेपर विक्रेताको अधिक लाभ होनेकी सम्भावना रहती है। प्रत्येक विक्रेता को, चाहे वह वस्तुओंको बेचे अथवा अपना श्रम बेचे, यह बात ध्यानमें रखनी पड़तीहै कि प्रत्येक अवस्थामें मूल्य अधिक रखनेसे ही अधिक आय नहीं होती है। एकाधिकारीको अपना मूल्य और उत्पत्तिकी मात्राका निर्धारण करनेमें विशेष रूप से मांगकी लोचको ध्यानमें रखना पड़ता है; जैसाकि एकाधिकारी मूल्यके प्रकरण में बताया जायेगा।

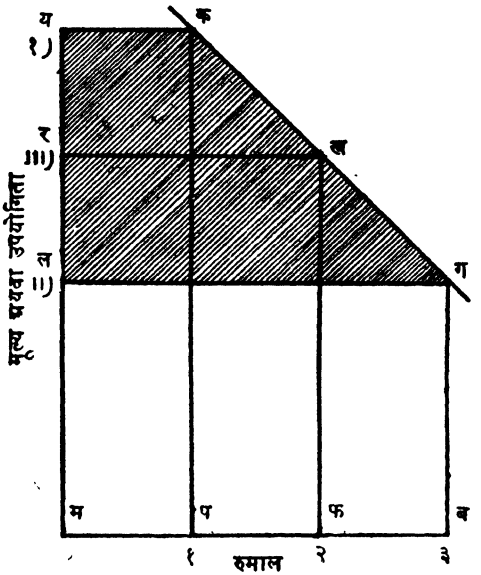
राज्यको भी अपनी कर-नीतिके सम्बन्धमें मांगकी लोचको ध्यानमें रखना पड़ता है। यदि किसी वस्तुपर राज्यको अपनी आय बढ़ानेके लिये कर लगाना आवश्यकहो तो वह ऐसी वस्तुओं पर कर लगाताहै जिनकी मांगमें कम लोच हो। यदि अधिक लोचवाली वस्तुओं पर कर लगाया जाये तो करके कारण मूल्यमें वृद्धि होने पर उनकी मांग बहुत घट जायेगी और राज्यको अधिक आय नहीं होगी।

उपभोक्ता की बचत

कुछ समय पूर्व अर्थशास्त्र की पुस्तकोंमें 'उपभोक्ताकी बचत' के विषयको बहुत

बड़ा महत्व दिया जाता था। क्रमागत उपयोगिता-ह्रास नियम और मांगकी तालिका पर इसको आधारित किया गया है। किसी भी उपभोक्ताको किसी भी वस्तुकी प्रारम्भिक इकाइयोंसे अधिक तृप्ति तथा क्रमागत बढ़ती हुई इकाइयोंसे कम तृप्ति मिलती है। अतः वह प्रारम्भिक इकाइयोंके लिये अधिक मूल्य देनेको तत्पर होगा और बढ़तीहुई इकाइयों पर कम मूल्य लगायेगा क्योंकि उसकी आवश्यकताकी उग्रता कम होती जाती है। उदाहरणके लिए मान लीजिए एक रूमालके लिए कोई मनुष्य एक रुपया तक देनेको तैयार है, दूसरे रूमालके लिए बारह आना और तीसरेके लिए आठ आना क्योंकि एक रूमालसे वह एक रुपयेके बराबर तृप्ति की, दो रूमाल खरीदनेपर बारह आनेके बराबर तृप्तिमें वृद्धिकी अर्थात् १ रुपया १२ आनेके बराबर कुल तृप्तिकी और तीन रूमाल खरीदने पर आठ आनेके बराबर तृप्ति में वृद्धिकी अर्थात् २ रुपये ४ आनेके बराबर कुल तृप्तिकी आशा करता है। यदि बाजारमें प्रति रूमालका मूल्य आठ आना हो तो वह तीन रूमाल खरीदेगा, जिनका मूल्य डेढ़ रुपया हुआ। परन्तु उसको कुल तृप्ति सवादो रुपयेके बराबर हुई क्योंकि वह तीन रूमालोंके लिए सवा दोरुपये तक देनेको तत्पर था। अतएव उसको (सवा दो-डेढ़) अर्थात् १२ आनेकी बचत हुई। इस उदाहरणको रेखाचित्र द्वाराभी दिखाया जासकता है।

इस रेखाचित्रमें उपभोक्ता एक रूमालके लिये १ रुपया तक मूल्य देनेको तत्पर है। उपयोगिताके रूपमें हम कह सकतेहैं कि वह एक रूमालसे 'म प' 'क य' उपयोगिता प्राप्त करनेकी आशा करता है। दूसरे रूमालसे १२ आने अथवा 'प फ' 'ख क' उपयोगिता और तीसरेसे ८ आने अथवा 'फ ब' 'ग ख' उपयोगिताकी आशा करता है। तीन रूमालों पर ८ आना प्रति रूमालकी दर अर्थात् 'म ल' मूल्य पर कुल व्यय डेढ़ रुपया अर्थात् 'म ब' 'ग ल' हुआ। उपयोगिताके शब्दोंमें उसको डेढ़ रुपया देनेसे अपनेको 'म ब ग ल' के बराबर उपयोगितासे वंचित करना पड़ा। परन्तु उसको तीन रूमालोंसे १ रुपया + १२ आने + ८ आने = सवा दो रुपया अथवा 'म ब ग क य' क्षेत्रफलके बराबर उपयोगिता प्राप्त हुई। अतएव सवा दो रुपया – डेढ़ रुपया = १२ आने अथवा 'म ब ग क य' – 'म ब ग ल' = 'य क ग ल' क्षेत्रफलके बराबर उपभोक्ता की बचत हुई।



उपभोक्ताकी बचतको संख्याके रूपमें अथवा क्षेत्रफलके रूपमें प्रकट करनेमें कोई वास्तविकता नहीं है। हम जानतेहैं कि उपयोगिताकी संख्यामें माप नहीं हो सकती है। यह कहना कि उपयोगिता कम या अधिक है; एक बातहै और यह कहना कि उपयोगिता १०० है अथवा ८० है दूसरी बात है। इसी प्रकार उपयोगिताके आधारपर यह कहना कि वस्तुकी पहिली प्रतिके लिए कोई मनुष्य १० रुपये देनेको तत्पर है, दूसरीके लिए ९ रुपये इत्यादि औरभी भ्रम-मूलक है। समाजमें भिन्न भिन्न परिस्थिति, रुचि और आयके लोग रहते हैं, जिनके सम्बन्धमें किसीभी वस्तुकी भिन्न भिन्न प्रतियोंकी उपयोगिताकी संख्यामें अथवा मूल्यके रूप में प्रकट करना असम्भव कार्य है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तुके लिए कोई मनुष्य कितना द्रव्य देनेको तत्पर है, यह उस वस्तुकी स्थानापन्न वस्तुओंकी उपस्थिति और उनके मूल्य परभी निर्भर रहता है। यदि भूखके निवारणके लिए केवल रोटीही एक वस्तुहो तो एक भूखा मनुष्य एक रोटीके लिए सब कुछ देनेके लिए तत्पर होसकता है। परन्तु पेट भरनेके लिए अन्य वस्तुओंकी उपस्थिति में

उसकी यह भावना नहीं होगी। एक भूखा धनी मनुष्य एक रोटी के लिए १००० रुपये तक देनेको तत्पर होसकताहै परन्तु यदि रोटी १ आने को मिलती हो तो इस कथनको कि रोटीसे उसको ९९९ रुपये १५ आनेके बराबर उपभोक्ता की बचत हुई, व्यवहारिक ज्ञान माननेको हम तैयार नहीं होसकते हैं। इस प्रसंगमें हम यहभी बतला देना चाहतेहैं कि हम मांगकी रेखाको उन मूल्योंके सम्बन्धमें नहीं बना सकतेहैं जो व्यवहारमें कभी रहती नहीं। अर्थात् यदि रोटीका मूल्य १००० रुपये प्रति रोटीहो तो कितनी मांग होगी, यह अंकोंमें बतलाना असम्बद्ध बात है। जो चलते मूल्यहैं उन्हीं के सम्बन्धमें मांगका परिमाण बतलाया जासकता है। इसीप्रकार एक भूखे आदमीको पहिली रोटीसे बेहिसाब उपयोगिता मिलती है। अतएव किसी वस्तुको मोल लेनेसे प्राप्त उपभोक्ताकी बचतको निर्धारित करना असम्भव होजाता है।

४

तटस्थ रेखाएं

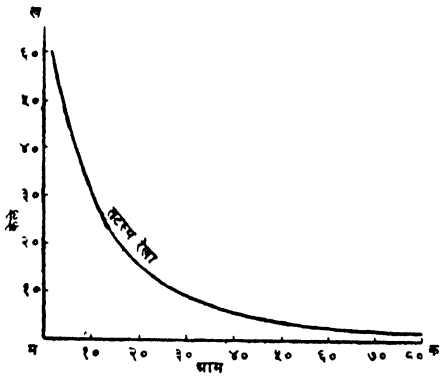
उपयोगिता का दोष

उपयोगिताका उपयुक्त माप न होनेके कारण तटस्थ रेखाओं द्वारा मांग और मांग के नियमोंका अध्ययन किया जाने लगा है। इन रेखाओंके जन्मदाता तो एजवर्थ थे परन्तु अर्थशास्त्रमें इनका प्रयोग पैरेटो और हिक्सने किया है।

एजवर्थ ने इन रेखाओंकी परिभाषा इस प्रकारकी है; तटस्थ रेखा वह पथहै जिसपर चलनेसे एक वस्तुके स्थानपर दूसरी वस्तुको किसीभी प्रकार और किसी भी मात्रामें प्रयोगमें लानेसे व्यक्ति विशेषको प्रत्येक स्थितिमें समान ही तृप्ति प्राप्त होती है। तटस्थ रेखा बनानेके लिए हमें तटस्थ तालिकाकी आवश्यकता पड़ती है। वह इसप्रकार बनायी जासकती है। मान लीजिए मेरे पास १०० आम और आपके पास कुछ केले हैं। आप मुझे अपने भन्डारमें से केले उठानेकी आज्ञा देते हैं, किन्तु एक प्रतिबन्ध लगाकर। आपके भन्डारसे मैं केले तभी ले सकूंगा जब उन्हें अपनेलिए उपयोगी समझूंगा। आपका प्रतिबन्ध केवल इतना है; 'केले चाहे जितने उठालो परन्तु उनके समान उपयोगिता जितने आमोंसे तुम्हें मिलती है, उतने आम मेरे भन्डार में रख दो।' मानलिया कि पहिला केला उठाकर मैंने २० आम रख दिये। दूसरा उठाकर १६, तीसरा उठाकर १०, फिर दो उठाकर १२ इत्यादि। स्पष्टहै कि इस प्रकारके जितनेभी विनिमय होंगे उनके बाद प्रत्येकबार मेरेपास जितनेभी आम और केलोंके समूह होंगे, उनसे कुल मिलाकर मुझे समान ही तृप्ति प्राप्त होती रहेगी क्योंकि आमोंके रूपमें हम प्रत्येकबार जितनी उपयोगिता देते हैं, केलोंके रूपमें ठीक उतनीही हमें मिलजाती है। पृष्ठपर एक तटस्थ तालिका दीगयी है:

१००	आम	+	० केले
८०	,,	+	१ ,,
६४	,,	+	२ ,,
५४	,,	+	३ ,,
४२	,,	+	५ ,,
३३	,,	+	८ ,,
२१	,,	+	१४ ,,
१६	,,	+	१८ ,,
१२	,,	+	२६ ,,
६	,,	+	४४ ,,
२	,,	+	५२ ,,
१	,,	+	६० ,,

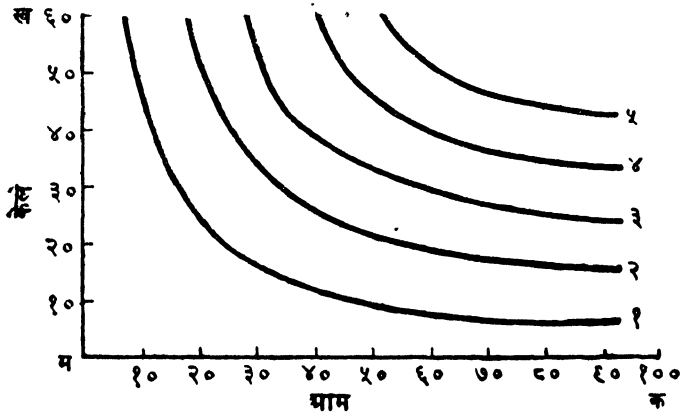
हर पंक्तिमें दियेगये आमों और केलोंके समूहसे हमें एकही जैसी तृप्ति प्राप्त होती है। इन समूहोंको हम अपने ज्यामितिज्ञान द्वारा रेखांकित कागज़पर इस प्रकार प्रदर्शित करसकते हैं :



इस रेखाचित्रमें 'म, क' और 'म ख' प्रधान रेखायें हैं जोकि एक दूसरे पर 'म' बिन्दुपर समकोण बनाती हैं। 'म' बिन्दुको आरम्भ स्थान कहते हैं। और 'म, क' रेखापर आम दिखाये गयेहैं और 'म, ख' रेखापर केले।

तटस्थ रेखा का आकार

इस प्रकार ऊपर दिखायेगये प्रत्येक समूहके लिए हमें एक बिन्दु प्राप्त होगा। इन सब बिन्दुओं से होकर जानेवाली बक्ररेखा का नाम तटस्थरेखा है। आरम्भमें १०० आमोंके हमारे पास होनेसे हमें एक तटस्थरेखा प्राप्त होती है। यदि आरम्भ में हमारेपास १०० आम न होकर ८० आमही होते तो दूसरी तटस्थरेखा बनती जो पहिली रेखाके बायींओर नीचे होती तथा १२० आम होनेसे तीसरी और पहिली से ऊंची। इस प्रकार बहुतसी रेखाओंके समूहसे हमें एक तटस्थ रेखाचित्र प्राप्त होता है। उसका आकार प्रकार निम्नांकित होगा :



ये रेखाएं आरम्भ स्थान 'म' की ओर उभरीहुई रहती हैं। ऊंची और दायीं ओरकी रेखाएं उन समूहोंकी द्योतक हैं जिनकी उपयोगिता नीची और बायीं ओर की रेखाओं द्वारा द्योतक समूहोंसे अधिक है।

नीची रेखासे चाहे हम दायीं ओर बढ़ें, चाहे ऊपरकी ओर, हम एक ऊंची रेखापर पहुंच जायेंगे, इसका अर्थ यहहुआ कि एकवस्तु तो हमारेपास वैसीकी वैसी रहे, परन्तु दूसरी हमें और मिलजाये तो हमें अधिक तृप्ति प्राप्त होगी। उदाहरणके लिए ऊपर दीगयी तालिकाके अनुसार ३३ आम और ८ केलोंके समूह के स्थानपर यदि ३३ आम और १० केलेहों तो इस समूहसे हमें पहिले समूहकी

अपेक्षा अधिक तृप्ति प्राप्त होगी। इन रेखाओंका समानान्तर होना आवश्यक नहीं है।

पैरेटो का विचारथा कि उपयोगिताको काममें लायेबिना तटस्थ रेखाओंकी सहायतासे मांगका पूरा सिद्धान्त खड़ाकिया जासकता है परन्तु आर्थिक सिद्धान्तकी व्याख्या करते समय वह स्वयं उपयोगिताको मापी जासकने वाली वस्तु ही मानता रहा। हिक्सने पैरेयेके इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न किया है।

स्थानापन्नता की दर

इतनातो कहनेमें आपत्ति नहीं कि उपभोक्ता वस्तुओंके एक समूहको दूसरे समूहसे वांछनीय समझता है। कितना वांछनीय समझता है, इससे हमारा प्रयोजन नहीं। इस सिद्धान्तके लिए इतनाही कहना पर्याप्तहै कि वह अधिक वांछनीय समझता है। वस्तुओंके संग्रहकी सीमान्त इकाई वह होतीहै जिसकी प्राप्ति या हानिपर विचार किया जारहा हो। जब किसी समूहसे एक वस्तुकी इकाइयां निकालकर दूसरी वस्तुकी इकाइयोंको रखा जारहा होताहै तबहम पहिली वस्तुके स्थानपर दूसरी वस्तुको स्थानापन्न करना चाहते हैं। स्थानापन्नताकी दरसे हमारा तात्पर्य पहिली वस्तुकी उतनी इकाइयोंसे है जिनके स्थानपर दूसरी वस्तुकी एक इकाईको स्थानापन्न कियाजाता है। हमारी तटस्थ तालिकामें हमारेपास ८० आम और १ केला था। उसके उपरान्त हमें १६ आम देकर १ केला मिला। सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १६–१ हुई तदनन्तर हमें १० आम देकर १ केला मिला तब सीमान्त आमोंके स्थानापन्नताकी दर १०–१ हुई। फिर दो स्थानमें १२ केले मिले अतएव सीमान्त स्थानापन्नताकी दर ६–१ हुई। इसके बाद ३–१ इत्यादि।

इस दरका एकगुण यहहै कि यह ठीक उसीप्रकार घटती जातीहै जैसेकि सीमान्त उपयोगिताका क्रमशः ह्रास होता चला जाता है। यदि हम उपयोगिताको भलीप्रकार मापनेमें असमर्थ हैं तो सीमान्त उपयोगिताको मापनाभी हमारे सामर्थ्य में नहीं है। परन्तु दो वस्तुओंकी सीमान्त उपयोगिताओंको पृथक पृथक मापनेमें असमर्थ होने पर भी उनके पारस्परिक अनुपातको ठीक प्रकारसे मापनेका तटस्थ रेखाओंद्वारा एक ढंग है।

सीमान्त उपयोगिताओंका अनुपात

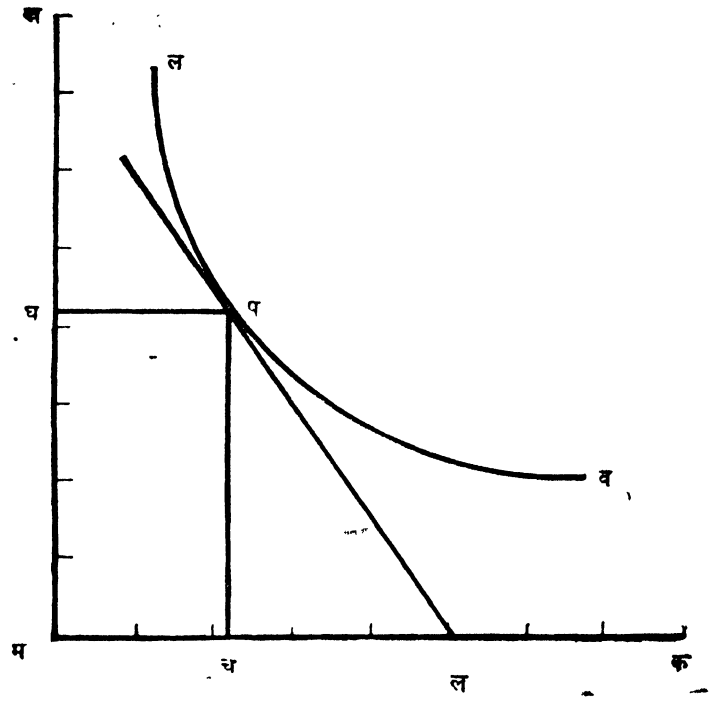
मानलीजिए हमारेपास 'क' और 'ख' दो वस्तुओंका एक समूह है और इस समूह से हमें कुछ उपयोगिता मिलरही है। हम 'क' की कुछ इकाइयोंके स्थानपर 'ख' की कुछ इकाइयां लेनाभी चाहते हैं परन्तु इसप्रकार कि 'क' की इकाइयां देकर हमें उपयोगिताकी जितनी हानिहुई वह सब 'ख' की इकाइयोंसे पूरी होजायेगी अर्थात् हमें मिलनेवाली उपयोगितामें इस अदल-बदलके कारण हानि न हो या यों कहलीजिए कि इस अदल-बदलके होते हुएभी हम एकही तटस्थरेखा पर ऊपर नीचे होते रहें। इस लेनदेनमें हमें उपयोगिताका कुल लाभ 'ख' की कुल प्राप्त इकाइयां × 'ख' की सीमान्त उपयोगिता होगी और उपयोगिताकी कुल हानि 'क' की कुल दीगयी इकाई × 'क' की सीमान्त उपयोगिता होगी। यह हानि-लाभ परस्पर बराबर होना चाहिए। इस सम्बन्धको नीचे दिये समीकरण द्वारा दिखाया गया है:

'ख' की प्राप्त इकाइयां × 'ख' की सीमान्त उपयोगिता =
'क' की दीहुई इकाइयां × 'क' की सीमान्त उपयोगिता

अथवा $\frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'ख' की प्राप्त इकाइयां}}{\text{'क' की दीगयी इकाइयां}}$

तटस्थ रेखा की स्पर्शरेखा और उसका ढलान

इसप्रकार सीमान्त उपयोगिताओंके पारस्परिक अनुपातको ठीक प्रकारसे मापने का एक ढंग हमें प्राप्त होजाता है। इस अनुपातको तटस्थरेखा द्वारा दिखानेका भी एक ढंग है। मान लीजिए 'ल' 'व' एक तटस्थ रेखा है। इस रेखापर 'प' कोई बिन्दु ले लीजिए। इस बिन्दुसे मुख्य रेखाओंपर 'प, च' और 'प, घ' दो लम्ब खींचिये। 'प, ल' रेखा इस प्रकार खींचिए कि वह तटस्थ रेखा को 'प' बिन्दु पर केवल स्पर्शही करे, जैसाकि पृष्ठपर के चित्रमें दिखाया गया है:



तब जिससमय किसी व्यक्तिके पास 'क' की 'प, घ' अथवा 'म, च' मात्रा और 'ख' की 'प, च' मात्रा हो तो :

$$\frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'प, च'}}{\text{'म, च'}}$$

इस अनुपातको 'प, ल' रेखाकी ढलान कहाजाता है और यह ढलान ज्यामिति के नियमोंके अनुसार भलीप्रकार मापा जासकता है। इससे सिद्धहुआ कि पृथक सीमान्त उपयोगिताके स्थानपर उन दोनोंके अनुपातको केवल अनुमानसे ही नहीं प्रत्युत् गणित शास्त्रके नियमोंके अनुसार भलीप्रकार मापा जासकता है।

इसप्रकार तटस्थ रेखा, किसी बिन्दुपर उसकी ढलान और सीमान्त स्थानापन्नता की दरकी सहायतासे उपयोगिता, सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के ह्रास नियमके बिनाही मांगके सिद्धान्त को खड़ा किया जासकता है।

आय रेखा

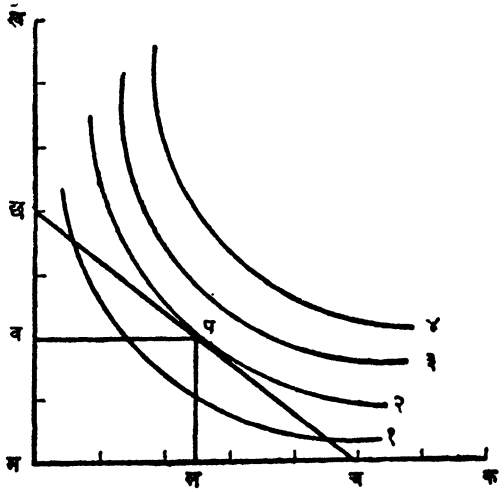
मान लीजिए कोई उपभोक्ता अपनी कुल आय केवल दो वस्तुओं 'क' और 'ख' पर व्यय करता है और निम्नलिखित बातोंसे परिचित हैं :

(१) तटस्थ रेखाचित्र, जो नीचे दिखाया गया है।

(२) कुल आय।

(३) 'क' और 'ख' का बाज़ार-मूल्य।

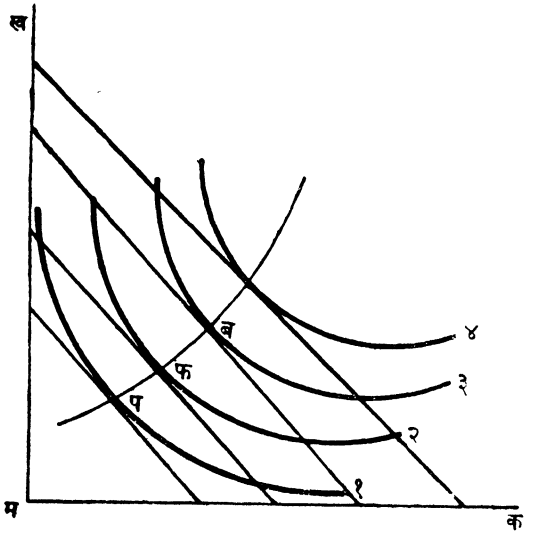
इस आयसे वह उपभोक्ता 'क' और 'ख' को किस मात्रामें खरीदेगा हम 'क' और 'ख' की उपयोगिताको जाने बिनाही मालूम करसकते हैं।



मान लीजिए उपभोक्ता अपनी कुल आयसे केवल 'क' की 'म, च' मात्रा खरीद सकता है और केवल 'ख' की 'म, छ' मात्रा। 'च','छ' को मिलानेसे जो रेखा प्राप्त होगी वह चित्रकी किसी एक तटस्थ रेखाको केवल स्पर्श ही करसकेगी। मान लीजिए 'च, छ' रेखा तटस्थ रेखा २ को 'प' पर स्पर्श करती है। 'प' से मुख्य रेखाओंपर 'प, ल' और 'प, व' लम्ब खींचिये। तब अधिकसे अधिक उपयोगिता प्राप्त करनेके लिए वह व्यक्ति 'क' की 'प, व' अथवा 'म, ल' मात्रा और 'ख' की 'प, ल' अथवा 'म, व' मात्रा खरीदेगा। 'च, छ' रेखाको आयरेखा कहा जाता है।

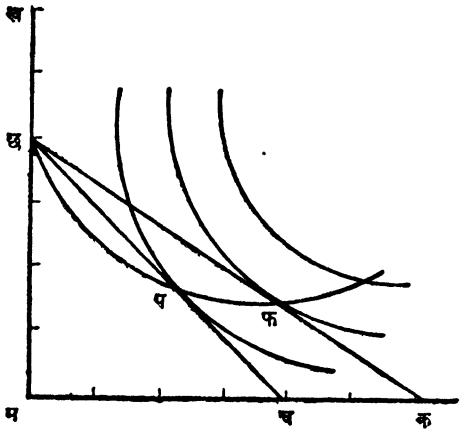
आय-उपभोग रेखा

अब मान लीजिए, उस व्यक्तिकी आयमें क्रमशः वृद्धि होती जारही है। यदि बाज़ार भाव वैसेही रहें तो 'प' बिन्दु क्रमशः ऊंची तटस्थ रेखाओंपर चला जायेगा। निम्न चित्रमें तटस्थ रेखा २ और ३ पर 'फ' और 'ब' इस प्रकारके बिन्दु हैं, जिनको मिलाने से 'प,फ,ब' जो रेखा प्राप्त होगी, उसे आय-उपभोग रेखा कहते हैं:



मूल्य-उपभोग रेखा

अब मान लीजिए कि उपभोक्ताकी आय और 'ख' वस्तुके बाज़ार भावमें कोई अन्तर नहीं हुआ है परन्तु 'क' वस्तुका बाज़ार भाव गिर गयाहै अब वह अपनी कुल आयसे 'ख' वस्तुकी तो पूर्ववत् मात्रा खरीद सकताहै पर 'क' वस्तुकी पहिले से अधिक। आय रेखाभी पहिलेसे अधिक ऊंची तटस्थ रेखाको स्पर्श करेगी और जैसे जैसे 'क' का भाव गिरता जायेगा वैसे वैसे आयरेखा ऊंची ऊंची तटस्थ रेखाओंको स्पर्श करती चली जायेगी। यही बात सामनेके चित्रमें दिखायी गयी है:



'छ,प,फ' इत्यादिको मिलानेसे प्राप्त होनेवाली रेखाको मूल्य-उपभोग रेखाके नामसे पुकारा जाता है। हमने अबतक केवल दो वस्तुओं 'क' और 'ख' पर विचार किया है। यदि 'क' के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओंके बाज़ारभाव निश्चित रहें तो 'ख' वस्तु अन्य वस्तुओंका प्रतिनिधित्व कर सकती है और 'ख' का स्थान सामान्य क्रय-शक्ति लेसकती है। तटस्थरेखा तब अन्य सब वस्तुओंके स्थानपर 'क' की स्थानापन्नता दरकी द्योतक होजाती है और मूल्य-उपभोग रेखा 'क' की मांग रेखाका रूप धारण करलेती है।

स्थानापन्नता की लोच

तटस्थ रेखाके प्रत्येक बिन्दुपर 'क' और 'ख' वस्तुओंमें एक विशेष अनुपात होता है। जब हम 'क' की थोड़ी मात्राके स्थानपर 'ख' की थोड़ी मात्राको स्थानापन्न करते हैं तो इस अनुपातमें परिवर्तन आजाता है और स्थानापन्नताकी दरमें भी। वस्तुओंके पारस्परिक अनुपातमें होनेवाले परिवर्तनकी मात्राको यदि हम सीमान्त स्थानापन्नताकी दरमें होनेवाले परिवर्तनकी मात्रासे भागदें तो हमें उस विशेष बिन्दुपर 'क' के स्थानपर 'ख' का प्रतिस्थापन करनेकी स्थानापन्नताकी लोच प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए नीचे दीगयी तालिकाका पांचवां समूह देखिए। इसमें

४२ आम और पांच केले हैं। केले और आमोंका अनुपात ५:४२ हुआ और सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १: ३ हुई। अब एक केलेके स्थानपर एक आम लीजिए। इस हिसाबसे नया अनुपात ४: ४३ होजाता है और नयी सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १: ११ हुई।

इसप्रकार वस्तुओंके पारस्परिक अनुपातमें परिवर्तन

$$= \frac{५}{४२} - \frac{४}{४३} = \frac{४७}{१८०६}$$

सीमान्त स्थानापन्नताकी दरमें परिवर्तन

$$= \frac{१}{३} - \frac{१}{११} = \frac{८}{३३}$$

स्थानापन्नताकी लोच

$$= \frac{४७}{१८०६} \div \frac{८}{३३}$$

$$= \frac{४७}{१८०६} \times \frac{३३}{८}$$

$$= \frac{५१७}{४८१६}$$

$$= १ (\text{लगभग})$$

५

बाज़ार

बाज़ारों के प्रकार

साधारण बोलचालमें बाज़ारसे हमारा अभिप्राय उस स्थानसे होताहै जिस स्थान पर किसी वस्तु अथवा वस्तुओंके खरीदने तथा बेचनेवाले एकत्रित होतेहैं जैसे फलबाज़ार' सब्ज़ीमंडी इत्यादि। अर्थशास्त्रमें बाज़ार किसी विशेष स्थानको नहीं कहते बल्कि कूर्मा के अनुसार, पृथ्वीका कोईभी छोटा या बड़ा भाग जिसपर खरीदने और बेचनेवाले इस प्रकार परस्पर व्यवहार कर सकतेहैं कि एकही प्रकारकी वस्तुओंके मूल्य एकसे ही होते चले जायें, बाज़ार कहा जासकता है। बाज़ारोंका उनके विस्तारके अनुसार वर्गीकरण किया जासकता है, जैसे प्रान्तीय बाज़ार, राष्ट्रीय बाज़ार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार। बाज़ारोंमें जिन वस्तुओंका क्रय-विक्रय होता है, उनके अनुसारभी वर्गीकरण किया जासकता है। जैसे गेहूंका बाज़ार, श्रमका बाज़ार, विदेशी मुद्रा विनिमय बाज़ार, पूंजीका बाज़ार, जायदाद का बाज़ार इत्यादि।

बाज़ार शुद्ध अथवा अशुद्धभी होसकते हैं। शुद्ध बाजारसे हमारा अभिप्राय उस बाज़ारसे है जिसमें:

(१) प्रत्येक ग्राहक और विक्रेता बाज़ार भावसे भलीभांति परिचित होता है।

(२) कोई भी ग्राहक किसीभी विक्रेतासे वस्तु खरीद सकता है।

(३) कोईभी विक्रेता किसीभी ग्राहकको वस्तु बेच सकता है। ऐसी स्थिति में बाज़ारके पूरे विस्तारपर उस वस्तुका एकही मूल्य होनेकी प्रवृति होगी। कारण यहहै कि यदि कोईभी विक्रेता इससे कम मूल्यपर बेचनेके लिए तैयार हो तो सबके सब ग्राहक उसीसे खरीदेंगे, जबतक कि उसका वस्तुसंग्रह समाप्त नहीं होजाता अथवा वह फिर वस्तुका मूल्य नहीं बढ़ा देता अथवा दूसरे विक्रेताभी मूल्य घटाकर उसके तुल्य नहीं कर देते। इसी प्रकार यदि कोई विक्रेता अधिक

मूल्य लेनेकी चेष्टा करताहै तो उसके पास कोई ग्राहक न आयेगा, जबतक कि दूसरे विक्रेताओंसे वस्तु कम मूल्यपर मिल सकती हो।

बाज़ारको अशुद्ध उससमय कहा जाताहै जबकि कतिपय ग्राहक या कतिपय विक्रेता या कतिपय ग्राहक तथा कतिपय विक्रेता बाज़ार भावसे अनभिज्ञ हों।

शुद्ध बाज़ार के लक्षण

शुद्ध बाज़ारके लिए आवश्यकहै कि उसमें क्रय-विक्रय किये जानेवाली वस्तुका भलीभांति वर्गीकरण किया जासके ताकि ग्राहकों और विक्रेताओंको सुगमतासे पता चलसके कि वे क्या खरीद अथवा बेचरहे हैं। यदि एकही वस्तुके दो भिन्न भिन्न वर्ग पृथक पृथक मूल्योंपर बिकें तो बाज़ार अशुद्ध नहीं होजाता वे दो नमूने वास्तवमें दो भिन्न वस्तुएं है। उदाहरणके लिए यदि कैप्स्टन और गोल्डफ्लेक सिगरेटके मूल्य बाज़ारमें अलग अलग हों तो इससे परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि सिगरेटका बाज़ार अशुद्धहै क्योंकि ये दो प्रकारकी सिगरेटें वास्तवमें दो भिन्न वस्तुएं हैं। वर्गीकरण ग्राहक और विक्रेता दोनोंके लिए लाभदायक होता है और बाज़ारको विस्तृत करनेमें सहायता देता है। वर्गीकरण द्वारा भविष्य के देन लेनके सौदे करनेमें भी सुगमता प्राप्त होती है। बाज़ारकी शुद्धताके लिए यातायात और पत्र-व्यवहार इत्यादिके समुचित साधन होनाभी अत्यन्त आवश्यक है। इससे बाज़ारकी स्थितिका ग्राहकों और विक्रेताओंको पता चलता रहता है। टेलीफ़ोन, तार, रेडिओ आदि आविष्कारोंके कारण इन साधनोंमें बहुत उन्नति हुई है। और इसी प्रकार मोटर, रेल, जहाज़ इत्यादि यातायातके साधनोंमें उन्नतिके कारण बाज़ार विस्तृत होगये है। विशेषकर कच्चे माल, अनाज इत्यादिके बाज़ारों का अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार होचुका है।

शुद्ध बाज़ारके लिए यहभी आवश्यक है कि मूल्य प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित हों। अर्थात् वस्तुओंको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जानेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु यदि कर लगानेपर भी किसी वस्तुका कर लगानेवाले देश अथवा प्रान्तमें आयात होता रहे, तो वह देश अथवा प्रान्त उस वस्तुके बाज़ारका भाग बना रहता है। करके कारण ऐसे देश अथवा प्रान्तमें वस्तुका मूल्य अवश्य

अधिक होगा परन्तु यदि किसी कारणसे वस्तु भेजनेवाले देशमें उसका मूल्य गिर जाताहै तो कर लगानेवाले देशमें वह वस्तु अधिक मात्रामें आने लगेगी और इस कारण वहांभी उस वस्तुका मूल्य गिरने लगेगा। परन्तु यदि उस वस्तुकी संख्या अथवा परिमाणपर नियन्त्रण लगादिये जायें तो नियन्त्रण लगानेवाला देश अथवा प्रान्त बाज़ारका भाग नहीं रहता। वह एक स्वतन्त्र बाज़ार बन जाताहै क्योंकि उस देश अथवा प्रान्तमें वस्तुके मूल्यका शेष संसारमें उसी वस्तुके मूल्यसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

शुद्ध बाज़ारके लिए यहभी आवश्यक समझा जाताहै कि वस्तुकी मांग अथवा पूर्तिपर किसीभी प्रकारके नियन्त्रण नहीं होने चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहींहै कि मूल्यके कम या अधिक होनेके कारण विक्रेता अथवा ग्राहक वस्तुको बेचने अथवा ख़रीदनेके लिए विवश किये जायें। वस्तुका मूल्य घटानेकी इच्छा से मांगको दबाये रखना अथवा उसका मूल्य बढ़ानेकी इच्छासे वस्तु को बेचने से इन्कार करना कृत्रिम साधन मानेजाते हैं।

शुद्ध बाज़ारके प्रत्येक भागमें वस्तुका एकमूल्य होनेसे अभिप्राय केवल वस्तु के वास्तविक मूल्यके एक होनेसे है। बाज़ारके विस्तृत होनेसे उत्पादनके स्थानसे उपभोगके स्थान तक ले जानेके लिये भाड़ा देना पड़ता है। उपभोगके स्थानोंके समीप अथवा दूर होनेके कारण भाड़ेके न्यूनाधिक होनेसे मूल्यमें अन्तर होसकता है। वस्तुत: स्थान-भेद एवं समय-भेदसे वस्तुही दूसरी होजाती है। स्थान-भेद होनेसे हमें उस वस्तुके मूल्यमें भाड़ा, बीमा, एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जानेवाले आढ़तियाका लाभ इत्यादि जोड़ना पड़ता है और समय-भेद होनेसे संग्रहकर्ताका लाभ, संग्रह करने का व्यय इत्यादि जोड़ना पड़ता है।

बाज़ार का विस्तार

बाज़ारके विस्तृत एवं अन्तर्राष्ट्रीय होनेके लिए यह आवश्यकहै कि उसमें वे सब गुण उपस्थित हों जो एक शुद्ध बाज़ारमें होने चाहिए। परन्तु इसके अतिरिक्त ऐसे बाज़ारके लिए कुछ औरभी बातोंकी आवश्यकता है। सबसे पहिले तो यह आवश्यकहै कि उस वस्तुका व्यापार बड़े पैमानेपर होता हो। वस्तुकी बनावट और

गुणोंमें भेद नहीं होना चाहिए। कारण यहहै कि ऐसा होनेपर वह वस्तु यद्यपि एकही आवश्यकताको सन्तुष्ट करती हो, परन्तु अपने विभिन्न स्वरूपोंके कारण प्रत्येक देश एवं प्रान्तमें उसका भिन्न भिन्न बाज़ार होगा। इसीलिए यदि एकही प्रकारकी वस्तुओंमें उत्पादक किसीभी व्यापार-चिन्ह इत्यादि द्वारा उपभोक्ताओं के मनमें अन्तर उत्पन्न करनेमें सफल होजायें, तो आधुनिक अर्थशास्त्री उन्हें भिन्न वस्तुएं मानेंगे। उनके अनुसार साबुन एक वस्तु नहीं है, जितनेभी प्रकारके साबुन बाज़ारमें मिलते हैं, वे भिन्न वस्तुएं हैं। यही कारणहै कि कच्चे मालका विस्तार तो अंतर्राष्ट्रीय होताहै परन्तु अर्धनिर्मित वस्तुओंके बाज़ारका विस्तार उनसे कम और पूर्ण निर्मित वस्तुओंका उनसेभी कम होता है। इसका कारण यहहै कि विक्रेता कच्चे मालकी अपेक्षा पूर्णनिर्मित अथवा अर्धनिर्मित वस्तुओंके सम्बन्धमें ग्राहकोंके मनमें विज्ञापन, व्यापार-चातुर्य, व्यापार-चिन्ह इत्यादि प्रकारोंसे पृथकत्वका भाव उत्पन्न करनेमें अधिक सफल होते हैं।

यदि वस्तुको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर सुगमतासे लेजाया जासकता है तो भी उसका बाज़ार विस्तृत होता है। भारी बोझवाली और कम मूल्यवाली वस्तुओंके बाज़ार प्रायः संकुचित होते हैं। उदाहरणके लिए कोयले और कच्चे लोहेका मूल्य उसकी तोलके हिसाबसे बहुत कम होता है। अतएव उनको दूर ले जानेके भाड़ेसे बचनेके लिए इनसे सम्बद्ध उद्योग धंधोंको ही ऐसे स्थानोंपर खोलते हैं, जहां इनकी खानें पायी जाती हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेकी सुगमता वस्तु विशेष, कितना स्थान घेरती है, इस बातपर निर्भर है। मेज़-कुर्सियों आदिके बाज़ार प्रायः विस्तृत नहीं होते क्योंकि ये वस्तुएं रेलगाड़ी, जहाज़ आदि में बहुत जगह घेरती हैं। और इसकारण भाड़ा बहुत देना पड़ता है।

विस्तृत बाज़ारके लिए वस्तुका चिरस्थायी होनाभी आवश्यक है। फल, फूल, तरकारी इत्यादि वस्तुएं बहुत शीघ्र सड़-गल जाती हैं। अतएव साधारणतः उत्पादनके स्थानके आस-पासही इनका बाज़ार सीमित रहता है। परन्तु वैज्ञानिक साधनों द्वारा इस प्रकारकी नाशवान वस्तुओंको सुरक्षित रखनेके ढंग निकाले जा रहे हैं। फल, मांस, मछली, दूध तथा दूधसे प्राप्त होनेवाली अन्य चीज़ोंको इन साधनों द्वारा सुरक्षित करके दूरदूर तक भेजाजाता है। परन्तु यहां इतना कहदेना उचित होगा कि ये साधन इस प्रकारकी अनेक वस्तुओंको उपभोक्ताओंकी दृष्टिमें

कोई दूसरीही वस्तु बना देते हैं। उदाहरणके लिए, जमा हुआ दूध या मांस, ताज़े दूध या मांससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। बैंक तथा साखपत्रोंके विकाससे और तोल-मापके साधनोंके प्रमाणीकरणसे भी बाज़ारके विस्तृत होनेमें सहायता प्राप्त हुई है।

श्रम-बाज़ार

श्रमके बाज़ारभी नाशवान् वस्तुओंके बाज़ारके समान अत्यन्त संकुचित होते हैं। वस्तुत: भिन्न भिन्न प्रकारके श्रमके लिए भिन्न भिन्न बाज़ार होते हैं। विशेषकर कुशल श्रमके बाज़ार तो भिन्न होते ही हैं। अकुशल श्रमके लिए भलेही एक बाज़ार होता हो, परन्तु श्रमजीवी प्राय: एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेमें हिचकिचाते हैं। यद्यपि यातायातके साधनोंमें उन्नति होनेके कारण श्रमजीवियोंके स्थान परिवर्तनके सम्बन्धमें गति शीलता बहुत बढ़चुकी है, फिरभी श्रमके बाज़ार बहुत विस्तृत नहीं होपाये हैं। श्रमके बाज़ारोंके अशुद्ध होनेका कारण यहहै कि श्रम एक अत्यन्तही नाशवान् वस्तु है। यदि एक दिनभी श्रम नहीं कियाजाता तो वह सदैवके लिए नष्ट होजाता है। श्रमजीवीकी इस स्थितिके कारण एकही प्रकारके श्रमका एकही बाजारमें एकमूल्य नहीं होता और पहिले बताया जाचुका है कि शुद्ध बाज़ारके लिए एक वस्तुका एकही मूल्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

बाज़ारों की व्यवस्था

बाज़ारोंकी व्यवस्थाके विषयमें ध्यान देनेकी बातहै कि इस व्यवस्थामें दलालों और सट्टेवालोंको बहुत महत्व प्राप्त है। वस्तुओंकी निर्माण-विधिको कई भागोंमें बांटा जासकता है। कृषि द्वारा अथवा खानोंसे निकालकर कच्चामाल प्राप्त होता है। फिर उद्योग-धंधों द्वारा इस कच्चे मालसे उपयोगके योग्य वस्तुएं निर्माणकी जाती हैं। फिर इन निर्मित वस्तुओंको उपभोक्ताओं तक पहुंचानेका प्रबन्ध किया जाता है। प्राचीन कालमें जब वस्तुएं कम मात्रामें तैयार होती थीं, तो एकही मनुष्य स्वयं ही कृषक, उद्योगपति और उपभोक्ता होसकता था। ऐसी परिस्थिति में उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें जानेके लिए विशेष अड़चनें न थीं। श्रम-विभाजन तथा वस्तु-निर्माण-विधिमें उन्नति होनेके कारण ऐसे लोगोंकी

आवश्यकता हुई जो वस्तुको उत्पादकसे उपभोक्ता तक पहुंचानेका प्रबन्ध करें। ये लोग व्यापारी, दलाल इत्यादि हैं। साधारणत: यह समझा जाताहै कि इस प्रकारके लोग अथवा संस्थाएं आर्थिक दृष्टिसे आवश्यक नहीं हैं। इनका काम केवल इतनाहै कि उत्पादकको मिलनेवाले मूल्य और उपभोक्ता द्वारा दियेगये मूल्यमें अधिकसे अधिक अन्तर डाल दें परन्तु इस प्रकारके विचारमें कोई सार नहीं है। ये व्यापारी और दलाल उत्पादन-पद्धतिके आवश्यक अंग हैं। उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें वस्तुओंका पहुंचाना इनका विशेष कार्य है। इस कार्यके विशेषज्ञ होनेसे ये लोग इसको अधिक कुशलतासे कर पाते हैं। इनके न होनेपर बड़े परिमाणमें उत्पत्तिका होना असम्भव होजाता है। सम्भव है बहुतसे व्यापारी और दलाल निरर्थक हों, उनके न होनेसे उत्पत्तिमें तनिकभी बाधा न पड़तीहो और उनके होनेसे उपभोक्ताओंको अकारणही उपभोगकी वस्तुओंका अधिक मूल्य देना पड़ता हो, पर इस दोषका आरोपण उनके अस्तित्व पर नहीं, बाहुल्य पर किया जासकता है। आजकल बड़ी बड़ी संस्थाएं कच्चे मालकी खरीद और निर्मित वस्तुओंकी बेचका कार्य इन लोगों द्वारा करानेके स्थानपर स्वयंही करलेती हैं। परन्तु ऐसी संस्थाओंकी संख्या संसार भरमें बहुत थोड़ी है।

सट्टा

इसीप्रकार सट्टा करनेवालेभी इतने घृणाके पात्र नहीं जितना कि हम उन्हें समझते हैं। सच बाततो यह है कि आधुनिक उत्पादन-विधिकी नीवही सट्टा है। वस्तुओंकी मांगके अनुमानके आधारपर उत्पादन-क्रिया प्रारम्भ होती है। उद्योगपति जनताकी आवश्यकताओं का अनुमान करके ही ऐसी वस्तुएं निर्माण करता है, जो उसके विचारमें जनता द्वारा उपभोगकी जायेंगी। ऐसी वस्तुओंकी संख्या अथवा मात्राका भी पहिलेसे ही वह अनुमान करलेता है। कभी कभी तो वह नितान्त नयी वस्तुएं इस आशासे निर्माण कर बैठताहै कि उनके बाज़ारमें आनेपर उनके लिए मांग पैदा होजायेगी। यह सब सट्टा नहीं तो और क्या है। परन्तु इस सट्टेकी जोखिम आज-कल केवल उत्पादकको ही नहीं उठानी पड़ती बल्कि व्यापारी और सट्टेबाज़ लोग उसकी सहायता करते हैं।

सट्टेके कार्यका सर्वोत्तम लाभ यहहै कि इस क्रिया द्वारा वस्तुओंके मूल्यमें

स्थिरता बनी रहती है; अधिक अस्थिरता नहीं होने पाती। ये लोग जब किसी वस्तुकी पूर्तिमें न्यूनता और उसके कारण उसके मूल्य बढ़नेका अनुमान लगाते हैं तो उस वस्तुके पहिलेही भविष्यमें खरीदनेके सौदे करना आरम्भ कर देते हैं। इसप्रकार मांगमें वृद्धि होनेके फलस्वरूप उस वस्तुका मूल्य वर्तमानमें ही बढ़ना आरम्भ होजाता है और उसमें आकस्मिक वृद्धि नहीं होपाती। इसी प्रकार जब ये लोग किसी वस्तुके मूल्यके गिरनेका अनुमान लगातेहैं तो उस वस्तुके भविष्यमें बेचनेके सौदे करलेते हे। उनके इस कार्य द्वारा, पूर्तिमें वृद्धि होनेके कारण उस वस्तुका मूल्य वर्तमानमें ही गिरना आरम्भ होजाता है। उदाहरणके लिए मान लीजिये कि गेहूंका वर्तमान भाव १५ रुपये प्रतिमन है और सट्टा करनेवालों ने अपने अनुभव और निपुणताके आधारपर यह अनुमान किया कि संसारके प्रसिद्ध गेहूं उत्पन्न करनेवाले प्रदेशोंमें किसी प्राकृतिक संकटके कारण गेहूंकी उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आनेकी और फलस्वरूप उसका मूल्य १७ रुपये प्रतिमन होनेकी सम्भावना है। ऐसी परिस्थितिमें वे सट्टेवाले लोग जो चढ़ते बाज़ारसे लाभ कमानेकी चेष्टा करतेहैं, गेहूंके वर्तमान मूल्यपर भविष्यमें गेहूं खरीदनेके लिए अपनेको समनुबद्ध करलेते हैं। इनकी इस प्रकारकी मांगमें वृद्धिके कारण गेहूंके मूल्यमें वर्तमान कालसे ही वृद्धि होने लगती है। यदि इन लोगोंका अनुमान ठीक निकला और गेहूंका मूल्य समनुबन्ध अवधिकी समाप्ति पर १७ रुपये प्रतिमन हो गया तो सट्टेवाले पूर्व निर्धारित मूल्य १५ रुपयेके भावसे गेहूं मोल लेकर १७ रुपये प्रतिमनके हिसाबसे बेचकर २ रुपये प्रतिमन लाभ कमा लेते हैं। इस प्रकरणमें हम यहभी बता देना चाहतेहैं कि यह आवश्यक नहीं कि वस्तुतः गेहूंका हस्तान्तरण हो। ऐसा होसकता है और प्रायः होता भी है कि गेहूंके बिना बाज़ारमें आयेही २ रुपये प्रतिमनके हिसाबसे इन सट्टेवालोंको रुपये मिल जायें।

इसीप्रकार यदि गेहूंका भाव भविष्यमें १५ रुपयेसे गिरकर १३ रुपये प्रतिमन होनेकी सम्भावना हो तो इस प्रकारके सट्टेवाले जो गिरते भावसे लाभ कमानेकी चेष्टा करते हैं, वर्तमान मूल्यपर भविष्यमें गेहूं बेचनेके लिए अपनेको समनुबद्ध करलेते हैं। अवधि समाप्तिपर यदि भाव १३ रुपये प्रतिमन होगया तो वे इस भावपर गेहूं मोल लेकर पूर्व-निर्धारित १५ रुपयेके हिसाबसे बेचलेते हैं और २ रुपये प्रतिमन लाभ कमा लेते हैं।

इस भावी क्रय-विक्रयसे उनका अभिप्राय तो होताहै मूल्यकी घट-बढ़से लाभ उठाना। परन्तु उनके इस स्वार्थ-सिद्धि के कार्यसे मूल्योंमें स्थिरता आजाती है और सारे समाजका कल्याण होजाता है। उत्पादककी तो विशेष रूपसे इन लोगों द्वारा सेवा होती है। मूल्योंकी स्थिरता तो उत्पत्तिके लिए परमावश्यक है ही, पर ये लोग उसकी बहुत कुछ जोखिम अपने ऊपर ले लेते हैं। थोक विक्रेता फुटकर विक्रेताओं द्वारा उपभोक्ताओंकी मांगका अनुमान लगाताहै और उस अनुमानके आधारपर उत्पादकोंसे माल खरीदनेका सौदा करता है। इसीप्रकार उत्पादक इन लोगोंसे भविष्यमें कच्चा माल खरीदनेका सौदा करलेते हैं, जिसके कारण उन्हे वस्तु-निर्माणकी सामग्रीके मूल्यमें आकस्मिक अस्थिरताका भय नहीं रहता।

सट्टेका कार्य सदा अच्छा नहीं होता, विशेषकर अनभिज्ञ सट्टे वालोंका। सट्टे वालोंमें मूल्योंके घटने-बढ़नेका ठीक अनुमान करनेकी योग्यता होनी चाहिये। अन्यथा यदि उनके अनुमान सर्वथा उल्टे निकलेंगे तो मूल्योंमें स्थिरताके स्थान पर और अधिक अस्थिरता आनेकी आशंका होजायगी। सट्टे वालोंके पास पर्याप्त पूंजीका होना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि ऋणशोधनकी क्षमता न रहनेसे अन्य लोगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सट्टेका कार्य जब केवल लाभ उठानेके उद्देश्यसे ही किया जाये, तो होसकता है वह समाजके लिए हानिकारक हो। कभी कभी ये लोग किसी वस्तुकी पूर्ति पर एकाधिकार जमानेके लिए उस वस्तुको खरीदते ही चले जाते हैं। इनकी इस कृत्रिम मांगके कारण उस वस्तुके मूल्यमें कृत्रिम वृद्धि होती चली जाती है। यदि वह वस्तु जीवनके लिए आवश्यक वस्तुओंमें से हो, तो इस कृत्रिम मूल्य-वृद्धि के कारण समाजको कष्ट सहन करना पड़ता है।

६

प्रतिस्पर्धा

प्रतिस्पर्धा का अर्थ

प्रतिस्पर्धाका वर्तमान आर्थिक जीवनमें अत्यधिक महत्व है। प्रतिस्पर्धा बाज़ार मूलक अर्थ-व्यवस्थासे सम्बन्ध रखती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थामें जिसमें उत्पादन केवल आवश्यकता-पूर्तिके लिए होता हो, प्रतिस्पर्धा का विकास असम्भव है। प्रतिस्पर्धाका अर्थ यहहै कि वस्तुओंके क्रय-विक्रयमें प्रत्येक व्यक्तिको पूरा अधिकार और सुविधाहो कि वह चाहे जिससे सौदा निश्चित करे। पर प्रतिस्पर्धाकी यह व्याख्या केवल आर्थिक दृष्टिकोणसे कीगयी है। यह उस अवस्थाकी ओर संकेत करतीहै जिसमें प्रत्येक आर्थिक क्रियामें बहुतसे व्यक्ति हों और प्रत्येकको अपने उद्देश्यों को इच्छित रीतिसे पूर्ण करनेका उतनाही अधिकारहो जितना दूसरेको। इस प्रकार एक उत्पादक न होकर कई उत्पादक हों और प्रत्येकको अपनी इच्छानुसार मितव्ययी रीतिसे अपनी उत्पादन-योजनाको पूरी करनेका अधिकार और सुभीता हो। इसी प्रकार बाज़ारमें बहुतसे विक्रेता और बहुतसे ग्राहक हों और वे जहांभी अपना सार्वजनिक लाभ देखें, वहीं क्रय-विक्रय करसकें। यही बात प्रतिस्पर्धा पद्धतिमें आय तथा उत्पादन सम्बन्धी सेवाओंके उपयोगके विषयमें भी ठीक है। श्रमिक इच्छानुसार जहांभी चाहे, नौकरी कर सकताहै और उत्पादक अनेक श्रमिकोंमें से जिसको चाहे उत्पादनमें लगा सकता है। व्यक्तियोंकी आयभी इसी पद्धतिपर निर्धारित होगी। कई प्रकारके उद्यमोंमें से जो जहांपर जितना उपार्जन करले, वही उसकी आय होगी अर्थात् आय व्यक्तियोंकी श्रम-शक्ति तथा अन्य गुणोंपर निर्भर होगी। लेकिन इस श्रम-शक्ति और गुणोंका मूल्य बाज़ारमें सापेक्षिक मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित होगा।

अर्थशास्त्रमें पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारकी प्रतिस्पर्धा मानी जाती है। दो बातों के होनेसे प्रतिस्पर्धा पूर्ण मानी जाती है। पहिली यहहै कि प्रतिस्पर्धाका सिद्धान्त

बाज़ारपर आश्रितहै, इसलिए पूर्ण और स्वतन्त्र बाज़ार तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा का अनिवार्य आधार है। उत्पादनके साधनों तथा अन्य आर्थिक उपकरणोंकी गतिपर किसी प्रकारका कोई प्रतिबन्ध न हो। दूसरी यह कि उद्योग संस्थाओंमें अथवा उपभोक्ता वर्गमें कोई इतना बड़ा या प्रभावशाली न हो कि क्रय-विक्रय सम्बन्धी केवल उसके निश्चयका कोई प्रभाव प्रचलित मूल्योंपर पड़े।

पहिली शर्तका अभिप्राय यहहै कि गति स्वतन्त्र होनेके कारण प्रत्येक अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार अधिकसे अधिक आयवाला साधन प्राप्त कर सकता है। इसका यहभी अर्थहै कि प्रत्येक साधन निरन्तर विभाज्य हो नहीं तो उसका उपयोग अनेक प्रकारसे नहीं हो सकेगा। इसीलिए एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें उसका स्थानान्तरभी अत्यन्त कठिन होगा। गतिशीलता प्रतिबन्ध-रहित हो। यह पूर्ण प्रतिस्पर्धामें आवश्यक इसलिए है कि बिना इसके सबको समान रूपसे साधन प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका अवसर नहीं मिलेगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धाके लिए यहभी आवश्यकहै कि आर्थिक लाभके अवसरोंके सम्बन्धमें सभी प्रतिस्पर्धियोंकी जानकारी बराबर हो और उस जानकारीको व्यवहारमें लानेके लिए आवश्यक है आर्थिक शक्तिका समान रूपसे वितरित होना।

दूसरी शर्तका अभिप्राय यहहै कि किसीभी प्रतिस्पर्धीके पास इतने अधिक साधन और अधिकार न हों कि या तो औरोंको अपनी प्रतिस्पर्धामें आनेही न दे या उनके लिए प्रतिस्पर्धाकी दशाएं बदल दे। इसका यह अर्थ नहीहै कि मांग और पूर्तिका सिद्धान्त काम न करे। मूल्य, मांग और पूर्ति परही आश्रित होगा और उपभोक्ताओंकी मांगमें परिवर्तनों तथा उद्योगपतियोंकी प्रतिस्पर्धाके अनुरूप उसमें परिवर्तन भी होंगे पर पूर्ण प्रतिस्पर्धामें किसी एक व्यक्तिकी मांग या पूर्तिकी योग्यताके द्वारा उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि सबको समानरूपसे प्रयत्न करनेका अवसर मिल सकता है अन्यथा अन्य लोगोंके लिए प्रतिस्पर्धाकी दशाएं और उनकी योग्यताएं बदल जायेंगी। इसका फल यह होगा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धामें छोटे आकार की संस्थाएं ही उचित होंगी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धाका यहभी अर्थ हुआ कि प्रत्येक आयवाला व्यक्ति और उद्योगपति अपनी आय तथा उत्पादनके साधनोंका चाहे जिसप्रकार उपयोग करे अथवा न करे किन्तु इन निश्चयोंपर यदि किसी प्रकारके प्रतिबन्ध हैं तो प्रतिस्पर्धा अपूर्ण है।

यदि उत्पादन पूर्ण प्रतिस्पर्धाके आधारपर होरहा है, तो उसका लक्षण यह होगा कि औसत व्यय और सीमान्त व्यय दोनों बराबर होंगे। इसका कारण यह है कि यदि किसी संस्थाका सीमान्त व्यय औसत व्ययसे अधिकहै तो कुछ अन्य व्यापारी कम मूल्यपर बेचना आरम्भ करेंगे और फिर सबको वही मूल्य मानना पड़ेगा। अन्ततोगत्वा ऐसी उद्योग-संस्था या तो सीमान्त व्यय कम करेगी या नष्ट हो जायेगी। परन्तु यदि सीमान्त व्यय औसत व्ययसे कमहै तो उद्योग संस्थाका प्रसार होगा और प्रतिस्पर्धाका नियम है कि कोई संस्था बड़ी नहीं होसकती। यह नियम पूरा इसप्रकार होता है कि उत्पादन कार्य कम होनेके कारण उस उद्योगमें साधनों की मांग बहुत अधिक होजाती है और इसप्रकार व्यय बढ़ने लगता है। अन्तमें औसत व्यय सीमान्त व्ययके समान होनेपर ही पूर्ण आर्थिक व्यवस्था साम्यावस्था में होगी।

यहभी कहा जाताहै कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा मूलक अर्थ-व्यवस्थामें उपभोक्ताका प्रभुत्व होता है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यहहै कि प्रतिस्पर्धा मूलक व्यवस्थामें उत्पादन बाजारके लिए होता है। इसलिए उद्योगपतियोंके सारे निश्चय उपभोक्ताओंकी मांगपर निर्भर रहते हैं। इसप्रकार अन्ततोगत्वा किस वस्तुका और किस परिमाणमें उत्पादन होगा, यह उपभोक्ताही निश्चित करताहै और इस विषयमें उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के फल

यदि औसत और सीमान्त आय बराबर हो तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाका फल यह होगा कि सभी उद्योग-संस्थाएं सर्वोत्तम आकारकी होंगी। उत्पादक साधनोंकी विभिन्न उपयोगोंमें वितरणकी प्रवृत्तिभी सर्वोत्तमताकी ओर होगी। इसप्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा में उत्पादन अधिक से अधिक होसकता है। इसीप्रकार व्यय और मूल्यकी कमसे कम होनेकी प्रवृत्ति होगी।

सर्वाधिक उत्पादन होनेका कारण यहहै कि उपभोक्ता पूर्ण प्रतिस्पर्धामें अपनी आयका वितरण समसीमान्त उपयोगिताके नियमानुसार करताहै, इसलिए उपभोग के आधारपर साधन वितरण होनेके कारण प्रत्येक साधनका उसी उद्योगमें उप-

योग किया जाताहै, जहां वह सबसे अधिक उत्पादक हो।

आधुनिक अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतिस्पर्धाको कल्पनामात्र ही मानते हैं। व्यवहारमें पूर्ण प्रतिस्पर्धाका अभावहै, क्योंकि इसकी शर्तें ऐसीहैं जो एकतो पूरीभी नहीं हो सकतीं और दूसरे वे परस्पर विरोधी है। सबकी जानकारी एकही हो, गतिशीलता पर कोई प्रतिबन्ध न हो, साधन निरन्तर विभाज्य हों तो उत्पादन विस्तृत क्षेत्रपर करनेके लिए प्रतिस्पर्धा हो ही नहीं सकती। साधनभी निरन्तर विभाज्य हो ही नहीं सकते।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार

जब एकही व्यक्ति अथवा उद्योग-संस्था उत्पादन और पूर्ति सम्बन्धी अपने निश्चयों द्वारा मूल्यमें परिवर्तन कर सकतीहै अथवा मूल्य निर्धारित कर सकतीहै तो उसे एकाधिकारकी अवस्था कहते है। यदि इस प्रकारकी कई उद्योग संस्थाएं हों और प्रतिस्पर्धा उनके बीचमें हो तो उसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा कहेंगे। जब बाज़ार अशुद्ध हो, पूर्ण प्रतिस्पर्धा की शर्तें पूरी न होरही हों तब हम उसे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा कहेंगे। एकाधिकारात्मक और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा बहुत कुछ पर्यायवाची शब्दहैं और विद्वानोंने कुछ दिनोंतक इन दो शब्दोंको एकही अर्थमें प्रयुक्त किया है। यद्यपि मतभेदोंके प्रवर्तक अब इनमें भेद करने लगे है।

एकाधिकार इस अर्थमें कि केवल एकही विक्रेता अथवा उत्पादक हो और वह मनमाना मूल्य निश्चित करे, बहुत कम पाया जाता है। पूर्ण एकाधिकार उस अवस्थामें हो सकता है, जब किसी वस्तु विशेषके स्थानापन्नोंका पूर्णतया अभावहो तथा वह लोगोंके लिये अत्यन्त आवश्यक हो, ऐसा संयोग अलभ्य-सा है। सभी वस्तुओं की प्राप्ति संसारके अनेक भागोंमें है और यातायातके साधन सुलभ होनेके कारण एक भागकी वस्तुका मूल्य दूसरे भागके मूल्यसे स्वतन्त्र नहीं रखा जासकता। फिर प्रत्येक वस्तुका कोई न कोई स्थानापन्न मिलही जाता है। इसकारण प्राकृतिक एकाधिकार कठिन है। कुछ वस्तुएं अवश्य ऐसीहैं जो एकही स्थानपर या कुछ थोड़े से स्थानों पर मिलती हैं पर उनकी स्थानापन्न वस्तुएं हैं।

एकाधिकारके मार्गमें यही दो कठिनाइयां हैं। एकतो वस्तुकी पूर्ण पूर्तिपर

अधिकार और दूसरी उसकी मांगपर पूर्ण अधिकार। यहांपर हम फिर स्मरण करायेंगेकि अर्थशास्त्रमें एकाधिकार अथवा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धाका महत्व मुख्यतया पूर्तिपर अधिक अधिकारकी दृष्टिसे नहीं है वरन् व्यापारीकी मूल्य पर शक्तिकी दृष्टिसे है। चूंकि मूल्य निश्चित होनेमें पूर्तिका भी भाग होताहै, इस लिए पूर्तिके एक बड़े भागपर अधिकारभी आवश्यक होजाता है। पर मूल्य केवल पूर्तिही नहीं निश्चित करती इसलिए मांग परभी कुछ अधिकार होना आवश्यक है।

उत्पत्ति विभेदीकरण

पूर्ति पर एकाधिकार पानेके लिए जिस उपायका अधिकतर आश्रय लियाजाता है, उसे उत्पत्ति विभेदीकरण कहते है। इसके अतिरिक्त विक्रय सेवाएं भी एक अच्छा उपाय है। कभीतो यह उपाय उत्पत्ति विभेदीकरणका एक अंगमात्र होताहै पर उससे स्वतन्त्र भी इस उपायका प्रयोग होता है।

उत्पत्ति विभेदीकरणका तात्पर्य यहहै कि किसी वस्तुका नाम बदलकर उसे एक भिन्न वस्तु बनाकर बेचा जाय। उदाहरणके लिए सिगरेट अथवा चाय लीजिए। सिगरेट कई प्रकारकी मिलती है—कैप्सटेन, कैंची, गोल्डफ्लेक इत्यादि। इसी प्रकार लिप्टन, ब्रुकबौन्ड, नीलगिरी आदि अनेकों प्रकारकी चाय बिकती है और इनमेंभी बहुतसे उपभेद होते हैं। अब खाद्य या पेय वस्तुकी दृष्टिसे इन अनेक प्रकारकी चायों अथवा सिगरेटोंमें कोई विशेष अन्तर नहीहै पर नाम भिन्नहोनेके कारण ये भिन्न भिन्न वस्तुएं मानी जाती है और इनके मूल्य पृथक पृथक होते हैं। अब यदि इनको अलग वस्तु मान लिया जाये तो पेटेंट और व्यापार चिह्न सम्बन्धी नियमोंके अनुसार इन्हें बनानेवाली कम्पनियां एकाधिकारी हुईं और इसप्रकार इन कम्पनियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा होगी। यहां स्मरण रखना चाहिए कि उत्पत्ति वहीहै अथवा भिन्न। इसकी कसौटी स्थानापन्नताकी लोच है। यदि दो विभेदीकृत वस्तुओंके मूल्योंमें परिवर्तनके फलस्वरूप एक वस्तु दूसरे के स्थानपर ग्रहण करली जाय तो अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे वे एक दूसरीसे भिन्न नहीं हैं। इनके गुण, नाम इत्यादिमें अन्तर हो अथवा न हो। पर यदि इस प्रतिस्थापनमें कठिनाईहै तो जितनी अधिक कठिनाई होगी, उसीके अनुसार वे वस्तुएं

एक दूसरे से उतनी भिन्न मानी जायेंगी। उत्पत्ति विभेदीकरण अधिकतर विज्ञापन द्वारा कियाजाता है। उपभोक्ताओंकी मनोवृत्ति, इच्छाओं और रुचियोंका अध्ययन अथवा अनुमान करके उनके मनमें यह बैठा दियाजाता है कि विभिन्न नामोंसे बिकनेवाली वस्तुएं वास्तवमें एक दूसरेसे भिन्न हैं और उनके मूल्योंका अन्तर उन के गुणों अथवा उपयोगिताके अन्तरका परिचायक है। विज्ञापनके अतिरिक्त कुछ थोड़ेबहुत बहिरंग अन्तरभी पैदा कियेजाते हैं। पर उद्देश्य यह होताहै कि ग्राहक यह विश्वास करले कि लिप्टन और ब्रुकबौंड चाय परस्पर इतनी भिन्न है कि एक के स्थानपर दूसरीका उपयोग हो ही नहीं सकता। यह काम अधिकतर कुशल और निरन्तर विज्ञापन द्वारा होताहै और जहां तक व्यापारीको इसमें सफलता मिलती है अर्थात् जहां तक वह स्थानापन्नताकी लोच घटा सकताहै, वही तक उत्पत्ति विभेदीकरण भी होपाता है।

वस्तुके साथ कुछ सेवाएं जोड़करके भी उन्हें दूसरी वस्तुओंसे भिन्न बनाया जाता है। विना मूल्यके वस्तुको घरतक पहुंचा देना अथवा मरम्मत करदेना इत्यादि इन सेवाओंके उदाहरण हैं। ग्राहकोंकी इच्छानुसार विक्रय-समय निश्चित करना तथा दूकानमें अनेक प्रकारकी सुविधाओंका उपलब्ध करना भी इस उद्देश्यको पूरा करसकते हैं। इस सम्बन्धमें सबसे सामान्य सिद्धान्त न्यूनतम विभेदीकरणका है। उद्योगी और व्यापारी अपनी वस्तुओंको इतनी अधिक भिन्न नहीं बनाते कि उन्हें उसके लिए नई मांग उत्पन्न करनी पड़े अथवा पूर्तिके लिए नये साधन संग्रह करने पड़ें। उनका उद्देश्य मांगको अपनी ओर मोड़ लेना होता है। एकाधिकारका आधार सदैव उत्पादन संकुचन द्वारा मूल्यपर प्रभाव डालना होताहै और यह मांग की दीहुई दशाओंमें ही सार्थक होसकता है। इसकारण प्रत्येक उत्पादकका यह उद्देश्य होगा कि उसकी वस्तु और उसके प्रतिस्पर्धियोंकी वस्तुमें कमसे कम अन्तर हो पर वह अन्तर ऐसा हो कि उपभोक्ता उसकी वस्तुको अधिक अच्छी समझे और उसी प्रकारकी अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा उसे खरीदनेके लिए अधिक उत्सुक हो।

मूल्य-भेद

प्रतिस्पर्धामें एकाधिकार प्राप्त करनेका दूसरा उपाय मूल्य-भेद है। विभिन्न वर्गों,

आय और स्थानोंके व्यक्तियोंमें मांग की लोच विभिन्न होती है। कुछ लोग सस्ती वस्तु खरीदतेहैं तो कुछ मंहगी। सबसे अधिक परिमाणमें बेचनेका उपाय यहहै कि वस्तुका मूल्य सदैव बाज़ारमें प्रचलित मांगके अनुसार हो। एकही वस्तुको कई मूल्योंपर बेचनेका उद्देश्य विभिन्न मांगोंकी लोचका लाभ उठाना होता है। धनिक वर्गके लिए प्रायः दूसरे दाम बताये जाते हैं। चूंकि धनी लोग सस्ते बाज़ारोंमें अधिकतर नहीं जाते इसलिए ऐसा कर सकना सम्भव होता है। रेलवे कम्पनियां प्रायः भिन्न भिन्न वस्तुओंके लिए अलग अलग भाड़ेकी दर नियत करती है। कभी कभी भिन्न भिन्न वर्गोंके लिए अलग अलग मूल्य नियत कर दिये जातेहैं; क्योंकि इनमें वर्गगत अभिमानके कारण परस्पर प्रतिस्पर्धा नहीं होती। इसका लाभ उठाकर उत्पादक प्रत्येककी आर्थिक शक्तिके अनुसार मूल्य नियत करतेहैं न कि सीमान्त ग्राहककी मांगके आधार पर। उपयोग-भेदसे भी मूल्य-भेद स्थापित करके लाभ उठाया जासकता है। गृहकार्यके लिए कम विद्युत शक्तिकी आवश्यकता होती है। इसीलिए गृहस्थोंसे उस शक्तिके लिए अधिक दर नियतकी जासकती है। औद्योगिक कार्योंमें अधिक मात्रामें विद्युत् शक्ति व्यय होती है, इस कारण उद्योगी लोग अधिक दर माननेके लिए तैयार न होंगे। इसलिए उनके लिए नीची दर नियतकी जाती है। इस प्रकार ऊंचे नीचे दोनों दामोंपर अधिकसे अधिक विक्रय-होसकता है। स्थान भेदसे भी मूल्यमें भेद होता है। ग्रामों और नगरोंमें पृथक् पृथक् मूल्य उसी वस्तुके लिए बड़ी बड़ी उद्योग-संस्थाएं रख सकतीं हैं। डम्पिगकी प्रथा स्थान-गत मूल्य-भेदका बहुतही प्रसिद्ध और चरम उदाहरण है। अपने देशमें तो किसी उद्योगपतिका उस उद्योगमें सर्वाधिक अधिकार हो पर अन्य देशोंमें उसे कोई अधिकार न प्राप्त हो। इस स्थितिमें वह अपनी बिक्री अन्य देशोंमें कमसे कम, उत्पादन-व्ययसे भी कम मूल्यपर बेचकर बढ़ा सकता है। इस प्रकार उसे जो हानि होगी उसे अपने देशमें अत्यधिक मूल्य नियत करके पूरा करसकता है। इस मूल्यपर उसकी वस्तु कुछ कम बिकेगी पर बिक्रीकी यह कमी वह अन्य देशोंमें बहुत अधिक बेचकर पूरी कर लेता है।

काल-गति मूल्य-भेदका सबसे उत्तम और प्रसिद्ध उदाहरण पुस्तकोंके भिन्न संस्करणोंके लिए पृथक् पृथक् मूल्य नियत करना है। जिस समय पुस्तक प्रकाशित होतीहै, उस समय नवीनताके कारण पहिले लेनेकी इच्छाके कारण बहुतसे व्यक्ति

अधिक मूल्यपर भी खरीद लेंगे। कुछ समय पश्चात् उसी पुस्तकका सस्ता संस्करण निकालकर बिक्री पर्याप्त मात्रामें की जासकती है क्योंकि बहुतसे लोग जो अधिक मूल्य होनेके कारण पहिले न लेसके थे, अब लेसकते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय पुस्तककी सम्भावित मांग और उसके प्रति जनता की रुचिका भली प्रकार अनुमान लगाया जासकता है। और इस आधारपर अधिक बिक्रीकी आशापर मूल्य कम किया जासकता है। यह आवश्यक नहीं कि पहिले संस्करणका ही मूल्य अधिक हो। दूसरे संस्करण अधिक मूल्यपर निकाले जासकते हैं। मूल्य-भेद पर आश्रित एकाधिकारके लिए आवश्यक है कि विभिन्न बाज़ारोंकी मांगकी लोचमें पर्याप्त अन्तर हो और वस्तु एक बाज़ारसे दूसरे बाज़ारमें फिर बेची न जासकती हो।

एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धाका फल उत्पादन व्ययका बढ़ाना होता है। यदि पूर्ण प्रतिस्पर्धामें कमसे कम उत्पादन व्यय वाली कुशल उद्योग संस्थाएं मिलती हैं तो एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धामें उत्पादन कम कुशल और अधिक व्ययशील होजाता है। विज्ञापन और विक्रय व्यय अधिकतर व्यर्थही होते हैं। उपभोक्ताकी तो हर रूपमें हानिही होती है। उपभोक्ताकी बचतका नितान्त लोप करनेकी चेष्टा कीजाती है। मूल्य ऊंचा रखनेके लिए वस्तुओंको प्रायः नष्टभी कर दिया जाता है।

एकाधिकार क आधार

एकाधिकारका एक आधार कुछ प्राकृतिक सुविधाएंहैं जैसे संयुक्तराष्ट्रीय स्टील कौर्पोरेशनके पास निकेलकी लगभग सभी खानें हैं। इसी प्रकार हीरों की संसारमें बहुत कम खानें हैं और वें सब दो-तीन कम्पनियोंके पास हैं।

कभी कभी एकाधिकार कुछ विशेष गुणों तथा परिस्थितियोंपर आश्रित होता है। फ़िल्म-अभिनेता और अभिनेत्रियां, स्वास्थ्य तथा प्राकृतिक सौन्दर्यके स्थानोंपर होटेल आदिका स्वामित्व इस प्रकारके एकाधिकारके उदाहरण हैं।

अधिकतर एकाधिकार कानूनी अधिकारोंपर आश्रित होसकता है। कोई विशेष उत्पादन-विधि अथवा आविष्कार किसी विशेष कम्पनीके पास सुरक्षित होसकता है। उत्पत्ति विभेदीकरण भी इसी नियमपर आश्रित है। राजाज्ञासे कभी

कभी इस कम्पनीको किसी क्षेत्र विशेषमें व्यापार करनेका एकाधिकार दिया जाता है। सुप्रसिद्ध ईस्ट-इंडिया कम्पनीका एकाधिकार इसी प्रकारका था। औद्योगिक क्रान्तिसे पूर्व इस प्रकारकी राजाज्ञासे सुरक्षित एकाधिकारके आश्रित बहुतसी संस्थाएं थीं। कभी कभी यह राजाज्ञा इस कारणभी दीजाती है कि कोई कोई उद्योग प्रतिस्पर्धा द्वारा कुशलतापूर्वक नहीं चलसकते अथवा प्रतिस्पर्धा होनेसे उपभोक्ताओंको कष्ट और हानि पहुंचनेकी सम्भावना रहती है। स्वास्थ्य सम्बन्धी, यातायातकी तथा समाजके लिए अन्य अत्यन्त आवश्यक सेवाएं प्रायः राजाज्ञा द्वारा प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित रखी जाती हैं। किसी वस्तुकी अत्यन्त कमी होनेपर अथवा अत्यन्त आवश्यकता होनेपर भी राजाज्ञा द्वारा एकाधिकार दिया जाता है। कुछ ऐसे उद्योग होतेहैं, जिनमें पूंजीकी बहुत आवश्यकता होतीहै परन्तु लाभकी सम्भावना अनिश्चित होती है। ऐसे उद्योग जनताके लिए आवश्यक होनेपर राजाज्ञा द्वारा सुरक्षित करदिये जाते है। रेलमें प्रतिस्पर्धासे सामाजिक हानि होसकती है अतएव रेलवे कम्पनियोंको भी राजाज्ञा द्वारा एकाधिकार प्राप्त होता है।

एकाधिकार बनानेका चौथा ढंग यहहै कि कई उद्योग-संस्थाएं मिलकर एक संघ बना लेती है। अमेरिका और जर्मनी में इस प्रकारकी बहुतसी एकाधिकारी संस्थाओंकी नीव पड़ी थी। यह संघ एकही उद्योगकी कई संस्थाओंका होसकता है अथवा एक उद्योगके कई विभागोंका भी होसकता है। पहिलेको समतल संघ और दूसरेको लम्बरूप संघ कहते हैं। उदाहरणार्थ उत्तरप्रदेश तथा बिहार चीनी संघ कुछ चीनी बनानेवाली मिलोंका एक संघ होनेके कारण समतल संघ है। परन्तु यदि ईख उगाने, चीनी बनाने और चीनी बेचनेसे सम्बन्धित सभी उद्योगोंका एक संघ बनाया जावे तो वह लम्ब रूप संघ होगा। इंगलैंडमें छोटे छोटे फुटकर बेचने वाले व्यारियोंने संघ बनाकर बाज़ारमें एकाधिकारकी स्थिति पैदा करली है।

इस प्रकारके संघ बनानेके विरुद्ध सरकार प्रायः नियम बना देती है। पर उनसे बचनेका कोई न कोई ढंग व्यापारी लोग निकाल ही लेते हैं।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार की सीमा

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकारकी एक सीमा है। सम्भावित प्रतिस्पर्धा का

भय एकाधिकारीके लिए बहुत बड़ा अंकुश है। नयी वस्तुओं और स्थानापन्नोंका आविष्कार सदैव सम्भव है। अधिक मूल्य रखनेसे अथवा जन-हितका मनमाना निरादर करनेसे सदिच्छा खो देनेका भय रहता है। एकाधिकारीको राज्य-हस्तक्षेपका भी डर रहता है। एकाधिकारीके अत्यधिक लाभ प्राप्ति करनेकी नीतिका अनुसरण करनेपर सामाजिक शान्ति बनाये रखनेके लिए सरकारको हस्तक्षेप करना पड़ताहै और एकाधिकारी पर कठिन प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। वर्तमान समयमें आर्थिक व्यवस्था इतनी अस्थिर और संकटमयी है कि अनेक प्रकारके सरकारी नियन्त्रण आवश्यक होगये हैं। इसके अतिरिक्त एकाधिकारीको मांगपर बहुत कम अधिकार प्राप्त रहता है। इस कारण उसकी मूल्यको निर्धारित करनेकी शक्ति सदैव सीमित होतीहै और मांगके क्षेत्रमें उपभोक्ता सहकारी समितियां तथा राज्य-क्रय द्वारा प्राप्त एकाधिकार इस शक्तिको और भी सीमित करते हैं।

उत्पादक साधनों की गतिशीलता

पूर्ण प्रतिस्पर्धाका विवेचन करते समय कहा गयाथा कि इसके लिए उत्पादक साधनों का गतिशील होना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतया गतिशीलताका अर्थ स्थान परिवर्तनसे लिया जाताहै परन्तु अर्थशास्त्रमें गतिशीलताका मुख्य तात्पर्य उपयोग परिवर्तनसे है। इस उपयोग परिवर्तनकी आवश्यकता साधनोंके सीमित होनेके कारण पड़ती है। यदि प्रत्येक साधन इच्छित परिमाणमें मिलसकता तो इस परिवर्तनकी आवश्यकताही न पड़ती। ऐसा नहोने के कारण उत्पादक साधन सदैव एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें स्थान, कार्य और समयके अन्तर द्वारा परिवर्तित होते रहते हैं। कुछ साधनोंकी गतिशीलता इसलिए कम होती है अथवा बिल्कुल नहीं होती क्योंकि वे किसी और उपयोगमें आ ही नहीं सकते अथवा केवल कुछही उपयोगोंमें आ सकतेहैं जैसे भूमि। वीज़रने ऐसे साधनोंको विशिष्ट साधन कहा है। उन साधनोंकी गतिशीलता अधिक होतीहै जिनका कई उपयोगोंमें वितरण किया जासकता है। वीज़रने ऐसे साधनोंको अविशिष्ट साधन कहा है, जैसे श्रम।

गतिशीलता तीन प्रकारकी होती है। देशगत, कार्यगत और कालगत। देशगत गतिशीलतासे हमारा अभिप्राय उस गतिशीलतासे है, जिसके होनेसे साधनको एक

स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाया जासकता है। कार्यगत गतिशीलता दो प्रकारकी होसकती है। एकतो वह, जिसके होनेसे साधनको उसी उद्योगमें एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें लगाया जासकता है और दूसरी वह जिसके होनेसे साधन एक उद्योगसे हटाकर किसी अन्य उद्योगमें लगाया जासकता है। कालगत गतिशीलता का तात्पर्य यहहै कि साधनका प्रयोग वर्तमान समयमें न करके भविष्यके लिए स्थगित करदिया जाय।

भूमि की गतिशीलता

भूमिका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाना तो सम्भव नहीं है परन्तु किसी विशेष भूमि-भागका एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें परिवर्तन करना सम्भव है। यद्यपि इस परिवर्तनके लिए पूंजीकी न्यूनाधिक मात्रामें आवश्यकता पड़ती है। इस के अतिरिक्त गतिशीलता का सम्बन्ध भूमिके क्षेत्रफलसे नहीं परन्तु उसकी उत्पादन शीलतासे है। यहतो स्पष्टही है कि पूंजीकी सहायतासे कम उपजाऊ भूमियों को अधिक उपजाऊ बनाया जासकता है। फिरभी किसीभी भूमि-भागके उसके प्राकृतिक गुणों तथा उस स्थानकी जलवायुके अनुसार थोड़ेही उपयोग हो सकते हैं, बहुत नहीं। इसीलिए भूमिको विशिष्ट साधन मानागया है। बहुतसे भूमि-भाग तो पूर्णतया विशिष्ट होते हैं। उदाहरणार्थ भारतवर्षकी उत्तरवर्ती पर्वतीय भूमियों पर वनोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं होसकता है।

श्रम की गतिशीलता

श्रमजीवीको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता होती है। एक तो यातायातके साधनोंकी और दूसरे परिवार अथवा ग्रामके लिए मोह न होने की। यातायातके साधनोंकी कमी तथा घर परिवारसे सम्बन्ध बनाये रखनेमें बड़ा व्यय होताहै और इसकारण श्रमजीवियोंकी देशगत गतिशीलता कम होती है। श्रमकी कार्यगत गतिशीलता विभिन्न व्यवसायों अथवा उद्योगों द्वारा प्राप्त होनेवाली आय तथा अन्य लाभोंपर निर्भर करती है। अन्य लाभ

अधिक पारिश्रमिक द्वाराही नहीं मापे जाते हैं। उस उद्योगमें प्राप्त होनेवाली सभी सुविधाओंकी गणना कर लीजाती है। काम कितनाहै, छुट्टी कितनी मिलती है, उद्यम निश्चितहै अथवा नहीं, नौकरी सुरक्षाका कहांतक प्रबन्ध है, मान-मर्यादा कैसीहै, इन सब बातोंपर विचार किया जाता है। कुछ कार्योंमें सीखनेकी सुविधाएं, आवश्यक अभ्यास, शिक्षा और व्यय अधिक होताहै और कुछमें कम। कार्यगत गतिशीलता पर इसकाभी बहुत प्रभाव पड़ता है। उद्योग विशेषकी शिक्षामें जो व्यय होता है वह एक प्रकार से पूंजी लगाना है। कभी कभी इसका प्रबन्ध उस उद्योग अथवा सरकारकी ओरसे होता है। पर अधिकतर यह व्यय श्रमिकको ही करना पड़ता है। कार्यगत गतिशीलता, श्रमजीवियोंके इस व्ययको करनेके सामर्थ्य तथा उससे प्राप्त होनेवाले लाभपर निर्भर रहती है। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं, जिनके लिए विशिष्ट गुणों तथा दीर्घकालीन अभ्यासकी आवश्यकता होती है। इनमें गतिशीलता बहुतकम होती है। इसप्रकार समाजमें श्रम समुदाय होतेहैं जिनमें प्रतिस्पर्धा नहीं होती।

समाजके व्यक्तियोंकी जातीय और व्यक्तिगत विशेषताएं तथा सामाजिक विशेषताएं और परम्पराएंभी गतिशीलतापर बहुत प्रभाव डालती हैं। उदाहरणार्थ भारतवर्षमें वर्ण और जाति तथा संयुक्त परिवार प्रथायें गतिशीलताका बहुत निरोध करती हैं। जातिके अनुसार आर्थिक और सामाजिक उन्नतिका न तो किसी व्यक्तिको अवसर मिलता है और न इस प्रकारकी वृत्तिको अच्छा समझा जाता है। घर और जन्मस्थानका मोह स्थानगत गतिशीलताके मार्गमें और पारिवारिक सम्बन्ध कार्यगत गतिशीलताके मार्गमें बाधक होते हैं।

पूंजी की गतिशीलता

स्थायी पूंजी अल्पकालमें तो अगतिशीलही होगी। कुछ स्थायी पूंजी तो केवल एकही व्यवहारमें आसकतीहै और इसकारण वह सदैवही अगतिशील होगी। जिन यन्त्रोंके तैयार करनेमें अधिक व्यय होता है अथवा जो कठिनतासे और दीर्घ कालमें तैयार होतेहैं उनकी गतिशीलता तो कम होगी। स्थायी पूंजीकी दीर्घ कालीन गतिशीलतापर सबसे अधिक प्रभाव नवीनताओंका पड़ता है। यदि

नवीनताओंको उद्यममें अपनाने पर किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न हो तो उनके द्वारा पूंजी बहुत गतिशील होसकती है। स्थायी पूंजीका निरन्तर उपयोगसे नाश होता रहताहै और यह आवश्यक नहीं कि उद्योगी उसका पुरानेही रूपमें पुनर्निर्माण करें। इसके अतिरिक्त बहुतसी पूंजी कच्चेमाल और अर्ध-निर्मित वस्तुओंके रूपमें होती हैं और उनका उपयोग विभिन्न उद्देश्योंके लिए होसकता है। इसकारण एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें इनका परिवर्तन सुलभ है। इसप्रकार की पूंजीकी गतिशीलता अधिक होती है।

पूर्ण उद्यम और गतिशीलता

पूर्ण उद्यमका अर्थ यह होताहै कि उत्पादनके सभी साधन सर्वोत्तम रूपसे उपयोग में लाये जारहे हों और उनकी आय उनकी उत्पादन शीलता के बराबर हो। ऐसी स्थितिमें गतिशीलता व्यर्थ होगी परन्तु जबतक साधन गतिशील न होंगे पूर्ण उद्यमकी नीतिका सफल होना सम्भव नहीं। गतिशीलता प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त है और पूर्ण उद्यम स्थिर अर्थ-व्यवस्था का। दोनोंमें बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

७

मूल्य निर्धारण की विधि

मूल्य के प्रकार

किसी वस्तुका मूल्य तीन प्रकारका होता है। एक उस वस्तुका वास्तविक मूल्य; दूसरे उसका विनिमय साध्य मूल्य और तीसरे उसका मौद्रिक मूल्य।

वास्तविक मूल्य वस्तुके आन्तरिक गुणों पर निर्भर होताहै और स्वयं सिद्ध है। किसी वस्तुके उपयोगी होनेका मूल आधार यही वास्तविक मूल्य है।

विनिमिय साध्य मूल्यकी परिभाषा मार्शल ने इस प्रकारकी है: 'किसी समय और स्थान पर किसी वस्तुका विनिमय साध्य मूल्य किसी दूसरी वस्तुकी उतनी मात्रा है जो पहिली वस्तुके विनिमयसे प्राप्तकी जासकती है'।

समाजमें अनेक वस्तुओंके होनेके कारण किसी एक वस्तुके अनेक विनिमय साध्य मूल्य होजाते हैं। जिसके कारण आर्थिक गणित क्लिष्ट होजाती है। इस बाधाको मिटानेका एक साधन यहहै कि किसीभी वस्तु विशेषको अन्य वस्तुओंके विनिमय साध्य मूल्यका मापदंड मानलिया जाय। आधुनिक संसारके अधिकतर समाजोंमें द्रव्य द्वारा वस्तुओंके मूल्य निर्धारित करनेकी प्रणाली प्रचलित है। जब किसी वस्तुका मूल्य मुद्राओंके रूपमें आंका जाताहै तो उसे उस वस्तुका मौद्रिक मूल्य अथवा केवल मूल्य कहा जासकता है। 'द्रव्य' के अध्यायमें इस विषयका विशेष रूपसे विवेचन किया गया है।

मूल्य का महत्व

आधुनिक विनिमय प्रधान संसारमें उत्पत्ति और वितरणके सभी कार्य विनिमय द्वारा होते हैं। यह विनिमय वस्तुओं अथवा मानुषी सेवाओंके मूल्यके आधारपर होता है। कृषकके पास अन्न है और उसे कपड़ेकी आवश्यकता है। जुलाहेके पास

कपड़ा है और उसे अन्नकी आवश्यकता है। कृषक अपने अन्नके मूल्यका अनुमान, उसे उत्पन्न करनेमें जो श्रम करना पड़ा था, उसके मूल्यके आधारपर करता है और कपड़ेके मूल्यका अनुमान उससे मिलनेवाली उपयोगिता के मूल्यके आधार पर। उसीप्रकार जुलाहा अपने कपड़े और किसानके अन्नके मूल्योंका अनुमान लगाता है। बहुतसे कृषकों और जुलाहोंके अनुमानोंका बाज़ारमें एक दूसरेसे सम्पर्क होने पर अन्नका कपड़ेके रूपमें और कपड़ेका अन्नके रूपमें सर्वप्रिय मूल्य निर्धारित हो जाता है। वस्तुओंका परस्पर वस्तुओंसे ही विनिमय कष्टसाध्य है क्योंकि विनिमय कार्यके पूरा होनेके लिए यह आवश्यक है कि देनेवाले और लेनेवाले दोनोंके पास ऐसी वस्तुएं हों, जो एक दूसरेको चाहिएं। केवल यही नहीं वे वस्तुएं दोनोंके पास इच्छित मात्रा में होनी चाहिएं। इसकारण प्रत्येक वस्तुका मूल्य द्रव्यके रूप में प्रकट करलिया जाताहै और उसके आधारपर उनका पारस्परिक विनिमय होता रहता है।

मांग, पूर्ति और मूल्य

मूल्य स्वयं मांग और पूर्तिका एक अंग है। वास्तवमें मांग और पूर्तिकी मात्रायें किसी मूल्य विशेषसे सम्बन्धित करके प्रकट कीजाती है अर्थात् मांग और पूर्ति दोनों मूल्यपर निर्भर हैं। मूल्यमें वृद्धि होनेपर मांग कम होगी और पूर्ति अधिक। इसीप्रकार मूल्य कम होनेपर मांग अधिक होगी और पूर्ति कम। दूसरी ओर मूल्य स्वयं मांग और पूर्तिपर निर्भर है। पूर्ति कम होनेपर मूल्य अधिक होगा और अधिक होनेपर कम। इसके विपरीत मांग कम होनेपर मूल्य कम होगा और अधिक होनेपर अधिक। मांग, पूर्ति और मूल्य परस्पर एक दूसरेपर निर्भर हैं। इनमेंसे प्रत्येक शेष दो को निर्धारित करनेमें सहायता देताहै और बाज़ारमें उनके पारस्परिक सम्पर्क से एक प्रकारका सन्तुलन सा स्थापित होनेकी सम्भावना बनी रहती है। पूर्ण सन्तुलनतो कभी स्थापित नहीं होपाता क्योंकि यहतो उस समय स्थापित होगा जबकि किसी मूल्य विशेष पर सम्पूर्ण पूर्ति, सम्पूर्ण मांगको पूरा करनेके लिए केवल पर्याप्त मात्रही हो। परन्तु ऐसा कभीं नहीं होता। केवल इस सन्तुलनकी स्थितिसे इन तीनोंमें से एकभी बहुत आगे पीछ नहीं रहने पाता। यदि

पूर्ति मांगसे अधिक होतो विक्रेताओंकी प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य कम होने लगेगा। इसके फलस्वरूप पूर्ति कम और मांग अधिक होने लगेगी। इसीप्रकार जब मांग पूर्तिसे अधिक होगी तो ग्राहकोंकी प्रतिस्पैर्धाके फलस्वरूप मूल्यका बढ़ना आरम्भ होने लगेगा। इसके फलस्वरूप मांगमें कमी और पूर्त्तिमें वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार हरसमय सन्तुलनके भंग होनेपर स्वयंही ऐसी शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता रहताहै जो फिर सन्तुलन स्थापित करनेकी चेष्टा करती रहती हैं। ये शक्तियां बाज़ारकी भिन्न भिन्न स्थितियोंमें एकसा बल नहीं रखतीं। यदि विक्रेताओंमें और ग्राहकोंमें परस्पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो तो ये शक्तियांभी पूरे बलसे कार्य करती हैं। यदि विक्रेताओंका एकाधिकार हो तो वे पूर्ति अथवा मूल्यमेंसे एकपर इन शक्तियों का पूरा प्रभाव नहीं पड़ने देते अर्थात् पूर्तिकी मात्रा अथवा मूल्यमें से एकको अपनी इच्छानुसार घटा बढ़ा सकते हैं। यदि ग्राहकोंका एकाधिकार हो तो वे मांग और मूल्यमें से एकका नियन्त्रण करसकते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्रियोंका विचारहै कि व्यवहार में न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा और न एकाधिकार ही होता है। जोन राविन्सन के कथनानुसार अपूर्ण प्रतिस्पर्धाका ही प्रभुत्व है। चेम्बरलेनने तो एकाधिकार, पूर्ण प्रतिस्पर्धा इत्यादिका भी वर्गीकरण किया है।

काल-भेद और मूल्य

इसके अतिरिक्त कालकी गतिसे भी इस सन्तुलनपर प्रभाव पड़ताहै क्योंकि पूर्ति, मांग तथा मूल्यकी स्थितियोंमें अन्तर पड़जाता है। समय व्यतीत होनेसें उत्पत्तिकी मात्रा तथा जनताके स्वभाव, रुचि इत्यादिमें परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। फलस्वरूप पूर्ति और मांगकी स्थिति वैसी नहीं रहती जैसीकि पहिले थी। इन शक्तियोंके बदलनेसे सन्तुलनभी अपना पुराना स्थान बदललेता है।

अर्थशास्त्री कालके तीन भेद करते हैं। पहिला वहहै जिसमें केवल उन्हीं वस्तुओं का लेनदेन होताहै जो उत्पन्नकी जाचुकी हैं और पहिलेसे ही बाज़ारमें उपस्थित हैं। दूसरा वह जिसमें पहिलेसे ही प्रस्तुत उत्पादक सामग्री द्वारा पैदाकी जा सकनेवाली वस्तुएं बाज़ारमें लायी जा सकती हैं। तीसरा काल वहहै जिसमें नयी उत्पादक सामग्री द्वारा अथवा पुरानी सामग्रीकी उत्पादन शक्तिमें वृद्धि करके उत्पन्नकी जाने

वाली वस्तुएंभी विनिमयके लिए उपलब्ध होजाती हैं। पहिलेको हम क्षणिक काल, दूसरेको अल्पकाल और तीसरेको दीर्घकाल कहेंगे। स्पष्टहै कि क्षणिक कालमें मूल्य निर्धारण करनेमें प्रभुत्व मांगका होगा, दीर्घकालमें पूर्तिका और अल्पकालमें कभी मांग और कभी पूर्तिका अथवा दोनों का।

क्षणिक काल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

क्षणिककाल में पूर्तिकी मात्रातो बाज़ारमें घटायी और बढ़ायी नहीं जासकती। अत: मूल्य-निर्धारण करनेमें सीमान्त ग्राहकका विशेष महत्व रहता है, उसकी मूल्य-निर्धारण करनेकी शक्तिपर विक्रेताका केवल इतना नियन्त्रणहै कि वह ग्राहकके लगायेहुए मूल्यपर वस्तुको न बेचे परन्तु उनका संग्रह करले। इस सम्बन्धमें यह कहदेना है कि प्रत्येक विक्रेता अपने मनमें किसी वस्तुका एक न्यूनतम मूल्य निश्चित करलेता है, जिसके नीचे वह उस वस्तुको नहीं बेचता। वस्तु यदि नश्वरहो तो यह न्यूनतम मूल्य बहुत ही कम होता है परन्तु यदि वस्तु संग्रहशील हो तो अधिक। यदि विक्रेताके विचारानुसार उसे भविष्यमें मिलनेवाला मूल्य वर्तमानमें मिलनेवाले मूल्य और संग्रहके व्ययसे अधिकहै तो वह वस्तु बेचने के स्थानपर वस्तुका संग्रह करना ही उचित समझेगा। भविष्यमें मिलनेवाले मूल्यका अनुमान भविष्यके लिए सौदा करनेवाले बाज़ारसे किया जासकता है। कृषि द्वारा उत्पन्न बहुतसी वस्तुओंका मूल्य इसीप्रकार निर्धारित होता है।

अल्पकाल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

अल्पकालमें मांग बढ़नेसे मूल्य बढ़ना आरम्भ होजाय तो पूर्तिभी बढ़ायी जासकती है। सन्तुलन उस स्थानपर स्थापित होताहै जिस स्थानपर कि किसी विशेष मूल्य पर मांग और पूर्त्ति दोनों सम होजायें। मान लीजिए कि खांड़की मांग और पूर्ति की तालिकाएं हमें मालूमहैं अर्थात हम जानतेहैं कि दिये गये मूल्यपर खांड़की अमुक मात्रामें मांग होगी और अमुक मात्रामें पूर्ति। इन तालिकाओं द्वारा सिद्ध किया जासकता है कि सन्तुलन उसीसमय स्थापित होसकता है जबकि किसी विशेष

मूल्य पर मांग और पूर्तिकी मात्रा सम होगी। मांग और पूर्तिके नियमोंकी सहायतासे तालिकाएं इसप्रकार बनायी जासकती हैं कि मूल्यके कम होनेपर मांग बढ़नी चाहिए और पूर्ति घटनी चाहिए। मूल्यके अधिक होनेपर मांग घटनी चाहिए और पूर्त्ति बढ़नी चाहिए।

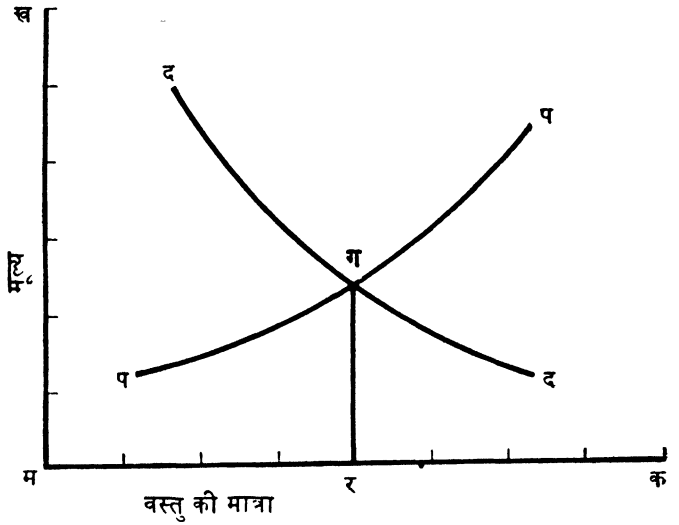
खांड़की मांग और पूर्तिकी एकत्रित तालिका

मांगकी मात्राएं (मन)	मूल्य (रुपये)	पूर्तिकी मात्राएं (मन)
२००	५०	४,०००
३००	४९	३,८००
५००	४८	३,५००
१,०००	४७	३,०००
१,६००	४६	२,५००
२,०००	४५	२,०००
२,५००	४४	१,६००
३,०००	४३	१,०००

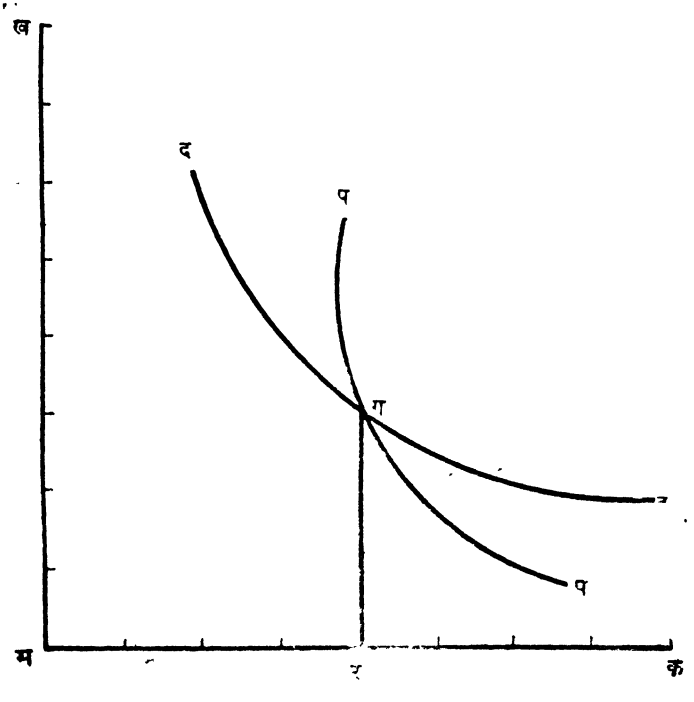
मान लीजिए कि मूल्य ४७ रुपये मन है। इस मूल्यपर मांग १,००० मनकी होगी और पूर्ति ३,००० मनकी। इस मूल्यपर मांगके परिमाणसे पूर्तिका परिमाण अधिक होनेके कारण विक्रेताओंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा होगी। अतएव वे मूल्य कम करके ग्राहकोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टा करेंगे। इस परिस्थितिमें ग्राहकलोग मूल्यके और भी गिरनेकी आशामें वस्तु खरीदना स्थगित करदेंगे परन्तु मूल्यकी हर कमीके साथ कुछ लोग खरीदनेके लिए उद्यतहो जायेंगे। दूसरीओर मूल्य के घटनेसे पूर्तिकी मात्रामें कमी होती जायेगी क्योंकि मूल्य घटते घटते कुछ विक्रेताओंके पूर्वनिर्धारित न्यूनतम मूल्यसे कम हो जायेगा। यह क्रिया तब तक होती रहेगी जबतक मूल्य ४५ रुपये प्रतिमन नहीं होजाता। विक्रेता इसमें सेल्य क न करेंगे क्योंकि इस मूल्यपर जितना वे बेचना चाहते हैं, उसके लिए उन्हें ग्राहक मिल जायेंगे। इसीप्रकार यहभी प्रदर्शित किया जासकता है कि मूल्य ४५ रुपये प्रतिमनसे कम नहीं होसकता। मानलीजिए मूल्य ४३ रुपये मन है। इस मूल्य पर विक्रेता १,००० मन बेचना चाहते हैं और ग्राहक ३,००० मन लेना चाहते हैं।

इस मूल्य पर मांगसे पूर्ति कम होनेके कारण ग्राहकोंकी प्रतिस्पर्धाके फलस्वरूप मूल्यमें ४३ रुपये मनसे अधिक होनेकी प्रवृत्ति हो जायेगी। मूल्य बढ़नेसे मांग कम होती चली जायेगी और पूर्ति बढ़ती चली जायेगी। यह क्रिया तबतक बन्द न होगी जबतक कि मूल्य ४५ रुपये मन नहीं होजाता। ग्राहकोंमें प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य बढ़ने और विक्रेताओंमें प्रतिस्पर्धाके कारण मूल्य घटनेकी प्रवृति होजाती है। सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होताहै जिसपर कि सीमान्त विक्रेता बेचनेके लिए उद्यत होजाते हैं। सीमान्त विक्रेता वह विक्रेता है जो किसी विशेष मूल्य पर केवल बेचने मात्रके लिए तैयार हो पाता है और सीमान्त ग्राहक वह ग्राहक है जो किसी विशेष मूल्य पर खरीदने मात्रके लिए तैयार हो पाता है। इस प्रकार हर मूल्यके लिए सीमान्त विक्रेता और सीमान्त ग्राहक होंगे। सन्तुलन उस मूल्य पर स्थापित होगा जो उस मूल्यके सीमान्त विक्रेताओं और सीमान्त ग्राहकोंको अभीष्ट होगा। कारण यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें एक बाजारमें एकही वस्तुका एकही मूल्य होना आवश्यक है।

ज्यामितिकी सहायतासे सन्तुलन क्रियाको निम्नलिखित ढंगसे दर्शाया जा सकता है:



'म ख' रेखापर मूल्य दिखाया गयाहै और 'म क' रेखापर मांग तथा पूर्ति। मांग रेखाका आकार 'द, द' रेखाके समान होगा और पूर्ति रेखाका 'प, प' रेखाके समान क्योंकि मूल्यके घटनेसे मांग बढ़ती जाती है और पूर्ति घटती है। सन्तुलन 'ग' स्थान पर स्थापित होगा, जिस स्थानपर ये दोनों रेखाएं परस्पर एक दूसरेको काटती हैं। इस चित्रमें मांग रेखा नीचेकी ओर गिर रही है और पूर्ति रेखा ऊपर की ओर चढ़ रही है। परन्तु ऐसीभी स्थिति होसकती है कि पूर्ति रेखाभी नीचेकी ओर गिर रही हो। ऐसा तब होताहै जब किसी वस्तुके उत्पादनमें व्ययका क्रमागत ह्रासनियम लाग होरहा हो। उससमय इन रेखाओंका आकार इसप्रकार होगा:



परन्तु अबभी सन्तुलन उसी स्थानपर स्थापित होगा जिसपर ये दोनों रेखाएं आपसमें एक दूसरेको काटती हों।

अल्पकाल, एकाधिकार और मूल्य

एकाधिकारसे हमारा अभिप्राय विक्रेताओंके एकाधिकारसे है अर्थात् वस्तु-विशेष का बाज़ारमें केवल एकही विक्रेता हो। जब एकही वस्तुके दो विक्रेता हों तो उसे द्वयाधिकार कहते हैं और जब दो से अधिक थोड़ेसे विक्रेता हों तो उसे बहवाधिकार कहाजाता है।

एकाधिकारमें विक्रेता पूर्ति अथवा मूल्यमें से एकका नियन्त्रण करसकता है। यदि वह कृत्रिम नियन्त्रणों द्वारा पूर्तिमें कमी करता है तो वस्तुका मूल्य उस स्थितिसे अधिकही होगा जबकि वह पूर्ण पूर्तिको बाज़ारमें उपस्थित होने देता है। एकाधिकारी विक्रेताका उद्देश्य अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त करना होता है। वह मांगकी लोच इत्यादिका अध्ययन करके मूल्य इसप्रकार निश्चित करताहै कि उसे अधिकतम शुद्ध लाभ मिलसके। मूल्य बढ़ाने से मांगमें कमीतो अवश्य होतीहै परन्तु जब तक मांगकी इस कमीसे होनेवाली हानि अधिक मूल्यके कारण मिलनेवाले लाभसे कम रहती है तबतक मूल्य बढ़नेमें उसका क्षेम निहित है। यदि मूल्य वृद्धिके कारण मांगमें कमी आजानेसे होनेवाली हानि मूल्य-वृद्धिसे मिलनेवाले लाभके परिमाणसे अधिकहो तो ऐसी परिस्थितियों में एकाधिकारीके कुल शुद्ध लाभमें कमी आजायेगी। अतएव उसको अधिकतम शुद्ध लाभ उस मूल्यपर प्राप्त होगा जहांपर मांगकी कमी से होनेवाली हानि मूल्य वृद्धिसे होनेवाले लाभके सम हो। मानलीजिए किसी वस्तु की प्रत्येक इकाई पर एकाधिकारी की लागत ३ रुपए है और विविध मूल्योंपर बिकनेवाली मात्राएं इसप्रकार हैं:

मूल्य प्रत्येक इकाई	लागत प्रत्येक इकाई	लाभ प्रत्येक इकाई	बिक्री की मात्रा	कुल शुद्ध लाभ
१८)	३)	१५)	३००	४,५००)
१६)	३)	१३।	५००	६,५००)
१४)	३।	११)	७००	७,७००)
१२)	३)	९)	९००	८,१००)
१०)	३)	७)	१,१००	७,७००।

८)	३)	५)	१,३००	६,५००)
६)	३)	३)	१,५००	४,५००)

जब मांगकी तालिका उपरिलिखित प्रकारसे हो तो अधिकतम लाभकारी मूल्य १२ रुपये है क्योंकि इस मूल्यपर उसे अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त होता है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

हम लिखचुके हैं कि प्रतिस्पर्धा उससमय अपूर्ण समझी जातीहै जब ग्राहक वस्तु विशेषको न्यूनतम मूल्यपर बेचनेवाले विक्रेतासे नहीं लेते है। कई ग्राहक किसी विशेष विक्रेतासे वस्तु अधिक मूल्य देकरभी लेनेको इसलिए उद्यत रहते हैं क्योंकि वह विक्रेता वस्तुके साथ साथ कुछ ऐसी सेवाएंभी ग्राहकों को उपलब्ध करता है। जो उनको अभीष्ट हैं। इसके उदाहरण हम प्रतिस्पर्धाके अध्यायमें देचुके हैं। उसी अध्यायमें यहभी बताया जाचुका है कि बहुधा विक्रेता लोग विज्ञापन तथा व्यापार चिह्नों द्वारा ग्राहकोंके मनमें वास्तविक या काल्पनिक गुणोंके कारण अपनी वस्तुके लिए विशेष श्रद्धा उत्पन्न करनेमें समर्थ होजाते हैं। इस कारण भिन्न भिन्न चिह्नों वाली एकही वस्तुका न्यूनाधिक मूल्य लिया जासकता है। ऐसी विशेष चिह्नवाली वस्तुका विक्रेता एकाधिकारीके समान अपनी वस्तुका मूल्य निश्चित तो करसकता है परन्तु उस वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुओंका अस्तित्व उसके द्वारा निश्चित मूल्यपर बिकनेवाली वस्तुकी मात्राको नियन्त्रित किये रहता है। यदि इस वस्तुको बेचनेवाले थोड़ेसे ही विक्रेता हों और उनमें से एक विक्रेता अधिक मात्रामें बेचने के लिए अपनी वस्तुका मूल्य कम करदे तो उसके प्रतिस्पर्धी भी अपने ग्राहक खोदेने के भय से अपना मूल्य कम करदेने की सोचेंगे। ऐसा होनेपर वह मूल्यको कम करके भी अपनी वस्तुकी मांगमें अधिक मात्रामें वृद्धि करनेमें समर्थ न हो पायेगा। इसके अतिरिक्त अपूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें मांगकी लोच पूर्ण पतिस्पर्धा की दशा की अपेक्षा बहुत कम होती है। अतएव वस्तुको पहिलेसे अधिक मात्रामें बेचनेके लिए मूल्यमें अधिक कमी करनी पड़ती है। इन कारणोंसे ऐसी वस्तुका एक बार ऐसा मूल्य स्थापित होजानेसे जिसपर कि वह पर्याप्त मात्रामें बिक रहीहो विक्रेता लोग मूल्य परिवर्तनसे बहुत घबराते हैं अन्यथा विक्रेताओं में मूल्य घटानेकी प्रति-

स्पर्धा यहांतक बढ़ सकती है कि अन्ततोगत्वा सभीको हानि उठानेके कारण पश्चात्ताप करना पड़े। इसलिए ऐसी वस्तुओंके मूल्य प्राय: दीर्घकालके लिए स्थापित होजाते हैं।

बाज़ार-मूल्य और सामान्य-मूल्य

बाज़ार-मूल्य मांग और पूर्तिके सन्तुलनसे स्थापित होता है। ऊपरकी पंक्तियों में यह दिखलाया जाचका है। परन्तु इस प्रकरणमें यह मानलिया गयाथा कि किसी निश्चित उपभोग कालके लिए पर्याप्त मात्रामें उपभोग वस्तुएं उपलब्ध हैं। दीर्घ काल में स्थापित होनेवाले मूल्यको सामान्य मूल्य या प्राकृतिक मूल्य कहते हैं। यह केवल बाज़ारमें उपस्थित मांग और पूर्तिके सन्तुलनसे नहीं परन्तु उत्पादन और उपभोगके सन्तुलनसे स्थापित होता है। उत्पादनका सम्बन्ध उत्पादन-व्यय से होनेके कारण इस सन्तुलनके अध्ययनके लिए हमें उत्पादन-व्ययको ध्यानमें रखना होगा। इसके अतिरिक्त उत्पादक उत्पादन कार्यमें लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा से संलग्न होता है। इसलिए हमें उत्पत्तिसे प्राप्त होनेवाली उत्पादककी आयपर औरभी ध्यान देना होगा। इस सम्बन्धमें सीमान्त उत्पादन-व्यय तथा सीमान्त-आयकी परिभाषाओंसे परिचय प्राप्त करना होगा। किसी वस्तुकी एक और इकाईके उत्पादनसे कुल व्ययमें जो वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त व्यय और किसी वस्तुकी एक और इकाई बेचनेसे कुल आयमें जो वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त आय कहते हैं। ये परिभाषाएं नीचे दीहुई तालिकाओंसे भलीप्रकार समझमें आजायेंगी :

उत्पत्ति की मात्रा इकाइयां	उत्पादन-व्यय प्रत्येक इकाई (रुपये)	कुल उत्पादन व्यय (रुपये)	सीमान्त उत्पादन-व्यय (रुपये)
१	१०)	१०)	...
२	८)	१६)	६)
३	७।	२१)	५)

४	७।	२८)	७।
५	८)	४०)	१२)
६	९)	५४)	१४)
७	१०)	७०)	१६)
८	११)	८८)	१८)

एक इकाईके उत्पन्न करनेके अनन्तर दूसरी इकाई उत्पन्न करनेके लिए ६ रुपये अधिक व्यय करना पड़ते हैं। इसलिए ६ रुपया दूसरी इकाईका सीमान्त उत्पादन व्यय हुआ। इसीप्रकार अगली इकाइयां उत्पन्न करनेके अनन्तर छठी इकाई उत्पन्न करनेके लिए हमें १४ रुपये अधिक व्यय करने पड़ते हैं। इसलिए १४ रुपया छठी इकाईका सीमान्त उत्पादन व्यय हुआ।

अब आयको ले लीजिए:

वस्तु की मात्रा इकाइयां	मूल्य प्रत्येक इकाई (रुपये)	कुल आय (रुपये)	सीमान्त आय (रुपये)
१	१८)	१८)	...
२	१६)	३२)	१४)
३	१४)	४२)	१०)
४	१२)	४८)	६)
५	१०)	५०)	२)
६	९)	५४)	४)
७	८)	५६)	२)
८	७॥)	५८)	२)

तीन वस्तुओंके अनन्तर चौथी वस्तु बेचनेसे उत्पादकको ६ रुपये अधिक प्राप्त होतेहैं इसलिए ६ रुपये चौथी वस्तुकी सीमान्त आय हुई। इसीप्रकार ६ वस्तुओंके बेचनेके उपरान्त सातवीं वस्तु बेचनेसे २ रुपये अधिक आय हुई। इसलिए २ रुपये सातवीं वस्तुकी सीमान्त आय हुई।

स्मरण रहे कि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय वस्तुकी प्रत्येक इकाईके लिए निर्धारित किये जासकते हैं।

औसत उत्पादन-व्यय और औसत आय

औसत उत्पादन-व्यय निकालनेके लिए कुल व्ययको कुल उत्पन्न वस्तुओंकी मात्रासे और औसत आयको निकालने के लिए कुल आयको कुल वस्तुओंकी मात्रासे भाग देदिया जाता है। स्पष्ट है कि औसत आय और मूल्य एकही समान होंगे।

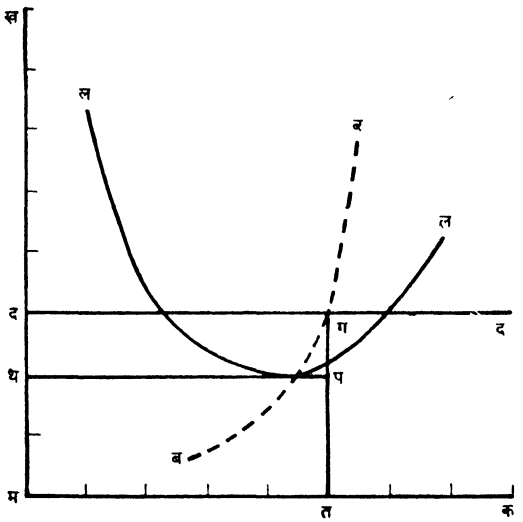
यदि किसी वस्तुके उत्पादनमें व्ययका क्रमागत-ह्रास-नियम लागू होरहा हो तो उस वस्तुकी अधिक मात्रामें उत्पत्ति किए जानेपर सीमान्त उत्पादन व्यय कम होता जायेगा और उस वस्तुके व्ययका क्रमागत-वृद्धि-नियम अनुपालन करनेपर अधिक मात्रामें उत्पति होने पर सीमान्त उत्पादन व्ययभी अधिक होता जायेगा।

यदि अल्पकाल में निर्धारित मूल्य द्वारा उत्पादकको हानि होरही हो या यथेष्ट लाभ प्राप्त न होरहा हो, तो वह भविष्यमें होनेवाली पूर्तिकी मात्राको भविष्यकी मांगके अनुसार न्यूनाधिक करनेका प्रयत्न करके अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेगा।

दीर्घ कालमें मूल्यका सन्तुलन उससमय होगा जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त उपयोगिता सम होजाये अथवा जब सीमान्त उत्पादन व्यय और मांग द्वारा निर्धारित मूल्य सम होजाये। प्रत्येक उत्पादकका चरम उद्देश्य अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करना अथवा अपनी हानिको न्यूनतम करना होता है। यह उसी समय होसकता है जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय सम होजायें क्योंकि जबतक सीमान्त आय सीमान्त उत्पादन व्ययसे अधिक रहेगी, उत्पादक अधिक मात्रामें उत्पन्न करके कुल लाभको बढ़ानेमें अथवा कुल हानिको घटाने में समर्थ होसकेगा। ज्यामितिकी परिभाषामें कहा जासकता है कि उत्पादक उस बिन्दु तक उत्पन्न करता रहेगा जिसपर कि सीमान्त उत्पादन व्यय रेखा और सीमान्त आय रेखा परस्पर एक दूसरेको काटती हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा, अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और पूर्ण एकाधिकार तीनों स्थितियोंमें दीर्घकालीन पूर्ति इस नियम द्वारा नियमित रहेगी।

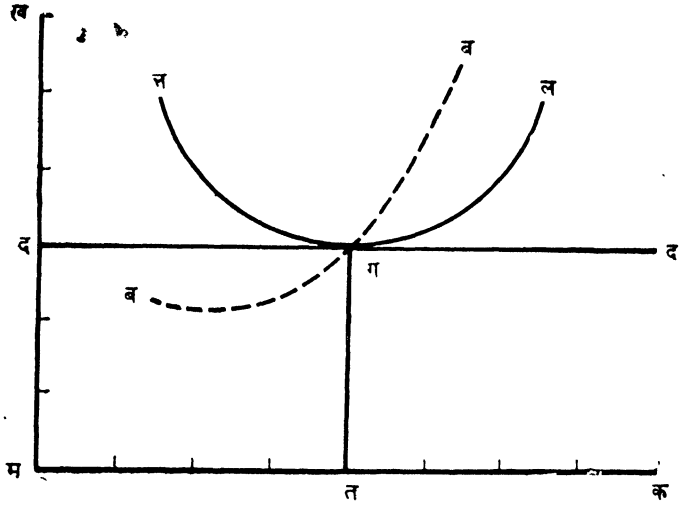
यदि पूर्ण प्रतिस्पर्धा होगी तो उत्पादक बहुतसे होंगे और सबके सब एकही

मूल्यपर बेचेंगे। यह मूल्य सब उत्पादकोंकी कुल पूर्ति और सब ग्राहकोंकी कुल मांगसे निर्धारित होगा। यदि इस प्रकारसे निर्धारित मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक होगा तो नये उत्पादक लाभ उठानेकी इच्छासे इस वस्तुको उत्पन्न करना आरम्भ करदेंगे अथवा पुराने उत्पादक अधिक मात्रामें वस्तु उत्पन्न करके अधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे। इसप्रकार वस्तुकी अधिक मात्रामें पूर्ति होनेसे मूल्य कम होने लगेगा और सन्तुलन उससमय स्थापित होगा जब प्रत्येक उत्पादकका सीमान्त उत्पादन व्यय और वस्तुका मूल्य समान हो जायेगा। सीमान्त उत्पादन व्यय का सीमान्त आयके सम होना अनिवार्य है अतएव पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें मूल्यभी इन दोनोंके बराबर होगा। इस सम्बन्धको नीचे दिये गये रेखाचित्र द्वारा दिखाया गया है :



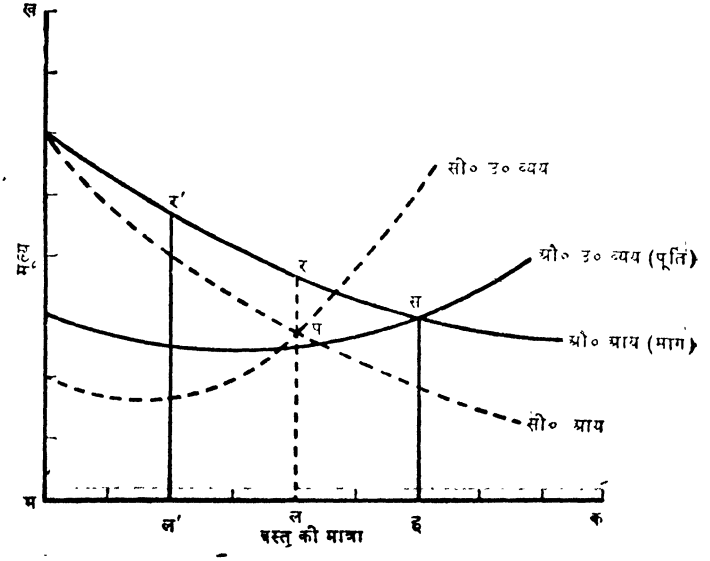
म क रेखा वस्तुका परिमाण बताती है और म ख रेखा पर उसका मूल्य, आय और व्यय सूचित किये गये हैं। द द रेखा मांगकी रेखा है। जैसाकि पहिले बताया जाचुका है पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें औसत आय वस्तुके मूल्यके बराबरही रहती है। प्रत्येक विक्रेताकी सीमान्त आयभी मूल्यके ही समान होगी क्योंकि वह अपनी

उत्पत्तिकी प्रत्येक इकाईसे मूल्यके समानही आय प्राप्त करता है। अतएव द द रेखा मांग, सीमान्त आय और औसत आयकी द्योतक है। ल ल रेखा औसत व्ययकी रेखा है और ब ब रेखा तत्सम्बन्धी सीमान्त व्ययकी रेखा है। सीमान्त व्ययकी रेखा ब ब सीमान्त आयकी रेखा द द को ग बिन्दु पर काटती है। अतएव म त उत्पादनकी मात्रा होगी। इस परिस्थितिमें कुल उत्पादन व्यय म त प थ और कुल आय म त ग द होगी और प ग द थ अतिरिक्त लाभ होगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी परिस्थितिमें यह अवस्था स्थायी नहीं रहसकती क्योंकि इसमें नये उत्पादकों के आनेकी और पुराने उत्पादकों के उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। इसके फलस्वरूप उस वस्तुका मूल्य गिरने लगेगा और तबतक गिरता जायेगा जबतककि अतिरिक्त लाभ लुप्त न होजाये। यह उसी दशामें होगा जहांपर औसत आय रेखा द द औसत व्यय रेखा ल ल पर स्पर्श रेखा बन जाती है। स्पष्ट है कि यह बिन्दु ल ल रेखा पर सबसे नीचा बिन्दु होगा और यहींपर सीमान्त व्यय रेखा भी औसत व्यय रेखाको काटेगी। इस परिस्थितिमें रेखाचित्र इस प्रकार का होगा :



एकाधिकारी को यह सुविधा प्राप्तहै कि वह अधिकसे अधिक लाभ उठानेके लिए न केवल उत्पत्तिकी मात्राको न्यूनाधिक करके उत्पादन व्ययको न्यूनाधिक

करसकता है परन्तु मात्राको न्यूनाधिक करके वस्तुके मूल्य तथा अपनी औसत आयको भी न्यूनाधिक कर सकता है। वह उत्पादन तो उतनी मात्रा में करेगा कि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय सम होजायें। परन्तु वह उस मूल्य पर बेच सकेगा जहांपर उसकी बिक्रीके लिए लायी गयी वस्तुका परिमाण मांगके परिमाणके सम हो। यदि वह अधिक मात्रामें बेचना चाहताहो तो उसको कम मूल्य प्राप्त होसकेगा और कम मात्रामें बेचनेपर वह अधिक मूल्य प्राप्तकर सकेगा। यह मूल्य सदैव सीमान्त उत्पादन व्ययसे और फलतः सीमान्त आयसे अधिक होगा। एकाधिकारीकी औसत आय सीमान्त आयसे सदैव अधिक होगी। ज्यामितिकी परिभाषामें एकाधिकारकी दशामें सीमान्त आयरेखा औसत आय रेखा से सदैव नीचे रहेगी क्योंकि एकाधिकारीको अधिक बेचनेके लिए अपने मूल्यको कम करना पड़ता है। स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी अवस्थामें एक उत्पादक अधिक मात्रा को भी पूर्वनिर्धारित मूल्यपर बेच सकता है। इसीलिए उसकी औसत आय रेखा और सीमान्त आय रेखा एकही होती हैं। नीचे दिये गये रेखाचित्रमें एकाधिकार की अवस्थामें मूल्य निर्धारण क्रियाको दिखाया गया है :



विविध रेखाएं और उनके नाम ऊपर दियेगये हैं 'प' बिन्दुपर सीमान्त उत्पादन व्यय रेखा और सीमान्त आय रेखा परस्पर एक दूसरे को काटती हैं। एकाधिकारीको लाभ उस वस्तुकी म ल मात्रा उत्पन्न करनेमें है और इस मात्रा पर उसका मूल्य ल र होगा जो मांग द्वारा निर्धारित होगा। चित्रसे विदितहै कि एकाधिकारीका अधिकतम लाभ वस्तुको अधिकसे अधिक मूल्यपर बेचनेमें नहीं होता जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं। रेखाचित्र में मूल्यको ल र से ल' र' करने पर उसकी बिक्री म ल' रह जायेगी। यहां पर उसकी सीमान्त आय उसके सीमान्त व्यय से अधिक है। अतएव अपने कुल लाभको अधिकतम करनेके लिए एकाधिकारीकी प्रवृति अपनी उत्पत्तिकी मात्रा म ल' से बढ़ानेकी होगी और यह वृद्धि करने की प्रवृत्ति उस परिमाण तक बनी रहेगी जहां पर सीमान्त आय और सीमान्त व्यय सम होजायें। रेखा-चित्रमें यह 'प' बिन्दु है।

स्पष्ट है कि मूल्य बढ़नेसे यद्यपि प्रत्येक इकाई पर लाभ अधिक होता है परन्तु कुल लाभ कम होजाता है। इसीप्रकार म ल' से अधिक मात्रा उत्पन्न करनेपर एकाधिकारीको तबतक लाभ मिलता रहेगा जबतक कि औसत आय या मूल्य औसत व्ययसे अधिक रहेगा। परन्तु उसे अधिक से अधिक कुल लाभ म ल मात्रा उत्पन्न करने पर ही मिलेगा। रेखाचित्रके अनुसार म ह परिमाण तक एकाधिकारी को लाभ होताहै परन्तु अधिकतम लाभ म ल परिमाण परही होगा। अतएव यदि एकाधिकारीने म ल से अधिक मात्रामें उत्पत्ति करली हो तो उसका क्षेम उसको कम करके म ल तक लानेमें होगा क्योंकि इस परिमाणके बाद सीमान्त व्यय सीमान्त आयसे अधिक रहता है।

यदि यह मानलिया जाये कि एकाधिकारीकी पूर्ति रेखा प्रतिस्पर्धी उत्पादकोंके औसत उत्पादन व्यय की सहायतासे बनायी हुई पूर्ति रेखाके समानहोंगी तो प्रतिस्पर्धाकी दशामें उत्पत्तिकी मात्रा म ह और मूल्य स ह होगा। विदित है कि प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें एकाधिकार की स्थितिसे उत्पत्तिकी मात्रा अधिक होगी और मूल्य कम।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता अपनी विशेष व्यापार चिह्नवाली वस्तुका अथवा बाजारके अपने भागमें एकाधिकारी सा होता है। इसलिए उसकी वस्तुके लिए मांग रेखाके पूर्ववत् रहने पर सन्तुलन उसी प्रकार

स्थापित होताहै जैसेकि एकाधिकारकी स्थिति में। अन्तर केवल इतना है कि इस स्थिति में नये उत्पादक उस वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुके निर्माणमें संलग्न होकर वस्तुकी पूर्ति पर प्रभाव डाल सकते हैं। एकाधिकारकी स्थितिमें ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि उस स्थितिमें स्थानापन्न वस्तुओंका अभाव मान लिया जाता है।

द्वयाधिकार तथा बहवाधिकारकी परिस्थितिमें वस्तुका मूल्य साधारणत: तबतक निर्धारित नहीं किया जासकता जब तक कि उत्पादक बाजारको भागोंमें विभाजित करके अपने विशेष भागमें वस्तु बेचनेका अथवा वस्तुकी कुल उत्पत्तिमें से पहिलेसे ही निश्चित विशेष भागके उत्पन्न करनेका परस्पर समनुबन्ध न करले। इस स्थिति में प्राय: घातक प्रतिस्पर्धाके अनन्तर ऐसे उत्पादकों को हानिसे बचनेके लिए ऐसा समनुबन्ध करनाही पड़ता है।

सम्मिलित उत्पत्ति और मूल्य

कई एक वस्तुएं सम्मिलित रूपमें ही उत्पन्न की जासकती हैं; पृथक पृथक नहीं। जैसे गेहूं और भूसा एकही साथ उत्पन्न होते हैं। ऐसी सम्मिलित उत्पतिकी दशामें प्रत्येक वस्तुका सीमान्त या औसत उत्पादन व्यय निकालना कठिन होजाता है। इस प्रकार सम्मिलित दशामें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंका सन्तुलन उस समय स्थापित होगा जबकि उन वस्तुओंकी उत्पत्ति उस मात्रामें होगी कि उन वस्तुओंसे मिलनेवाली सीमान्त आय मिलकर उनके सम्मिलित सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाय। यदि उनमें किसीभी वस्तुकी मांगमें परिवर्तन होता है तो उन सबकी उत्पत्तिकी मात्रामें परिवर्तन द्वारा नया सन्तुलन स्थापित होगा।

सम्मिलित मांग

कभी कमी दो या दो से अधिक वस्तुओंकी मांग साथ साथ घटती बढ़ती है। ऐसी स्थितिमें उनके मूल्यभी साथ ही साथ घटते बढ़ते हैं। परन्तु यदि उनमेंसे एक वस्तुका मूल्य उस वस्तुकी पूर्तिमें न्यूनता या आधिक्यके कारण बढ़े या घटे तो

दूसरीके मूल्यमें पहिलीसे विपरीत दिशामें परिवर्तन होगा। चाय की पूर्ति अधिक होने से चायका मूल्य कम होगा। परन्तु खांड़की पूर्ति पूर्ववत् रहने पर उसकी मांग बढ़नेसे उसका मूल्य अधिक होजायेगा। इसके अतिरिक्त यदि सम्मिलित मांग वाली दो वस्तुओं में से पहिलीका केवल एकही प्रयोग हो और दूसरीके बहुतसे प्रयोग हों तो मांगके परिवर्तनसे पहिली वस्तुके मूल्यपर दूसरी वस्तु के मूल्यसे अधिक प्रभाव पड़ेगा। ऐसी स्थिति प्रायः उस समय देखनेमें आतीहै जब उपभोग्य वस्तुकी मांग बढ़नेसे उसके उत्पादन में काम आने वाले साधनोंकी मांग भी बढ़ती है। पावरोटी की मांग बढ़ने से गेहूं और पावरोटी बनानेवालोंकी मांग बढ़ेगी। परन्तु गेहूं के पावरोटी बनानेके अतिरिक्त औरभी बहुतसे प्रयोग होनेके कारण उसके मूल्यमें विशेष परिवर्तन न होगा। परन्तु रोटी बनानेवालों का श्रम विशिष्ट और कुशल होनेके कारण उसका मूल्य बहुत बढ़ जायेगा। अर्थात् उनकी मजूरी अधिक होजायेगी।

एक वस्तु के भिन्न भिन्न मूल्य

कभी कभी उत्पादक विशेषकर एकाधिकारी भिन्न भिन्न प्रकारके ग्राहकोंसे या भिन्न भिन्न बाज़ारों में एकही वस्तुके भिन्न भिन्न प्रयोगोंके लिए भिन्न भिन्न मूल्य लेते हैं। जैसे कई उत्पादक अपने देशमें वस्तु मंहगी और विदेशमें सस्ती बेचते हैं। बिजली का किराया रोशनीके लिए पृथक और औद्योगिक प्रयोगोंके लिए पृथक दरसे लिया जाता है। उत्पादक का प्रयत्न यह रहता है कि जिस बाज़ारम मांगकी लोच कम हो और सीमान्त आय बड़ी शीघ्रतासे गिरती चली जातीहो उस बाज़ारमें वस्तु कम मात्रामें बेचे। इसके विपरीत जिस बाज़ारमें मांग तथा उसकी लोच अधिकहो उसमें सीमान्त आयभी अधिक होती है। उस बाजारमें वह वस्तुको अधिक मात्रामें बेचता है। दोनों बाज़ारों में वह अपनी बिक्रीको इसप्रकार विभाजित करेगा कि उसकी दोनों बाज़ारोंमें सीमान्त आय उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये।

८

प्रतिस्थापना

प्रतिस्थापना का महत्व

आधुनिक अर्थशास्त्रमें प्रतिस्थापनाको विशेष महत्व प्राप्त है। तटस्थ रेखाओं द्वारा अर्थशास्त्रीय समस्याओं का विश्लेषण प्रचलित होनेके कारण पुराने सीमान्त उपयोगिता विश्लेषण का लोपसा होता जारहा है। तटस्थ रेखाओके अध्यायमें हम देखचुके है कि हिक्स इत्यादि अर्थशास्त्री सीमान्त उपयोगिताके स्थानपर सीमान्त स्थानापन्नताकी दरका प्रयोग करते हैं।

वास्तवमें प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थितिके नियम भिन्न भिन्न नहीं हैं; परन्तु एकही नियमके दो भिन्न भिन्न नाम हैं। तटस्थ-स्थितिका नियम सन्तुलनकी अवस्थामें लागू होताहै और प्रतिस्थापना का नियम सन्तुलनसे भिन्न अवस्थामें।

प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थिति

मनुष्यकी आवश्यकतायें बहुत हैं। परन्तु हर आवश्यकता को तृप्त करनेके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके साधन भी हैं। इस प्रकारके साधन जो एकही आवश्यकताको तृप्त करनेमें एक दूसरेका प्रतिस्थापन कर सकतेहों, स्थानापन्न साधन कहे जासकते हैं। जब किसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए इस प्रकारके स्थानापन्न साधन उपलब्ध हों और उनमें से प्रत्येक साधन प्रचलित मूल्योंपर एकही जैसी तृप्ति देनेवाला हो तब उनमेंसे किसी एकका भी प्रयोग करनेके लिए मनुष्य तटस्थसा रहता है। इनमें से किसी साधनका प्रयोग करनेकी ओर उसकी विशेष प्रवृति नहीं होती। यह तटस्थ स्थितिका नियम है। परन्तु संसारकी आर्थिक स्थिति सदैव एकसी नहीं रहती। समय समयपर उसमें परिवर्तन होते रहते हैं और उपलब्ध साधनोंमें से कोईएक उसके सापेक्ष मूल्यमें कमीके कारण अन्य सबसे उत्तम होजाता है और

इस कारण वह अन्य सब साधनों का प्रतिस्थापन करने लगता है। यह प्रतिस्थापना का नियम है।

दो प्रकार की स्थानापन्न वस्तुएं

प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुएं या साधन दो प्रकारके होते हैं। मूल्यों को ध्यानमें रखते हुए कुछतो प्रयोग की जानेवाली वस्तुके समान अथवा उससे अधिक तृप्ति-दायक होती हैं। जैसे विद्युत-शक्ति और मिट्टीका तेल दोनों प्रकाशका गुण रखनेके कारण एक दूसरेका प्रतिस्थापन करसकते हैं परन्तु विद्युत-शक्ति, उसके मूल्यको ध्यानमें रखते हुए अधिक तृप्ति प्रदान करती है। कभी कभी एक वस्तु किसी विशेष उद्देश्यके लिए उत्तम होती है और उसका प्रतिस्थापन करनेवाली दूसरी वस्तु किसी दूसरे उद्देश्यके लिए; जैसे मनुष्य के लिए गेहूं उत्तम है परन्तु घोड़ों के लिए चने।

मूल्योंका ध्यान रखतेहुए कुछ वस्तुएं प्रयोग कीजाने वाली वस्तुसे कम तृप्ति देती हैं। जैसे शुद्ध घी और बनस्पति घी। ऐसी वस्तुओं का प्रयोग मनुष्य विवश होकरही करता है स्वतन्त्रतासे नहीं। शुद्ध घी का मूल्य बहुत बढ़जाने के कारण लोग भलेही बनस्पति घी का प्रयोग प्रारम्भ करदें परन्तु जिनकी आय पर्याप्त है वह शुद्ध घी का ही प्रयोग करेंगे। अथवा उत्तम वस्तुकी पूर्तिमें कमीके कारण भी हीन वस्तुओं का प्रयोग आवश्यकसा होजाता है। जैसे हमारे देशमें अन्नकी न्यूनता के कारण बहुतसे लोग गेहूं के स्थान पर जौ, चने इत्यादि को प्रयोगमें लाने लग गये हैं। ऐसी घटिया वस्तुओंकी एक उपयोगिता यहभी है कि बहुत से लोग जो उत्तम वस्तुके बहुमूल्य होनेके कारण उसका प्रयोग करनेमें असमर्थ थे, मूल्य कम होजाने से घटिया वस्तुका प्रयोग करसकते हैं। बहुतसे लोग जो घी का प्रयोग न कर सकते थे, वनस्पति घी का प्रयोग करने लग गये हैं।

प्रतिस्थापना और मूल्य

स्पष्ट है कि किसी वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुओं का अस्तित्व उस वस्तुके

मूल्य पर अपना प्रभाव अवश्य डालेगा। बाजार-मूल्य किसी वस्तुकी पूर्ति और मांगके पारस्परिक सन्तुलनसे निर्धारित होता है। पूर्तिसे हमारा अभिप्राय केवल उस वस्तुकी पूर्तिसे ही नहीं वरन् उन सभी वस्तुओंकी पूर्तिसे है जो उसी आवश्यकता को तृप्त करनेकी सामर्थ्य रखती हों जिसे वह वस्तु तृप्तकर रही हो अर्थात् उस वस्तुका प्रतिस्थापन कर सकती हो। इसप्रकार किसी वस्तुका प्रतिस्थापन करने वाली वस्तुओंका अस्तित्व उस वस्तुकी पूर्ति बढ़ाकर पूर्तिके निममानुसार उस वस्तुका मूल्य कम कर देता है। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंकी समस्त पूर्ति वस्तुविशेषकी पूर्तिपर प्रभाव डाले ही। हो सकताहै कि ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंका प्रयोग अन्य आवश्यकताओं की तृप्तिके लिएभी होताहो अथवा पहिली वस्तुका प्रयोग करनेवाले उस वस्तुका अन्य वस्तुओं द्वारा प्रतिस्थापन हितकर न समझते हों और ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंके होतेहुए भी पहिली ही वस्तुका प्रयोग करते रहें। अतएव ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंकी पूर्तिका उस वस्तुकी पूर्तिपर केवल आंशिक प्रभावही पड़ेगा और उसी अंशके अनुपातमें उस वस्तुका मूल्यभी कम होगा।

सीमान्त स्थानापन्नता

जब हम आर्थिक उद्देश्योंके बाहुल्य और उन्हें सिद्ध करनेके साधनोंकी न्यूनताके सिद्धान्तको स्वीकार कर लेते हैं तो प्रतिस्थापना का महत्व औरभी अधिक होजाता है क्योंकि इसकी सहायतासे हम साधनोंकी न्यूनताको सापेक्ष रूपसे कम करसकते हैं। मनुष्य का उद्देश्य उपलब्ध साधनों द्वारा अधिकसे अधिक तृप्ति प्राप्त करना है और साधनोंके पारस्परिक प्रतिस्थापनसे हम ऐसी अवस्थाको प्राप्त करसकते हैं कि विविध साधनोंको इस अनुपातमें प्रयोग करें, जिससे हमें अधिकतम तृप्ति मिले। इस अनुपात में किसीभी प्रकारका परिवर्तन होनेपर हमें प्राप्त तृप्तिमें ह्रास ही होगा। यह सत्यहै कि किसी एकवस्तु अथवा साधनका उससे सर्वथा भिन्न वस्तु अथवा साधन द्वारा प्रतिस्थापन कियाजाना सम्भवसा प्रतीत नहीं होता विशेषकर उस अवस्थामें जबकि प्रतिस्थापन के अनन्तर भी हमें पहिलेके समानही तृप्ति पाने की इच्छा हो। परन्तु किसी वस्तु अथवा साधनकी सीमान्त वृद्धिका किसी सर्वथा

भिन्न वस्तु अथवा साधनकी सीमान्त वृद्धि द्वारा, सम तृप्ति की उपलब्धि का नियन्त्रण होतेहुए भी, प्रतिस्थापन कियाजाना असम्भव नहीं। ऐसातो सदैव होता ही रहता है।

प्रतिस्थापना और उपभोग

घरेलू आय-व्ययके सम्बन्धमें हम समसीमान्त उपयोगिता नियमका उल्लेख करही चुके हैं। मनुष्य अपनी सीमित आयको अपने उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिए विविध प्रकार के साधनों अथवा वस्तुओंपर व्यय करता रहता है। और इस व्ययसे उसे कुछ तृप्ति प्राप्त होती रहती है। परन्तु उसका लक्ष्य अपनी सीमित आयसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त करना है। इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए वह एकवस्तु या साधनका दूसरी वस्तु या साधनके स्थानपर प्रतिस्थापन करता रहता है। एक समय आता है जबकि प्रत्येक वस्तु या साधनपर किये जानेवाले सीमान्त व्ययसे प्राप्त होनेवाली तृप्ति सम होजाती है। यह वह स्थितिहै जिसमें उसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य तटस्थ अवस्थापर पहुंचनेके लिए प्रतिस्थापना द्वारा अपने विविध प्रकारके व्यय न्यूनाधिक करता रहता है।

प्रतिस्थापना और उत्पादन

प्रतिस्थापना का सिद्धान्त केवल घरेलू आय-व्ययसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं है वरन् हर प्रकारकी आर्थिक घटनाओंका प्रतिस्थापना से घनिष्ट सम्बन्ध है। वस्तुओंका पारस्परिक विनिमय प्रतिस्थापना का ही रूपान्तर है। उत्पादन और वितरणमें तो प्रतिस्थापनासे बहुतही काम पड़ताहै। इस स्थानपर इतना कहदेना आवश्यक है कि प्रतिस्थापनासे हमारा अभिप्राय प्रायः सीमान्त प्रतिस्थापना से ही होता है। उत्पादन को ले लीजिए। किसीभी उत्पादन के साधन का किसीभी उत्पादन की योजनासे पूर्णतया लोप करना सम्भव नहीं परन्तु उनमें से किसी एकके विशेष अंशका किसी दूसरेके विशेष अंशसे प्रतिस्थापन किया जा सकता है। जब किसी साधनकी पूर्ति न्यून होने लगतीहै तो उसका मूल्य बढ़ जाने

के कारण उसका प्रतिस्थापन करनेवाले साधन का प्रयोग आरम्भ होने लगता है। पहिले साधनोंकी मांग कम होनेसे उसका मूल्य गिरने लगताहै और स्थानापन्न साधनकी मांग बढ़नेसे उसका मूल्य चढ़ने लगता है और प्रतिस्थापन तबतक होता रहताहै जबतक कि उक्त साधनों द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिकी मात्राओं और उनके मूल्योंमें एकसा अनुपात नहीं होजाता है।

वैसेभी उत्पादक अधिकतम उत्पत्ति करनेके लिए प्रयुक्त साधनोंके पारस्परिक अनुपातमें परिवर्तन करतेही रहते हैं और इन परिवर्तनों के कारण उत्पादन विधिमें परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनोंका आधार किसी साधन विशेषकी सीमान्त-वृद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्रा है। जबतक किसी साधन विशेषसे सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्तिकी मात्रा अन्य साधनों से सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्ति की मात्रासे अधिक रहती है, उस साधन विशेषका अधिकाधिक मात्रामें प्रयोग किया जाताहै और अन्य साधनोंका कम या उतना ही। यह क्रिया तबतक समाप्त नहीं होती जबतक हर साधनोंके सीमान्त प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्रा सम नहीं होजाती।

प्रतिस्थापना और वितरण

यदि प्रतिस्थापना उत्पादनमें काम आनेवाले विविध साधनोंकी मात्रापर प्रभाव डालती है तो इसप्रकार कीगयी उत्पत्तिके वितरण पर अवश्यही प्रभाव डालेगी। जिन साधनोंका प्रयोग कम होता जारहा है, उनके भागमें कमी आती जायेगी। यदि श्रमके स्थानपर पूंजीका प्रयोग अधिक होने लगेगा तो श्रमजीवियों को वेतन के रूपमें मिलनेवाला उत्पत्तिका भाग पहिलेसे कम होजायगा और पूंजीपतियों को ब्याजके रूपमें मिलनेवाला भाग अधिक।

प्रतिस्थापना को एक अन्य दृष्टिसे इसप्रकार भी देखा जासकता है। किसीभी वस्तु अथवा साधनको भिन्न भिन्न प्रकारके प्रयोगों में लगाया जासकता है। इस वस्तु अथवा साधनकी मात्राका इन भिन्न भिन्न प्रयोगों में इसप्रकार वितरण किया जाताहै कि प्रत्येक प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली सीमान्त तृप्ति या उत्पत्ति एकही जैसी होजाय। उदाहरणके लिए भूमिको अनेक कार्योंमें लगाया जासकताहै। उसपर

खेतीकी जासकती है, मकान बनवाया जासकता है अथवा सड़क बनवाई जासकयी है। इन भिन्न भिन्न प्रयोगोंमें भूमि का वितरण इसप्रकार होगा कि हर प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली सीमान्त तृप्ति एकसी होजाये।

प्रतिस्थापना की विरोधी शक्तियां

इसप्रकार तटस्थ स्थिति और प्रतिस्थापना द्वारा मनुष्यका आर्थिक जीवन संगठित होता रहता है। कभी कभी यह नियम स्वयंही हमारे अनजाने में अपना कार्य करते रहते हैं। ऐसा प्राय: वस्तुओंके उपयोगके सम्बन्धमें होताहै। कभी कभी हमें सोच समझकर इनका आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा प्राय: वस्तुओंके उत्पादनके सम्बन्धमें करना पड़ता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह नियम सदैवही अपना कार्यकर पाते हैं। इनका विरोध करनेवाली शक्तियोंका भी अभाव नहीं। मनष्यके स्वभावको ही ले लीजिए। यह सुगमतासे परिवर्तित होनेवाला वस्तु नहीं। मनुष्य जब किसी वस्तुका प्रयोग दीर्घकाल तक करता रहताहै तो उसके स्थानपर किसी दूसरी वस्तुका प्रयोग करना उसकेलिए बहुत कठिन होजाता है; चाहे दूसरी वस्तु के प्रयोगमें उसका लाभही क्यों न हो और ऐसाभी असम्भव नहीं कि समय समय पर उसके स्वभावमें जो स्वयं परिवर्तन होते रहते हैं, वे प्रतिस्थापना के कार्यका विरोध करने लगें। इसके अतिरिक्त सब मनुष्योंके स्वभावभी एकही जैसे नहीं होते। ऐसे मनुष्योंकी भी कमी नहीं जो एक दूसरेका प्रतिस्थापन करनेवाली दो वस्तुओंमें से किसी एकके प्रति विशेष श्रद्धा रखते हों और जबतक उनके मूल्योंमें बड़ाभारी अन्तर न पड़जाय, उसका प्रयोग बन्द न करें। कभी कभी प्रतिस्थापना द्वारा थोड़ासा ही लाभ प्राप्त होनेके कारण लोग इस क्रियाको आलस्यवश टाल जाते हैं। इसीप्रकार उत्पादनमें भी प्रतिस्थापना पूर्णरूप से कार्य नहीं करपाती। बहुतसे उत्पादक साहससे वंचित होते हैं और अधिक कुशल उत्पादन विधियोंको प्रयोगमें लानेसे हिचकिचाते हैं। अथवा यदि मूल्यमें वृद्धि होनेके कारण उत्पादक पर्याप्त लाभ उठा रहाहो तो प्रतिस्थापना से मिलनेवाले छोटे मोटे लाभोंकी ओर ध्यानही नहीं जाता।

६

आर्थिक सन्तुलन

मूल्यों का पारस्परिक सम्बन्ध

समस्त आर्थिक पद्धतिका भलीभांति विश्लेषण करनेसे यह स्पष्ट रूपसे विदित होजाता है कि हर वस्तु या सेवाका मूल्य अन्य वस्तुओं या सेवाओंके मूल्योंसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें सम्बन्धित रहता है अर्थात् हमारी आर्थिक पद्धति परस्पर सम्बन्धित मूल्योंकी पद्धति है और इन मूल्योंका पारस्परिक सन्तुलन उपभोक्ताओं द्वारा स्थापित होता है। यह आवश्यक नहीं है कि क्रय-विक्रय की वस्तुएं उपभोग्य पदार्थ ही हों। केवल इतना आवश्यक है कि जन-समुदाय को उनके लेनेकी चाहहो और विभिन्न वस्तुओं अथवा वस्तुसमूहों के लिए चाहके न्यूनाधिक होनेका निश्चय किया जासके। स्मरण रहे कि चाहकी न्यूनाधिकता वस्तुओंके मूल्यपर निर्भर नहीं रहती अर्थात् किसी वस्तुके लिए चाहका उसके मूल्यसे कोईभी सम्बन्ध नहीं होता।

वस्तुओं के मूल्य उपभोक्ताओं की आयपर निर्भर रहते हैं और उपभोक्ताओं की आय उत्पादनके साधनोंके मूल्य तथा उनके उत्पादन कार्यमें प्रयुक्त मात्रापर निर्भर रहती है। इसप्रकार न केवल उपभोग्य पदार्थोंके मूल्योंमें ही पारस्परिक सम्बन्ध होता है वरन् उत्पादनके साधनों द्वारा प्राप्त सेवाओंके मूल्यभी इन मूल्योंसे सम्बन्धित रहते हैं। वास्तवमें उत्पादनके साधनों द्वारा प्राप्त सेवाओंके मूल्योंका निर्धारणभी उसी प्रकार मांग और पूर्तिके सन्तुलनसे होताहै जैसे कि अन्य वस्तुओं का। परन्तु उत्पादकों द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले उत्पादनके साधनोंकी मांग और पूर्तिमें कुछ विशेषताएं होती हैं। उत्पादककी उत्पादनके साधनोंके लिए मांग उसकी अपनी आवश्यकताओं की तृप्तिके लिए नहीं होती बल्कि इसलिए होती है कि वह इनके प्रयोग द्वारा कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न करना चाहता है जो कि अन्य लोगोंकी किसी

आवश्यकताको तृप्ति करेगी। वह उत्पन्न वस्तुको बेचकर प्राप्त आयसे अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करेगा। यदि उत्पन्न वस्तुके लिए मांग बढ़ जातीहै तो उसकी उत्पादनके साधनोंकी मांगमें वृद्धि होना आवश्यक होजाता है। उत्पादक को उत्पादनके साधनोंका मूल्य निर्धारित करते समय उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुके मूल्यका ही सहारा लेना पड़ता है। उत्पन्न वस्तुके मूल्य जाने बिना उत्पादकको उत्पादनके साधनोंका क्या मूल्य देना चाहिए, यह निश्चय करना सम्भव नहीं। इसप्रकार यहां अन्य वस्तुओंकी मांग उनके लिए उपभोक्ताओंकी न्यूनाधिक चाहपर निर्भर है और इस चाहकी न्यूनाधिकता ही उन वस्तुओंके सापेक्ष मूल्यों तथा मांगकी मात्राको निर्धारित करती है। उत्पादनके साधनोंके मूल्य तथा उनकी मांगकी मात्राके निर्धारण करनेमें उनके द्वारा उत्पन्न कीगयी वस्तुके मूल्यको विशेष महत्व प्राप्त है। इसके अतिरिक्त विविध साधनोंके मूल्योंका परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहनाभी विशेष रूपसे ध्यानमें रखना चाहिए क्योंकि किसीभी एक साधन विशेषका मूल्य अन्य साधनोंके मूल्योंसे इतने घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित है कि उसका पृथक निर्धारण करना सम्भव नहीं।

मूल्यों का सन्तुलन

इसकारण सन्तुलनके विश्लेषण कार्यको तीन भागोंमें विभाजित करनेकी प्रथा अर्थशास्त्रियों में चली आरही है:

(१) पहिले भागमें केवल वस्तुओंके विनिमयके साधारण सन्तुलनका ही विश्लेषण किया जाता है।

(२) दूसरे भागमें किसी विशेष उत्पादन की संस्थाओंका और:

(३) तीसरेमें उत्पादनके साधारण सन्तुलन का।

विनिमयके साधारण सन्तुलनके सिद्धान्तके प्रथम निर्माता प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वालरेस थे। मान लीजिए कि विनिमय करनेके लिए हमारे पास केवल दो वस्तुएं क और ख हैं और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा या तो क की पूर्ति और ख की मांग या ख की पूर्ति और क की मांगका होना ही सम्भव हो सकता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितिमें सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होगा जबकि क की पूर्ति क की मांगके

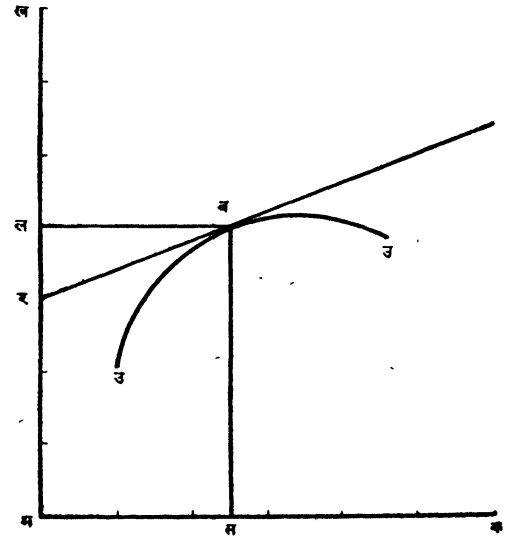
सम और फलस्वरूप ख की पूर्ति ख की मांगके सम होजायेगी। स्मरण रहे कि इन दो वस्तुओं में से एक (यहां ख ले लीजिए) को मूल्यके मापकके रूपमें माना जारहा है। इस प्रकार यदि दो वस्तुओंमें विनिमय कार्य सम्पन्न होरहा हो तो हमें केवल एकही वस्तुका मूल्य, और यदि तीन में यह कार्य होरहा हो तो दो वस्तुओंका मूल्य, निकालना होगा। साधारणतया कहा जासकता है कि जितनी वस्तुओंमें विनिमय-कार्य सम्पन्न होरहा हो उनसे एक कम मूल्योंका मालूम करना आवश्यक है क्योंकि मूल्य उन वस्तुओंमें से एकको मापक मानकर ही निर्धारित किये जाते हैं। यदि विभिन्न वस्तुओंके मूल्य हमें मालूमहों तो किसी व्यक्ति विशेषकी उनके लिए न्यूनाधिक चाहका आश्रय लेकर हम यह मालूम करसकते हैं कि जिन वस्तुओंसे वह व्यक्ति बंचित है, उनकी वह अमुक मात्रामें पूर्ति करनेके लिए तैयार है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी प्रत्येक वस्तुके लिए मांग और पूर्ति निकालकर हम प्रत्येक वस्तुकी कुल मांग और पूर्ति साधारण जोड़ द्वारा निकाल सकते हैं। यदि विभिन्न वस्तुओंके मूल्य इसप्रकार स्थापित होजायें कि प्रत्येक वस्तुकी मांग उसकी पूर्तिके सम होजाये तो ऐसी स्थितिको सन्तुलनकी स्थितिके नामसे पुकारा जाता है और जबतक हम इस स्थितिको प्राप्त नहीं करपाते, तब तक कुछ वस्तुओंके मूल्य घटते और कुछके बढ़ते रहते हैं। सन्तुलनकी स्थितिमें हमें प्रत्येक वस्तुकी मांग और पूर्तिमें समता होनेके कारण इतनी सामग्री उपलब्ध होजाती है कि गणितशास्त्रकी सहायतासे हम प्रत्येक वस्तुके अज्ञात मूल्यको मालूम करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करलेते हैं। यह सन्तुलन स्थायीभी हो सकता है और अस्थायी भी। इसके स्थायी होनेके लिए परमावश्यक है कि इसके भंग होतेही इसप्रकार की स्वयंभू शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जो इसके पुनः स्थापन की भरसक चेष्टा करें अर्थात् यदि मूल्य सन्तुलनाभीष्ट मूल्योंसे अधिक होने लगे तो ये शक्तियां उन्हें कम करनेमें संलग्न होजायें। और यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकताहै, जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें मूल्योंके बढ़तेही पूर्तिकी मात्रा मांगसे अधिक होजाये। इसी प्रकार मूल्योंके कम होनेसे मांगका पूर्ति की मात्रासे अधिक होना आवश्यक है। अर्थशास्त्री हिक्सने मूल्योंमें परिवर्तन होनेवाले कारणों में मांग अथवा पूर्तिपर पड़नेवाले प्रभावोंको आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न-प्रभावमें विभाजित किया है। किसी वस्तुका मूल्य कम होनेके कारण लोग उसका अधिक प्रयोग करना आरम्भ कर देतेहैं और दूसरी वस्तुओंका कम।

यह हुआ मूल्यके कम होनेका स्थानापन्न प्रभाव। इस प्रभावसे उस वस्तुकी मांग अधिक और पूर्ति कम होती है। किसी वस्तुका मूल्य कम होनेका यह अर्थभी हो सकता है कि खरीदनेवालों की आयमें वृद्धि हुई और बेचनेवालों की आयमें न्यूनता। मान लीजिए कोई व्यक्ति उस वस्तुपर मूल्य कम होनेसे पहिले १० रुपये खर्च करसकता था। मूल्य कम होनेसे वह उस वस्तुकी उतनीही मात्रा अब १० रुपये से कम खर्च करके प्राप्तकर सकता है। मूल्य कम होनेसे पहिले और बादके व्ययके अन्तरको उसकी आय-वृद्धि मान लीजिए। यदि इस वृद्धिको वह उसी वस्तुकी अधिक मात्रा खरीदनेमें प्रयुक्त करना चाहता है तो उस वस्तुकी मांगमें आय-प्रभाव द्वाराभी वृद्धिही होगी और बेचनेवाले भी अपनी आयकी कमीको पूरा करनेके लिए उसकी अधिक मात्रामें पूर्ति करेंगे। और यदि इस प्रभाव द्वारा मांग और पूर्तिमें एकही जैसी वृद्धिहो तो अन्ततोगत्वा केवल स्थानापन्न प्रभावही मांगको बढ़ानेका कारण होगा, आय-प्रभाव नहीं। किन्तु यदि वह वस्तु घटियाहै और उसका अधिक मात्रामें प्रयोग इस व्यक्तिको अभीष्ट नहीं; तो होसकता है कि वह आय-प्रभाव द्वारा प्राप्त आयकी वृद्धिको किसी दूसरी वस्तुके खरीदनेमें प्रयोग करे और इसप्रकार उस वस्तुकी मांगमें आय-प्रभाव द्वारा तनिकभी वृद्धि न हो। हम देखते हैं कि आय-प्रभावसे पूर्तिमें तो वृद्धि होगी ही। इसकारण उस वस्तुका मूल्य और भी कम होजाने की सम्भावना है।

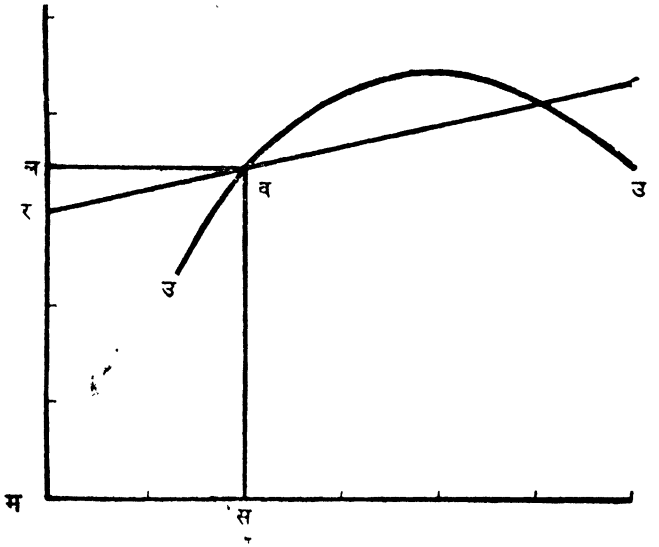
संस्था का सन्तुलन

मनुष्य केवल विनिमय द्वाराही उन वस्तुओंको जो उसके पासहैं, देकर अन्य वस्तुएं जो उसके पास नहीं हैं और जिन्हें प्राप्त करनेकी उसकी इच्छाहै, प्राप्त नहीं कर सकता। इस क्रियाको पूरा करनेके लिए दूसरा साधन उसके पास अपनी वस्तुओं को उत्पादन द्वारा नयी वस्तुओं में परिवर्तन करलेना है। स्पष्टहै कि ऐसा वह तभी करेगा जबकि उत्पादन द्वारा उसे साधारण विनिमयसे अधिक लाभ मिलने की आशाहो अर्थात् जब उत्पादन द्वारा परिवर्तित वस्तुओंका विनिमय-साध्य मूल्य परिवर्तनके पश्चात् अधिक होजाये। उत्पादनका कार्य आधुनिक संसारमें विशेष संस्थाओं द्वारा हुआ करता है। उनके चलानेवाले उद्योगपति होते हैं। वे उत्पादन के साधनोंके प्रयोग द्वारा उत्पादन कार्यमें संलग्न होतेहैं और इन साधनोंसे प्राप्त

सेवाओंको नयी वस्तुओंमें परिवर्तित करते हैं। इसलिए ऐसी उत्पादन-संस्था का मुख्य उद्देश्य उत्पादनके साधनोंको एकत्रित करके उनके द्वारा प्राप्त वस्तुओं को बेच कर साधनों तथा उत्पन्न वस्तुओंके कुल मूल्यमें अधिकसे अधिक अन्तर पैदा करना है। ऐसी संस्थाके सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त करनेका विवेचन हिक्स इसप्रकार करता है। मान लीजिए कि एक उत्पादनके साधन 'क' को एक वस्तु 'ख' में परिवर्तित करनेके कार्यमें एक संस्था संलग्न है। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थिति है और क साधन और 'ख' वस्तु दोनोंके मूल्य निश्चित रूपसे ज्ञात हैं, उत्पादन कार्य संस्थाके लिए उससमय तक लाभदायक है जबतक कि 'ख' वस्तु द्वारा प्राप्त कुलमूल्य उसके उत्पादन में प्रयुक्त 'क' साधनपर व्यय कियेगये कुल मूल्यसे अधिक है। संस्थाका श्रेय 'ख' वस्तुकी उतनी मात्रा उत्पन्न करने में है जितनी वस्तुसे प्राप्त कुल मूल्य और साधनपर व्यय कियेगये कुल मूल्यमें अधिकतम अन्तर हो। रेखाशास्त्र की सहायतासे सन्तुलनकी स्थितिको इसप्रकार दिखाया जासकता है। मान लीजिए हम 'म,क' मूल्य रेखापर साधनकी प्रयुक्त मात्रा दिखाते हैं और 'म,ख' मुल्य रेखा पर इस मात्राके प्रयोगसे प्राप्त वस्तु की मात्रा दिखाते हैं। मान लीजिए प्रयुक्त साधनकी मात्रा 'म,स' है और उसके प्रयोगसे प्राप्त उत्पन्न वस्तुकी मात्रा 'स,व' है। 'म,ल' को 'स,व' के सम बनाकर उसमेंसे 'ल,र' इतना काट लीजिए जिससे कि 'ल,र' द्वारा वस्तुकी उतनी मात्रा दिखायी जारही हो, जिसका कि मूल्य प्रयुक्त साधन 'म, स' के मूल्यके सम हो। तब 'म,र' वस्तुकी उस मात्राका द्योतक है जो



संस्था को अधिक प्राप्त होती हैं और इसका कुल मूल्य उत्पादन व्यय और कुल प्राप्त आयके अन्तर का द्योतक है।



संस्थाके सन्तुलनके लिए आवश्यक है कि 'म,र' अधिकतम हो और सदा लाभ (न कि हानि) का द्योतक हो। यह अवस्था तभी प्राप्त होसकती है जब कि 'र,ब' रेखा उत्पादन रेखाको दो या अधिक स्थानोंमें काटनेके स्थानपर केवल एकही स्थान 'व' पर स्पर्श ही करे। गणितशास्त्र की सहायतासे यह सिद्ध किया जासकता है कि यह अवस्था केवल उस समय प्राप्त होसकती है जब कि उत्पादनके साधनका मूल्य उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके सम होजाये अथवा उत्पन्न वस्तुका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये। इसके अतिरिक्त 'म,र' के अधिकतम होनेके लिए यहभी आवश्यकहै कि जिस स्थानपर 'र,व' रेखाका उत्पादन रेखासे सम्पर्क हो उस स्थानपर उत्पादन-रेखा 'म,ख' मुख्य रेखाकी ओर उभरी हुईसी हो साधारण शब्दोंमें इसका अर्थ यह होगा कि सन्तुलनकी स्थिति उससमय प्राप्त होतीहै जबकि सीमान्त उत्पत्तिका क्रमशः कमहोना आरम्भ होजाये अथवा सीमान्त उत्पादन-व्ययकी क्रमशः वृद्धिहो। इसके अतिरिक्त सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त होने

पर यहभी आवश्यक है कि औसत उत्पत्तिका ह्रास होरहा हो अथवा औसत उत्पादन-व्ययकी वृद्धि।

संस्थाके सन्तुलन प्राप्त करनेकी स्थितिको हिक्सके अनुसार दो प्रकारसे दर्शाया जासकता है। एक तो:

१. जिससमय साधनका मूल्य उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्य के सम होजाये।
२. सीमान्त उत्पत्तिका ह्रास होना आरम्भ होजाये।
३. औसत उत्पत्तिका ह्रास होना आरम्भ होजाये।

और दूसरे:

१. जब वस्तुका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये।
२. सीमान्त उत्पादन-व्ययकी क्रमशः वृद्धि होना आरम्भ होजाये।
३. औसत उत्पादन-व्ययकी वृद्धि होना आरम्भ होजाये।

प्रायः उत्पादनके साधनों अथवा उत्पादन-विधियोंके छोटे छोटे अंशोंमें अविभाज्य होनेके कारण और अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन-व्ययमें वाह्य अथवा अभ्यान्तरिक बचतोंके कारण उत्पत्ति की क्रमशः वृद्धि (अथवा उत्पादन-व्यय का क्रमशः ह्रास) होजाता है और जबतक उत्पत्तिकी वृद्धिसे उत्पादन-व्यय का ह्रास होता रहेगा, संस्थाका व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्राको बढ़ानेकी ही चेष्टा करता रहेगा। परन्तु संसारमें उत्पादनके साधनोंका बाहुल्य नहीं; न्यूतना है और यदि हम वस्तु उत्पन्न करनेवाले साधनोंमें से एक साधनका प्रयोग तो अधिकाधिक मात्रा में करते चले जायें परन्तु अन्य साधनोंकी मात्रा में तनिकभी परिवर्तन न करें अथवा कम मात्रामें परिवर्तन करें तो उत्पादन का क्रमशः ह्रास अथवा उत्पादन-व्ययकी क्रमशः वृद्धि होना शुरू होजाती है। यदि यहभी मानलिया जाये कि किसी विशेष संस्थाको उत्पादनके सब साधन अधिकाधिक मात्रामें प्राप्त करनेमें कोईभी आपत्ति नहीं तो भी उत्पत्तिकी मात्रा बढ़ जानेपर संस्थाके प्रबन्ध-कार्यकी कठिनाइयोंके कारण सीमान्त उत्पादन-व्ययमें वृद्धिका होना समय आनेपर अनिवार्यसा होजाता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति आनेपर व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करना बन्द करदेगा। परन्तु यदि सीमान्त उत्पादन-व्यय अपनी न्यूनतम अवस्थासे थोड़ाही अधिकहो तो हो सकताहै कि उस अवस्थामें सीमान्त-उत्पादन-व्यय औसत

उत्पादन-व्ययसे कमहो और यदि संस्था वस्तुको सीमान्त-उत्पादन-व्ययके सम मूल्य पर बेचेतो उसे हानि होगी। इसी कारण संस्थाके सन्तुलनके लिए न केवल सीमान्त-उत्पादन-व्ययका बढ़ना आरम्भ होजाना ही आवश्यकहै बल्कि औसत उत्पादन-व्ययका भी।

उद्योग और उसका सन्तुलन

एकही प्रकारकी वस्तु उत्पन्न करनेवाली ऐसी बहुतसी संस्थाओंके समूहको उद्योग कहते हैं। यदि किसी उद्योगमें संलग्न संस्थाओंको उसके समानही उत्पत्तिकारक अन्य उद्योगमें संलग्न संस्थाओंसे अधिक लाभ प्राप्त होरहा हो तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें उस उद्योगमें नयी संस्थाएं स्थापित होनेकी सम्भावनाहै और इसके विपरीत यदि उसमें कम लाभ प्राप्त होरहा हो तो उसमें संलग्न कुछ संस्थाओंके बन्द होजाने की सम्भावना है। इसकारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशामें किसी उद्योग को सन्तुलन की अवस्था उससमय प्राप्तहोगी जबकि उस उद्योगमें संलग्न संस्थाओंकी संख्यामें और प्रत्येक संस्थाकी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि अथवा ह्रासकी कोई भी सम्भावना न हो। स्मरण रहे कि एकाधिकारकी स्थितिमें औसत तथा सीमान्त उत्पादन व्यय का ह्रास होता रहनेपर भी सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त होना सम्भव है। परन्तु इस स्थितिमें भी संस्था एकदम बढ़ती ही नहीं चलीजाती। कहीं न कहीं तो उसे अपनी उत्पादनकी मात्रा बढ़ानेसे रुकनाही पड़ेगा। यदि इस सम्बन्धमें कि उसे अधिकसे अधिक कितनी मात्रामें उत्पादन करना चाहिए, बढ़तेहुए सीमान्त उत्पादन व्ययसे सहायता नहीं मिलपाती तो उत्पन्न वस्तुके बाज़ारके सीमित प्रसारसे तो मिल सकती है। वास्तवमें बाज़ारकी सीमा और सीमान्त उत्पादन व्यय दोनों साथ साथ कार्य-शील रहते हैं।

उत्पादन और उसका सन्तुलन

वास्तविक आर्थिक संसारमें साधारण मनुष्य और संस्थाओंके व्यवस्थापक दोनों प्रकारके व्यक्ति मिलते हैं। साधारण मनुष्य उपभोग्य वस्तुओं अथवा उत्पादनके

साधनों दोनोंका लेन-देन करतेहैं और इसीप्रकार व्यवस्थापक भी। साधारण मनुष्य उपभोग्य वस्तुएं खरीदताहै तो निजी उत्पादनके साधनोंको बेचता है। संस्थाका व्यवस्थापक उत्पादनके साधन खरीदताहै तो उपभोग्य वस्तुओंको बेचता है। सेवाओं का लेन-देन केवल साधारण मनुष्यों द्वारा होता है और अर्धनिर्मित वस्तुओंका केवल संस्थाओं द्वारा। इन विभिन्न वस्तुओंके विभिन्न बाज़ार होतेहैं और सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होताहै जिसपर कि प्रत्येक वस्तुकी मांग और पूर्ति सम हो जाये। केवल उत्पादनके साधनोंके मूल्योंमें सन्तुलनके सम्बन्धमें कुछ कहना शेष है। संस्थाके सन्तुलन की विवेचना करते हुए हम देखही चुकेहैं कि किसी साधनके मूल्य का उस साधनकी सीमान्त उपयोगिता अथवा उत्पत्तिके मूल्यके सम होना आवश्यक है; क्योंकि यदि सीमान्त उत्पत्तिका मूल्य साधनके मूल्यसे अधिक होगा तो उस साधनका अधिक प्रयोग करनेसे व्यवस्थापककी आयमें उत्पादन-व्ययसे अधिक वृद्धि होगी और इससे व्यवस्थापकको उसका प्रयोग बढ़ानेकी प्रेरणा प्राप्त होगी। दूसरे सन्तुलन-प्राप्तिके लिए यहभी आवश्यकहै कि प्रत्येक साधनकी प्रत्येक इकाईका एकही जैसा मूल्यहो, अन्यथा व्यवस्थापक अधिक मूल्यवाली इकाइयोंके स्थानपर कम मूल्यवाली इकाइयोंका प्रयोग करना आरम्भ करदेगा और इसकारण उस साधनके बाज़ारका सन्तुलन भंग होजायेगा। हम देखचुकेहैं कि साधारण वस्तुओंके बाज़ारमें भी सन्तुलन प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यकहै कि वस्तुकी प्रत्येक इकाई का एकही मूल्य हो।

इसके अतिरिक्त यहभी आवश्यकहै कि विभिन्न साधनोंके मूल्य और उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पादन शीलतामें एकही जैसा अनुपात होना चाहिए। अर्थात् यदि किसीभी साधनकी सीमान्त उत्पादन शीलता को उसके मूल्यसे भाग दियाजाये, तो फल हरबार एकही होना चाहिए चाहे साधन कोईभी हो। गणितशास्त्रकी भाषामें कहाजा सकताहै कि:

$$\frac{\text{साधन 'क' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'क' का मूल्य}} = \frac{\text{साधन 'ख' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'ख' का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{साधन 'क' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'ग' का मूल्य}}$$

$$= \cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots$$

इसीप्रकार जितनेभी साधनोंका प्रयोग किया जारहा हो। कारण यहहै कि एक साधनसे सम्बन्धित यह अनुपात अन्य साधनोंसे सम्बन्धित इसी प्रकारके अनुपातोंसे अधिक होजाता है तो व्यवस्थापकको उस साधनका और अधिक प्रयोग करनेसे लाभ प्राप्त होता है।

अन्तमें सन्तुलनके लिए यहभी आवश्यकहै कि किसीभी साधनकी उन समस्त इकाइयोंका जो बाजारभाव या उससे कम मूल्यपर प्राप्त होरही हों, उत्पादन कार्य में प्रयोग कियाजाये। क्योंकि यदि ऐसी इकाइयोंका प्रयोग न कियाजायेगा तो उन के स्वामी उनका मूल्य कमकरके स्थापित सन्तुलनको भंग करदेंगे।

१०

मूल्य और उसके सिद्धान्त

मूल्य का अर्थ

अर्थशास्त्रमें मूल्य एक महत्वपूर्ण विषय है। यदि हम इसे समस्त शास्त्रका आधार भी कहदें तो अत्युक्ति न होगी। पुस्तकोंमें इस शास्त्रके चार भाग मिलते हैं। उपभोग, विनिमय, उत्पादन और वितरण। इनमेंसे किसी एकको भी भलीभांति समझनेके लिए मूल्यका यथेष्ट ज्ञान अनिवार्य है।

अभाग्यवश बहुत समयतक अर्थशास्त्रियोंमें मूल्यके यथार्थ परही मतभेद रहा। सौभाग्यवश यह मतभेदतो अब मिटचुका है। अर्थशास्त्रकी परिभाषामें किसी वस्तुके मूल्यसे हमारा अभिप्राय उस वस्तुकी उस शक्तिसे है जिसके द्वारा हम उस वस्तुके बदलेमें दूसरी वस्तुएं या सेवाएं प्राप्त करसकते है अर्थात् किसी वस्तुकी एक इकाईके बदलेमें हमें किसी दूसरी वस्तुकी चार इकाइयां मिल सकतीहै या कोई मनुष्य हमारी दो दिनतक सेवा करनेके लिए उद्यत होजाता है तो हम कहते है कि पहिली वस्तुका मूल्य दूसरी वस्तुकी चार इकाइयां अथवा उस मनुष्यकी दो दिन की सेवा है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी एक वस्तुके उतनेही मूल्य होंगे जितनी कि उसके बदलेमें मिलनेवाली वस्तुएं अथवा सेवाएं। इस कठिनाईका सुलझाव किसी वस्तु विशेषको माप मानकर कियाजाता है। अन्य सब वस्तुओंके मूल्य इस मापक वस्तुद्वारा आंके जाते हैं। यदि यह मापक वस्तु द्रव्यका रूप धारण करले तो मूल्यके शास्त्रीय और साधारण बोलचालके अर्थमें कोई भी अन्तर नहीं रहता। इसीलिए कईएक अर्थशास्त्रियोंके मतमें विशेषकर कैसल प्रभृतिके, साधारण मूल्य ही वास्तविक तत्व है। इसके आगे वास्तविक मूल्यकी खोज करना व्यर्थ है।

प्रश्न उठताहै कि प्रत्येक वस्तुकी विनिमय-शक्तिका कारण क्या है। एक ओर तो वस्तुएं हमारी आवश्यकताओं को तृप्त करती है। दूसरी ओर, हमें वस्तुओंको

प्राप्त करनेके लिए कुछ न कुछ उद्योग करना पड़ता है। स्वाभाविक था कि वस्तुओं के मूल्य-तत्वकी खोजमें सर्वप्रथम इन्हीं प्रत्यक्ष गुणोंकी ओर दृष्टि जाती और आजतक मूल्यके जितनेभी सिद्धान्त निर्माण कियेगये हैं, उन सबमें केवल गणितप्रधान अर्थशास्त्रको छोड़कर इन्हीं दो में से किसी एकको मूल्यका मुख्य कारण निर्धारित करने की चेष्टा कीगयी है।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त

पाश्चात्य अर्थशास्त्री, विशेषकर अंग्रेजी विद्वान, एडम स्मिथको अपने शास्त्रका जन्मदाता मानते हैं। परन्तु इस महापुरुषसे पहिलेभी आर्थिक समस्याएं हुआही करती थी और लोग उनपर विचार कियाही करते थे। मूल्यके सम्बन्धमें भी ऐसा ही हुआ है। पश्चिममें जबतक धर्म और धार्मिक संस्थाओंका बोलबाला रहा, तबतक मूल्यको न्याय और औचित्यसे सम्बन्धित किया जाताथा अर्थात् यदि किसीभी वस्तुका मूल्य न्याय-युक्त और उचित नहीं तो ऐसा मूल्य पानवाला व्यक्ति अपराधी समझा जाताथा और उसे उचित दंड दिया जाताथा। परन्तु न्यायाधीशोंके मनमें प्रश्न उठा कि मूल्यके उचित और न्याय-युक्त होनेकीभी तो कोई कसौटी होनी चाहिए। कुछ समयतक वे लोग परम्पराको कसौटी मानते रहे, परन्तु जब अपराधियोंने अपने बचावके लिए यह कहना आरम्भ किया कि अमुक वस्तुका मूल्य मैंने इसलिए अधिक लियाहै कि मुझे उसे प्राप्त करनेके लिए अधिक श्रम करना पड़ा था तो मूल्यके उस सिद्धान्तकी नीव पड़ी, जिसे हम श्रम-सिद्धान्तके नामसे पुकारते हैं। ऐडम स्मिथसे पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियोंमें इस सिद्धान्तके अनुयायी पेटी, लाक, कैंटीलां आदि थे। इसीतरह बूरीदान, बील और निकोलस, बारबां, तुर्गो इत्यादि शास्त्री किसी वस्तुकी उपयोगिताको ही उसके मूल्यका वास्तविक कारण मानते थे। ऐडम स्मिथने श्रम-सिद्धान्तका परिपोषक होनेहुए भी अपनेसे पूर्ववर्ती शास्त्रियोंके सिद्धान्तोंको एकत्रित करनेका प्रयत्न किया। यद्यपि इस प्रयत्नमें वह असफलसे रहे परन्तु उनके मूल्यसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंमें कोई न कोई वाक्य ऐसा मिल जाताहै, जिसके आधारपर उनके परवर्ती अर्थशास्त्रियों ने मूल्यके नये सिद्धान्त बनानेका प्रयत्न किया है।

'राष्ट्रों की सम्पत्ति' नामक अपनी पुस्तकमें वह लिखते हैं: किसी वस्तुके मूल्य से हमारा अभिप्राय दो प्रकारके मूल्यसे होता है। एकतो उस वस्तुका औपयोगिक मूल्य और दूसरे उसका विनिमय-साध्य मूल्य। व वस्तुएं जिनका औपयोगिक मूल्य अधिकतम होताहै उनका विनिमय-साध्य मूल्य प्राय: कुछभी नहीं होता। पानीसे अधिक उपयोगी वस्तु कठिनतासे ही मिलेगी परन्तु इसके बदलेमें किसी वस्तुको पाना असम्भवसा ही है। हीरे मनुष्य जीवनके लिए तनिक भी उपयोगी नहीं परन्तु उनकी विनिमय-साध्य शक्ति अपार है"।

इतना कहकर ऐडम स्मिथने औपयोगिक मूल्यको तो तिलांजलि दे दी और उसके उपरान्त विनिमय-साध्य मूल्यके तत्वानुसन्धान की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। उनके मतानुसार किसी वस्तुके विनिमयसाध्य मूल्यका कारण श्रम तो है ही परन्तु कभीतो वह उस वस्तुके प्राप्त करनेमें जो श्रम करना पड़ताहै उसे मूल्य का कारण और माप मानते हैं जैसे इस दृष्टान्तसे विदितहै कि यदि एक पंछीके शिकार करनेमें शिकारी लोगोंको एक मृगके शिकार करनेसे दुगना श्रम करना पड़े तो एक पंछीके बदलेमें दो मृग मिलने चाहिए तथा कभी वह वस्तुके बदलेमें जितना श्रम प्राप्त किया जासके, इस अर्थमें श्रमका प्रयोग करतेहैं अर्थात् वस्तु लेकर जितना श्रम कोई मनुष्य हमारे लिए करनेको उद्यत होजाता है, उसे उस वस्तुके मूल्यका कारण और माप मानते है। इस मापके अनुसार यदि एक मृग दस शिकारियोंका पेट भर सकताहै और एक पंछी केवल एक शिकारी का तो एक मृगके बदलेमें पांच पंछी तो अवश्य ही मिलने चाहिए। कोई सा भी श्रम लेलीजिए, श्रम वस्तुओंके वास्तविक मूल्यका कारण तो है ही। द्रव्य केवल नाममात्रके मूल्यका द्योतक है। इसमें तनिकभी सन्देह नहीं।

रिकार्डोने एडम स्मिथके प्रथम मापको ठीक माना है और माल्थसने द्वितीय मापको। रिकार्डोका मत था कि उपयोगिता मूल्यके लिए आवश्यक भलेही हो, पर वह मूल्यका माप नहीं है। विनिमय-साध्य मूल्यका केवल एक मापहै और वहहै वस्तुओंमें खपा हुआ श्रम।

समाजवादके प्रवर्तक कार्ल मार्क्सने स्मिथ और रिकार्डो दोनोंसे प्रेरणा लेकर मूल्यके श्रम-सिद्धान्तको औरभी पुष्ट करनेका प्रयत्न किया। वस्तुओं के वास्तविक मूल्यका कारण श्रम तो है ही। परन्तु उसके मतानुसार पूंजीभी संचित श्रमके

अतिरिक्त और कुछ नहीं। मार्क्सने एक नये सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जिसे 'अतिरिक्त-मूल्य' के नामसे पुकारा जाताहै। अतिरिक्त मूल्यका सृजन इसप्रकार होता है। किसी वस्तुका मूल्यतो उसके निर्माणमें जितना श्रम करना पड़ा हो, उससे निर्धारित होताहै पर श्रमजीवीको केवल उतनाही मूल्य मिलताहै जितना कि श्रमके सृजन अर्थात् श्रमिकके पालनपोषण और रहनसहन पर लगायेगये श्रमके बराबर हो। वस्तुके मूल्य और श्रमजीवीको दियेगये मूल्यमें जो अन्तर होताहै उसीका नाम अतिरिक्त मूल्य है। मूल्य उस श्रमसे निर्धारित कियाजाता है जो किसी समाजकी आर्थिक और औद्योगिक स्थितिके अनुसार आवश्यक हो।

उत्पादन-व्यय सिद्धान्त

श्रम सिद्धान्तके प्रतिपक्षियोंने यद्यपि श्रमको मूल्यका मुख्य कारण तथा माप ठहराया है परन्तु वे भी उत्पादनके अन्य साधनों भूमि, पूंजी इत्यादिके अस्तित्वको स्वीकार करतेही रहे। एडम स्मिथने तो यहभी मानलिया कि उनका श्रम-सिद्धान्त केवल अत्यन्तही असभ्य समाजों पर लागू होता है। सभ्यताके प्रादुर्भावके अनन्तर हमें भूमि तथा पूजी द्वारा प्राप्त सेवाओंको भी मूल्यका ही अंश माननेका आदेश होता है। रिकार्डो का मतभी एडम स्मिथसे भिन्न नहीं है। और तो और पूंजीपतियोंके कट्टर विरोधी कार्लमार्कसने भी पूंजी और भूमिके अस्तित्वको तो मानाही है परन्तु वह भूमिको प्रकृतिकी देन और पूंजीको संचित श्रम मानकर उन्हें श्रमद्वारा उत्पन्न कियेगये मूल्यमेंसे किसीभी भागका अधिकारी नही मानता।

श्रम सिद्धान्तके संशोधनकी चेष्टा करतेहुए सीनियरने विचार प्रकट किया कि भूमि और श्रमके अतिरिक्त एक तीसरा उत्पादनका साधनहै जिसके द्वारा पूंजीका सृजन होता है। इस साधनका नाम उसने उपभोग-व्याक्षेप रखा और उत्पादन-व्यय में न केवल श्रमके कष्ट बल्कि उपभोग-व्याक्षेपकी वेदनाको भी सम्मिलित किया। मिलने जोखिम एक और साधन जोड़ा और इसप्रकार श्रमका कष्ट, उपभोग-व्याक्षेप कीवेदना और जोखिम तीनों उत्पादन-व्यय और मूल्यके कारण माने जानेलगे। मार्शलने व्यवस्था और क्लार्कने उद्योग-साहसको भी उत्पादनका साधन माना है। मार्शलने उत्पादन-व्ययकी व्याख्यामें एक और भी संशोधन किया। उनका कहना

है कि इन विविध साधनों को व्यवस्थापक या उद्योगपति एकत्रित करता है। इन्हें एकत्रित करनेके लिए उसे भूमिपतिको कर, श्रमजीवीको मजूरी, पूंजीपतिको ब्याज और अपने आप को लाभ देना पड़ताहै और वह इन्हें देता है द्रव्यके रूपमें परिणत करके। इसलिए उत्पादन-व्ययको आंकते समय हमें कष्ट, वेदना, जोखिम इत्यादिके स्थान पर उनके मौद्रिक स्वरूपकी ओरही ध्यान देना चाहिए। अमेरिकन अर्थशास्त्री केयरी और बाकरने इस सिद्धान्त में यह संशोधन किया कि मूल्य उत्पादन-व्ययपर निर्भर नहीं बल्कि पुनरुत्पादन-व्ययपर निर्भर होता है।

श्रम और उत्पादन-व्यय सिद्धान्तों की त्रुटियां

१. विनिमय-साध्य मूल्यके सिद्धान्तका मुख्य कार्य यहहै कि वस्तुओंके विशप अनुपातमें पारस्परिक विनिमय और इस अनुपातमें समय समय पर होनेवाले परिवर्तनों को भलीप्रकार बुद्धिग्राह्य बना दे। स्पष्ट है, श्रम-सिद्धान्त इस कार्यमें सफल नहीं होपाता।

२. भिन्न भिन्न प्रकारके श्रममें भेद होता है। कुशल, अर्धकुशल और अकुशल श्रम एकही प्रकारके नही होते। श्रम-सिद्धान्तके माननेसे यह भेदभाव मिटजाता है।

३. ऐसी वस्तु जो मनुष्य जीवन के लिए तनिकभी उपयोगी नहीं, चाहे कितनेही श्रमसे उत्पन्न कीजाये, कभीभी मूल्यवान नहीं होपाती।

४. श्रम-सिद्धान्त केवल वस्तुओंकी पूर्तिकी ओर ध्यान देता है। मांगकी ओर नहीं।

५. किसी वस्तुकी न्यूनताभी उसके मूल्यका एक कारण मानीजाती है। इस कारणके अनुसार तो श्रम उत्पत्ति द्वारा इस न्यूनताको कम करके मूल्य-सृजनके स्थानपर मूल्य-नाशका कारण वनता है।

६. यहभी माननाही पड़ता है कि श्रमके अतिरिक्तभी अन्य उत्पादनके साधनहैं ही। इसलिए केवल श्रमही मूल्यका कारण और माप तो नहीं बनसकता।

उत्पादन-व्यय सिद्धान्त द्वारा इस त्रुटिको दूर करनेका प्रयत्न कियागया है। परन्तु यह सिद्धान्तभी श्रम-सिद्धान्तकी तरह उसकी अन्य त्रुटियोंसे दूषित है। इसके

अतिरिक्त श्रम, उपभोग-व्याक्षेप जोखिम इत्यादि अभिन्न वस्तुओंको परस्पर जोड़ना असम्भवहै। और यदि मार्शलका अनुसरण करतेहुए हम इनका द्रव्यके रूपमें मूल्य निर्धारित करनेका प्रयत्न करतेहैं तो मूल्य द्वाराही मूल्यके कारण और मापकी जिज्ञासा तर्कयुक्त नहीं अतः व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त कईएक वस्तुएं साथ साथ उत्पन्न होती है इसलिए उनमेंसे प्रत्येकका उत्पादन-व्यय निर्धारित करना कठिन होजाता है।

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त

इन त्रुटियोंको दूर करनेके लिए जीवन्सने इंग्लैन्ड में, मैंगरन आस्ट्रियामें और वालरसने स्विटज़रलैन्डमें मूल्यके सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्तको प्रचलित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तुका मूल्य किसी कार्यके लिए उसकी सीमान्त उपयोगिताके तुल्य होता है। यह सिद्धान्त पूर्तिके स्थानपर मांग को अधिक महत्व प्रदान करता है। वीज़र, बामबावर्क और विकस्टीड इस सिद्धान्तके बड़े बड़ अनुयायियों में से है।

एडम स्मिथ ने औपयोगिक मूल्य और विनिमयसाध्य मूल्यमें पारस्परिक विरोध की शंकाकी थी। मिलके मतानुसार विनिमयसाध्य मूल्य औपयोगिक मूल्यसे अधिक नहीं होसकता क्योंकि कोईभी मनुष्य अधिक उपयोगी वस्तु देकर कम उपयोगी वस्तु लेने के लिए उद्यत न होगा। इसी तरह औपयोगिक मूल्य विनिमयसाध्य मूल्यसे कम भी नहीं होसकता क्योंकि देनेवाला उपयोगिताकी हानि सहन नहीं करता तो लेनेवालाभी नहीं करेगा। इसलिए इन दोनों मूल्योंमें समानताका होना आवश्यक है; परन्तु व्यवहारमें तो ऐसा होता नहीं। कारण यहहै कि प्रत्येक वस्तुकी उपयोगिता न केवल भिन्न पुरुषोंके लिएही भिन्न होती है बल्कि एक ही पुरुषके लिए भिन्न भिन्न परिस्थितियों और भिन्न भिन्न समयोंमें भिन्न होसकती है। उपयोगिता घटती बढ़ती रहती है। विनिमयसाध्य मूल्य किसी एकसमय पर घटता बढ़ता नहीं है और इस वस्तुकी कुल उपयोगिता के बराबर नहीं बल्कि उस वस्तुकी उस समयकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है। सीमान्त उपयोगिता हम देखते हैं, किसी वस्तुके बाहुल्य और न्यूनतासे सम्बन्धित है। इसलिए इस सिद्धान्तके अनुसार यहभी आवश्यक नहीं कि मूल्य न केवल उपयोगिता बल्कि उसके साथ

न्यूनतापर भी निर्भरहै क्योंकि जिन वस्तुओंकी न्यूनता होगी उनकी सीमान्त उपयोगिता और फलत: मूल्यभी अधिक होगा और जिन वस्तुओंका बाहुल्य होगा, उनकी सीमान्त उपयोगिता और फलत: मूल्यभी कम होगा। इसीकारण हीरे बहुमूल्य है और पानीका कुछभी मूल्य नहीं।

मार्शलने इन सिद्धान्तोंके पारस्परिक विरोधको मिटाने की कोशिशकी। उनके मतानुसार न तो केवल उपयोगिता और न केवल उत्पादन-व्ययही परन्तु दोनों मिलकर किसी वस्तुका मूल्य निर्धारित करते हैं। मूल्य, मांग तथा पूर्ति दोनों पर निर्भर है। मांगपर सीमान्त उपयोगिताका प्रभाव पड़ता है और पूर्तिपर उत्पादन-व्यय का औरइ सलिए मूल्य निर्धारण कार्यमें हमें दोनोंको एकही जैसा महत्व प्रदान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मार्शलने अल्पकालीन और दीर्घ कालीन मूल्ममें भेद किया, उनके मतानुसार अल्पकालमें तो सीमान्त उपयोगिताका प्रभाव प्रबल रहता है और दीर्घकालमें उत्पादन-व्ययका।

आधुनिक अर्थशास्त्रीभी मूल्यके लगभग इसी सिद्धान्तको मानते है। केवल उत्पादन-व्यय और सीमान्त उपयोगिताकी परिभाषामें संशोधन कियेगये हैं। प्राचीन कालमें हम देख चुकेहैं, उत्पादन-व्ययको श्रम, उपभोग-व्याक्षेप, जोखिम आदि उत्पादनके साधनोंसे होनेवाले कष्ट, वेदना इत्यादिसे सम्बन्धित करनेकी परिपाटी थी। आधुनिक अर्थशास्त्री इस परिपाटीमें विश्वास नहीं रखते। उनका कथनहै कि आर्थिक साधनोंकी संसारमें न्यूनता है। उनके द्वारा सिद्ध किये जानेवाले मानुषी उद्देश्योंका बाहुल्य है। जब किसी एक साधनको हम किसी विशेष उद्देश्यको पूरा करनेके लिए प्रयोगमें लातेहैं तो उसके द्वारा सिद्ध होनेवाल दूसरे एक अथवा एकसे अधिक उद्देश्योंकी पूर्ति नहीं होपाती। यदि हमारा उद्देश्य उस साधन द्वारा अपनी आवश्यकताओंको तृप्त करनेवाली वस्तुएं उत्पन्न करना था तो उन वस्तुओंका उत्पादन-व्यय उन वस्तुओं द्वारा निर्धारित कियाजाये जो हम उस साधन द्वारा उत्पन्न कर सकते थे परन्तु हमने नहीं की अर्थात् किसीभी साधनके अन्य प्रयोगोंका त्याग उस साधनके किसी विशेष प्रयोगसे होनेवाले उत्पादनका उत्पादन-व्यय है। इन्हें अवसर-व्यय, तुलनात्मक-व्यय या वैकल्पिक-व्ययके नामोंसे पुकारा जाता है। ये व्यय वस्तुओंकी पूर्तिपर उनकी न्यूनता या आधिक्यको घटा बढ़ाकर मूल्यपर प्रभाव डालते हैं। चूंकि किसी साधन विशेषका किसी वस्तु विशेषके उत्पादनमें प्रयोग उस

वस्तुकी मांग देखकर ही किया जाताहै इसलिए पूर्ति और तुलनात्मक-व्ययभी परस्पर विरोधी मांगों द्वाराही निर्धारित होता है।

उपयोगिताको मांगका मूल कारण तो मानाही जाता है परन्तु उपयोगिताका सम्बन्ध है मनोविज्ञानसे और मनोवैज्ञानिक इच्छाओं इत्यादिकी निर्बलता और प्रबलताको ठीक मापना सम्भव नहीं है। केवल इतनाही कहा जासकता है कि अमुक इच्छा किसी दूसरी इच्छासे न्यून या अधिक है। इससे लाभ उठाकर पैरेटो, हिक्स आदि अर्थशास्त्रियोंने अपने शास्त्रमें इच्छाओंकी निर्बलता और प्रबलताके तुलनात्मक परिमाण, वस्तुओं और साधनोंके स्थानापन्नकी संज्ञाओंका प्रयोग किया है। इसका विवेचन हम पीछे करचुके हैं।

११

उत्पादन के साधन—भूमि

उत्पादन का अर्थ

साधारणतया उत्पादनका अर्थ किसी वस्तुको उत्पन्न करना होता है। परन्तु किसी वस्तुकी सर्वथा नवीन सृष्टि नहीं होसकती, उसके निर्माणके लिए जिन मूल उपादानोंकी आवश्यकता पड़तीहै वह सबकेसब हमको प्रकृतिद्वारा प्राप्त होते हैं। इस प्राकृतिक सामग्रीकी अनेक प्रकारसे क्रमव्यवस्था करके उसको इच्छित रूप देना उत्पादन कहलाता है। हम कह सकतेहैं कि मनुष्य उत्पन्न नहीं करता, केवल वस्तुओं का व्यवस्थाक्रम इसप्रकार बदल देताहै कि वह उसकी तत्कालीन अथवा भविष्यगत इच्छाओंके क्रमके अधिक अनुकूल होजाती है। अपने शारीरिक श्रम मस्तिष्क अथवा उपभोग-व्याक्षेपकी सहायतासे मनुष्य वस्तुएं उत्पन्न नहीं करता, बल्कि उन वस्तुओंमें पूर्वनिहित उपयोगिताको उत्पन्न करता है। इस स्थानपर यह कहदेना भी अनुचित न होगा कि आर्थिक दृष्टिसे उत्पादन क्रिया उस समयतक समाप्त नहीं होती जबतक कि वस्तु उसका प्रयोग करनेवाले के पास नहीं पहुंच जाती। इस कारण उत्पादन क्रियाओंमें केवल कृषि, उद्योग-धंधे और खानों द्वारा वस्तुओंका उत्पन्न करनाही नहीं वरन् ऐसी वस्तुओंका उनके प्रयोग करनेवालों तक पहुंचाने का प्रबन्ध करनाभी सम्मिलित है ।

हम देखचुके हैं कि मनुष्य अपने श्रमद्वारा केवल वस्तुओं को अपनी इच्छाओंके अनुकूल बना सकता है अर्थात आर्थिक दृष्टिसे उनकी उपयोगितामें वृद्धि करसकता है। यह उपयोगिता अनेक प्रकारसे बढ़ायी जासकती है। अर्थशास्त्रियोंने इस उपयोगिताकी वृद्धिको भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे देखा है। कुछ लोगोंने उपयोगिताको रूप, स्थान तथा समय परिवर्तन द्वारा बढ़ाना सम्भव माना है। रूप-परिवर्तन द्वारा, प्राकृतिक सामग्री को इसप्रकार का रूप देदिया जाता है जिससे वह मनुष्यकी,

इच्छाओंके अनुकूल होजाती है। जैसे कपासका रूप बदलकर सूत कातना, सूतका रूप बदलकर कपड़ा बनाना। स्थान-परिवर्तन द्वारा वस्तुओंको उस स्थानसे जहां पर उनकी उपयोगिता तनिक भी नहीं होती अथवा कम होतीहै, उस स्थानपर पहुंचा दिया जाताहै जहां उनकी उपयोगिता होती है, जैसे कोयला खानसे नगर तक अथवा उपभोक्ता तक पहुंचा दियाजाता है। वास्तवमें यातायातका उद्देश्य स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगितामें वृद्धि करना है। समय-परिवर्तन द्वारा वस्तुओंको उस समय उपलब्ध कियाजाता है जिस समय वास्तवमें उनकी आवश्यकता होती है। प्रत्येक पूंजीपति जिसने उपभोग-व्याक्षेप द्वारा धनका संचय किया है, वर्तमान कालमें उसे ऋणमें देकर समय-परिवर्तन द्वारा धनकी उपयोगिता बढ़ाता है। लेनेवालेके लिए धनकी उपयोगिता वर्तमानमें है और देनेवालेके लिए भविष्य में। 'मिल'ने उपयोगिताके उत्पादनको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है। एकतो ऐसी उपयोगिताका उत्पादन जो भौतिक वस्तुओंकी उपयोगितामें वृद्धि करता है, दूसरे जो मनुष्यकी शिक्षा द्वारा प्राणी मात्रके लिए उसकी उपयोगितामें स्थायी रूपसे वृद्धि और तीसरे व्यक्तिगत सेवाएं जिनके कारण मनुष्यके कौशल इत्यादि में कोई स्थायी रूपसे वृद्धि तो नहीं होती किन्तु न्यूनाधिक कालके लिए सुख मिलता हैं या दुख का निवारण होजाता है। क्रीड़ा, विलास, मनोरंजनकी बहुतसी क्रियाएं इस कोटिमें शामिल की जासकती है। इस दृष्टिसे कृषक, उद्योगपतिही उत्पादक नहीं किन्तु नाचने अथवा गानेवाले भी उत्पादक मानेजाते है।

अन्य अर्थशास्त्री भौतिक तथा अभौतिक उपयोगिता केवल दो ही कोटियोंमें उपयोगिताका विभाजन करते हैं। प्रथमकोटिमें वस्तुओं और द्वितीय श्रेणीमें सेवाओंकी गणना कीजाती है।

उत्पादन के साधन

उत्पादनके साधनोंके विषयमें विचारकोंका एकमत नही रहा है। प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादनके केवल दो मूल कारण मानतेथे--भूमि और श्रम। पेटीके मतानुसार श्रम धनका पिता और मूल तत्वहै, जिसप्रकार कि भूमि उसकी माता है। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो इत्यादिने पूंजीका महत्वतो स्वीकार किया ह, परन्तु उसे उत्पा-

दनका साधन नहीं माना है। तुर्गो, सीनियर और मिलने पूंजीको उत्पादन करनेका साधनतो मानलिया परन्तु भूमि और श्रमके समान स्वतन्त्र साधन नहीं। 'मिल' का कहनाथा कि वास्तवमें उत्पादनके साधन दो ही है--भूमि तथा श्रम। पूंजी उत्पादनके लिए आवश्यकहै परन्तु वह भूमि और श्रमके समकक्ष नहीं। मार्शलने एक चौथा साधन व्यवस्था अथवा संचालन माना है। इस समय उत्पादनके पांच साधन वतलाये जाते है--भूमि, श्रम, पूजी, व्यवस्था और उद्योग-साहस। व्यवस्था और उद्योग-साहसमें कुछ विद्वान भेद करते है और कुछ नही।

कुछ विद्वानोंने जिनमें वीज़र नामक जर्मन विद्वानका नाम विशेषरूप से उल्लखनीय है, विशिष्ट और अविशिष्ट केवल दो ही वर्गोंमें उत्पादनके साधनोंका विभाजन किया है। विशिष्ट साधन वे साधनहैं जिनका प्रयोग केवल किसी विशेष उद्देश्य के लिएही कियाजाता है। वीज़रके मतानुसार भूमि विशिष्ट साधनहै परन्तु श्रम और पूंजी अविशिष्ट साधनहै क्योकि उनैका प्रयोग अनेक उद्देश्यों के लिए किया जासकता है। इसकारण अविशिष्ट साधनों के सम्बन्धमें तो उद्देश्यों के बाहुल्य और उनको सिद्ध करनेके साधनोंकी न्यूनता और उसके फलस्वरूप वैकल्पिक उत्पादन-व्ययका प्रश्न उठसकता है परन्तु विशिष्ट साधनोंके सम्बन्धमें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले उद्देश्यकी एकताके कारण वैकल्पिक उत्पादन-व्ययका प्रश्न उठना सम्भव नही है। साधारणतया यन्त्र, उपकरण तथा अर्धनिर्मित वस्तुए सापेक्ष रूपमें कच्ची सामग्रीसे अधिक अविशिष्ट हुआ करती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री न पहिले वर्गीकरणमें विश्वास रखतेहै और न दूसरे में। उनके मतानुसार उद्योगपति ही उत्पादनका सक्रिय अभिकर्ता है। भूमि, श्रम, पूजी इत्यादि केवल उत्पादन-सामग्रीके रूपमें उसके सामने आतेहैं और इनके प्रयोग द्वारा वह अपने कतिपय उद्देश्योंकी सिद्धिका इसप्रकार प्रयत्न करताहै कि उसे न्यूनतम उत्पादन-व्यय उठाना पड़े। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वह एक साधनके स्थान पर दूसरेका परिस्थापन करता रहता है। हम पहिले देखही चुकेहै कि इन साधनों के विभिन्न जातीय होनेपर भी इनका सीमान्त प्रतिस्थापन किया जासकता है।

उत्पादनके साधनोंके उपर्युक्त वर्गीकरणोंके तर्क-संगत न होनेपर भी पाठय पुस्तकों में भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था इत्यादिको पृथक पृथक माननेकी ही परम्परा

चली आती है। इसी परम्पराका अनुसरण करतेहुए इस स्थानपर भी उनका अलग अलग विवेचन किया जारहा है।

भूमि

भूमिसे उत्पादनमें प्राकृतिक सहयोगियोंका अर्थ लिया जाता है। इसप्रकार पृथ्वी, बनस्पति, खनिज, समुद्र, पर्वत, नदी, झील, जलवायु आदि सभीको भूमिमें सम्मिलित किया जाता है। प्राकृतिक साधनों अथवा भूमिको अन्य साधनोंसे भिन्न श्रेणीका माना जाताहै क्योंकि भूमिमें कुछ ऐसे विशिष्ट गुणोंकी कल्पना कीगयी है जो अन्य साधनोंमें नही मिलते। उनमें से मुख्य गुण निम्नलिखित हैं :

(१) भूमिका क्षेत्रफल न्यूनाधिक नहीं किया जासकता अर्थात् वह सीमित है।

(२) भूमि अविनाशी है।

(३) वह अचल है।

(४) वह अनायास प्राप्य है।

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमिके इन विशिष्ट गुणोंमें विश्वास नहीं करते। भूमिको सीमित कहना उतनाही उचित अथवा अनुचितहै जितना कि अन्य भौतिक पदार्थों को। आर्थिक दृष्टि से भूमिको सीमित नहीं कहाजा सकता। बंजर भूमिको कृषिके योग्य बनाया जासकता है। कम उत्पादक भूमिको उन्नत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष भूमि-भाग का महत्व केवल उसकी उत्पादक शक्ति परही नहीं बल्कि उस भूमि-भाग की स्थितिपर भी निर्भर है और यातायात के साधनोंमें उन्नति करके बुरीसे बुरी स्थितिको भी उत्तम बनाया जासकता है। इसकारण भूमिको सीमित मानना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त भूमिके अन्तर्गत जिन उत्पादनोंकी गणना कीजाती है वेभी कईप्रकार से प्रयुक्त होसकते हैं और उन्हें एक प्रयोगसे हटाकर दूसरे प्रयोगमें लगाया जासकता है। इसकारण न तो वे सीमित ही हैं और न अचल। इसीप्रकार प्राकृतिक साधनोंसे हम लाभ तो अवश्य उठा सकतेहैं किन्तु उस लाभको उठानेके लिए हमें स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। प्राकृतिक शक्तियां अपने स्वतन्त्र रूपमें मनुष्यकी आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए अधिकतर अनुपयुक्त होती हैं; अपने उपयोगमें लानेके लिए मनुष्यको उन्हें एक

स्थानसे दूसर स्थानतक लाना पड़ता है तथा एक रूपसे दूसर रूपम परिवर्तित करना पड़ता है। उन्हें अपनी आवश्यताओंको तृप्त करनेके योग्य बनानेके लिए मनुष्यको श्रम और पूंजीकी सहायता लेनी पड़ती है।

उत्पत्ति का क्रमागत-ह्रास सिद्धान्त

रिकार्डोने भूमिको सीमित मानकर कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम्बन्धमें एक सिद्धान्तका विवेचन किया है जिसे उत्पत्तिका क्रमागत-ह्रास नियम कहते है। उसका विचारथा कि संसारकी जनसंख्या में वृद्धि होनेसे कृषिसे प्राप्त उत्पत्ति की मांगमें वृद्धि होगी, परन्तु संसारमें भूमिकी मात्रा सीमित होनेके कारण उससे प्राप्त उत्पत्तिमें मांगकी वृद्धिके अनुसार वृद्धि नहीं की जासकती क्योंकि जैसे जैसे कृषि करनेवालों की संख्या बढ़ती जायेगी वैसे वैसे प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें न्यूनता आती जायेगी। रिकार्डोने इसके दो कारण बताये हैं। एकतो अधिक उत्पादक भूमिभागों पर काम करनेवालों की संख्यामें वृद्धि और दूसरे कम उत्पादक भूमि-भागोंपर कृषि का किया जाना। वास्तवमें कम उत्पादक भूमि भागों पर कृषि उसीसमय प्रारम्भ कीजाती है जबकि अधिक उत्पादक भूमि भागोंसे प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें कमी आने लगतीहै जिसके कारण अधिक उत्पादक भूमि भागपर काम करनेवालों की संख्यामें वृद्धि करने अथवा किसी नये किन्तु कम उत्पादक भूमि भाग पर कृषि करने में कोई अन्तर नहीं रहता। रिकार्डोका मत था कि नये देशों में सबसे पहिले अधिकतम उत्पादक भूमि भाग परही कृषि कार्य आरम्भ किया जाता है। शनैः शनैः जनसंख्यामें वृद्धि होनेके कारण कम उत्पादक भागोंपर भी कृषि कीजाती है। इसप्रकार की कृषि को उन्होंने वितत-कृषि का नाम दिया है। प्राचीन देशोंमें कृषि योग्य भूमिकी न्यूनताके कारण पुरानीही भूमिपर अधिक पूंजी तथा श्रमका व्यय करके उत्पत्तिकी मात्रा बढ़ानेकी चेष्टा कीजाती है। इसप्रकार की कृषिको उन्होंने प्रकृष्ट कृषि का नाम दिया है। यहतो स्पष्टहै कि कम उत्पादक भूमिपर अधिक उत्पादक भूमिके समानही श्रम तथा पूंजी व्यय करनेसे कम उत्पत्ति प्राप्त होगी। परन्तु अनुभवसे यहभी भलीभांति विदित होचुका है कि अधिक उत्पादक भूमिपर भी श्रम तथा पूंजीकी मात्रा दुगनी

करदेनेसे उत्पत्तिका दुगना होना सम्भव नहीं। उत्पत्ति दुगनेसे कम ही रहेगी। इस प्रवृत्तिका ज्ञान वृद्धि द्वारा कुछ समयके लिए निरोध किया जासकता है, परन्तु अन्ततोगत्वा श्रम तथा पूंजीके अधिकाधिक उपयोगसे प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें ह्रास अनिवार्य है। इसकारण प्राचीन अर्थशास्त्री विशेषकर माल्थस जीवन-स्तर को सुरक्षित रखनेके लिए सन्तति-निरोधके लिए विशेष आग्रह किया करते थे। माल्थसके जनसंख्या सिद्धान्तका विवेचन हम अगले अध्यायमें करेंगे।

वास्तविक जगतमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें वृद्धिही होती चली जारही है और गत सौ डेढ़सौ वर्षमें तो इस मात्रामें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इस वृद्धिका कारण कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान तथा आविष्कार हैं जिनमें फसलोंका चक्रानुवर्तन, कृषिमें काम आनेवाले यन्त्रोंका निर्माण, नयी नयी खादोंका आविष्कार तथा अधिक उत्पादक बीजोंकी उपलब्धि है। रिकार्डोके मतानुसार इसप्रकार की उन्नतियां दो वर्गोंमें विभाजित की जासकती हैं। एकतो वे जो पृथ्वीकी उत्पादन शक्तिको बढ़ाती हैं, जिनमें फसलोंका चक्रानुवर्तन और उत्तम खादें सम्मिलित की जासकती हैं। दूसरे वे जो कृषिके यन्त्र इत्यादि को उन्नत करके श्रमके न्यून व्ययसे अधिक उत्पत्ति उपलब्ध करती हैं। इनमेंसे पहिले प्रकार की उन्नतियों द्वारा हम उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास नियम के प्रभावसे सुरक्षित रहसकते हैं और यदि ये उन्नतियां क्रियाशील तथा निस्तर हों तो कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिमें क्रमागत वृद्धि होसकती है और इतिहास साक्षीहै कि आजतक ऐसा होता रहा है। परन्तु कम उत्पादक भूमियों पर कृषिका किया जाना अथवा अधिक उत्पादक भूमियोंपर कम उत्पत्ति प्राप्त होनेपर भी अधिकाधिक श्रम और पूंजीका लगाया जाना उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास नियमके अचूक होनेकी गवाही है। इस सम्बन्धमें इतना कह देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्तका संकेत प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राकी ओर है। उसके मौद्रिक मूल्यकी ओर नहीं।

दूसरे प्रकार की उन्नतियोंका परिणाम यह होताहै कि कृषि-कार्यमें संलग्न लोगोंकी संख्यामें कमी होती चली जाती है। जब एक मनुष्यके श्रमसे एक कुटुम्बके लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न होपाती थी तो अधिकतर लोगोंका गांवोंमें रहना और किसान होना आवश्यक होता था। परन्तु जब यन्त्रोंकी सहायतासे एक मनुष्य तीन चार कुटुम्बोंके लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न कर लेताहै तो कृषि करनेवालों

की संख्याके अनुपातमें कमी तथा नगरोंमें रहनेवालों की संख्यामें वृद्धिका होना स्वाभाविक है।

इस सिद्धान्तका विवेचन प्रायः कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम्बन्धमें ही किया जाता है। परन्तु इसका कार्यक्षेत्र कृषितक ही सीमित नहीं। खानों, जलाशयों, वनों इत्यादिसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें भी अधिकाधिक श्रम और पूंजीका व्यय करने पर क्रमागत ह्रासही होता चला जाता है। खानें भूमिकी तरह प्रकृति-प्रदत्त अवश्य हैं परन्तु दोनों समकक्ष नहीं। लगातार कृषिसे लुप्त होनेवाली भूमिकी उत्पादक शक्तिका प्राकृतिक कारणोंही से पुनरुत्थान होता रहता है। खानोंमें स्थित सम्पत्तिको एकबार पूर्णतया समाप्त करदेने पर उसकी पुनः सृष्टि नहीं होती। खानोके सम्बन्धमें उत्पत्तिका क्रमागत ह्रास इसप्रकार कार्य करताहै कि अत्यन्त सुलभ सम्पत्तिके समाप्त होनेपर कष्टसे प्राप्त होनेवाली उत्पत्ति पर श्रम और पूंजीका अधिक व्यय करना ही पड़ता है।

जलाशयोंसे मछलियां प्राप्त कीजाती हैं। जलाशयों और भूमिमें यह अन्तर है कि मनुष्यने वर्षोंके अनुसन्धान और अनुभवके अनन्तर कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिकी पूर्ति पर न्यूनाधिक नियन्त्रण प्राप्त करलिया है। परन्तु जलाशयोंसे प्राप्त मछलियोंके सम्बन्धमें वह अभी ऐसा नहीं करपाया है। नदी नालोंसे प्राप्त मछलियोंकी पूर्तिका तो थोड़ा बहुत नियन्त्रण कियाभी जासकता है परन्तु समुद्रोंसे प्राप्त मछलियोंकी पूर्तिपर मनुष्यका तनिकभी वश नहीं। जलाशयों और खानोंमें यह भेदहै कि खानों की सम्पत्ति एकबार निकाल लेनेपर वह सदैवके लिए समाप्त होजाती है परन्तु मछलियां पकड़नेवाले स्थानोंपर यदि कुछ समयके लिए मछलियां पकड़ना बन्द करदिया जाये तो वे स्थान फिर मछलियोंसे भरपूर होजाते हैं।

परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास सिद्धान्तको कुछ अन्य दृष्टिसे देखते हैं। किसीभी उत्पादन-क्रिया को चलानेके लिए हमें एकसे अधिक उत्पादनके साधनोंकी आवश्यकता होती है। कृषिसे उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए हम केवल भूमि ही नहीं अपितु श्रमभी आवश्यक है। कपड़ा बुननेके लिए केवल श्रमही

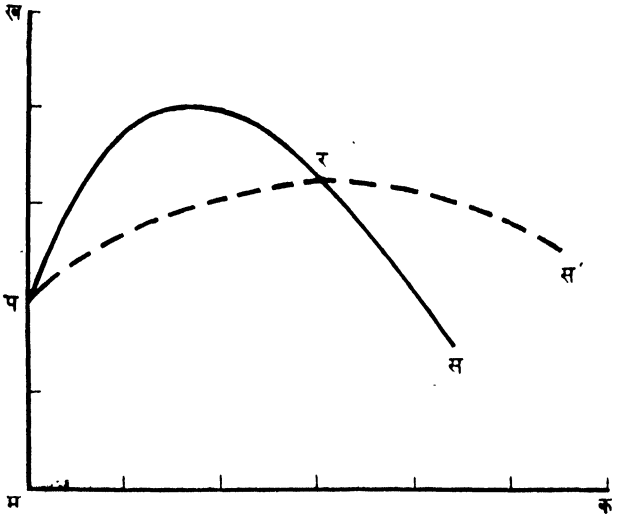
बल्कि कपड़ा बुनने के यन्त्रादि भी ज़रूरी हैं। कभी कभीतो भिन्न भिन्न साधनोंको निश्चित अनुपातमें एकत्रित करना पड़ता है। परन्तु प्राय: इस अनुपातमें परिवर्तन किया जासकता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचारहै कि यदि हम अन्य साधनोंको स्थायी रखकर किसी साधन विशेषकी मात्राको बढ़ाते चलेजायें तो एक समय ऐसा आताहै कि उस साधन द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा क्रमागत ह्रास होने लगता है। उदाहरणके लिए हम पूंजीकी मात्रामें तो परिवर्तन करते चलेजायें परन्तु श्रम और भूमिको स्थायी रखें तो हमें उत्पत्तिमें क्रमिक ह्रास प्राप्त होगा। परन्तु कभी कभी साधन विशेषके अधिकाधिक प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्तिमें ह्रास होनेसे पूर्व कुछ कालतक वृद्धिभी होती रहतीहै और फिर कुछ काल-तक न वृद्धि न ह्रास। आधुनिक अर्थशास्त्री इन तीनों नियमोंको केवल एकही सिद्धान्त का अंग मानतेहैं जिसे वे उत्पत्तिके परिवर्तनीय अनुपातके सिद्धान्तका नाम देते हैं।

जबकि उत्पादन कई साधनोंके परस्पर सहयोगसे सम्भव होता है तब उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनीय होतेहैं। यदि उत्पादनके साधनोंमें किसी विशेष परिमाण को स्थायी मानलिया जाये, तो इस परिमाणके उपयोगसे प्राप्त उत्पत्तिको कुल उत्पत्ति कहाजाता है। इस उत्पत्तिको उन साधनोंकी संख्यासे भाग देनेपर औसत उत्पत्ति प्राप्त होती है। उत्पादन-साधनोंमें एक इकाईकी वृद्धि करनेके फलस्वरूप जो कुल उत्पत्तिमें वृद्धि होतीहै, उसे सीमान्त उत्पत्ति कहाजाता है। इसीप्रकार साधनोंके उस परिमाण का व्यय कुल व्यय होगा। उस कुल व्ययको साधनोंकी संख्यासे भाग देनेपर औसत व्यय प्राप्त होताहै और एक इकाईकी वृद्धि करनेके फलस्वरूप कुल व्ययमें होनेवाली वृद्धिसे सीमान्त-व्यय प्राप्त होता है। हम पहिले लिख चुकेहैं कि सीमान्त वस्तु वह वस्तुहै जिसका उपयोग किसी उद्योगमें विचाराधीन हो। सीमान्तकी कल्पना उसी अवस्थामें हो सकती है जबकि किसी वस्तुके उपयोगमें परिवर्तन निरन्तर होरहे हों और जब वे परिवर्तन बहुत बड़े और अविभाज्य न हों। उदाहरणके लिए यदि कोई व्यवस्थापक पांच श्रमिक बढ़ाना निश्चित करताहै तो उनका श्रम सीमान्त श्रम, उनके द्वारा सम्भव उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति और उनके उपयोगके लिए कियागया व्यय सीमान्त व्यय होगा।

यह आवश्यक नहींहै कि कुल, औसत और सीमान्त उत्पत्ति साथ साथ घटे बढ़े। वह पृथक पृथक घट बढ़ सकती है। उत्पत्ति-ह्रास नियमके आरम्भिक रूपमें यह

बात स्पष्ट नहीं थी कि ह्रास औसत उत्पत्तिमें होताहै या सीमान्त उत्पत्तिमें। आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त उत्पत्तिके ह्रास नियम को ही दृष्टिगत रखना अधिक समीचीन समझते है क्योंकि सीमान्त उत्पत्तिसे यह पता चलताहै कि औसत किस दरसे परिवर्तित होरहा है।

उत्पादनकी बहुतसी अवस्थाओंमें हम बहुतसी उत्पादक सेवाओंके परिमाणमें परिवर्तन करते रहते है परन्तु उनमेंसे एकके परिमाणको ज्यों का त्यों रहने देते हैं, स्पष्ट है कि फलभी समानुपातिक न होंगे। यदि कुछ उत्पादन-साधनोंको समान भागोंमें बढ़ाया जाये और कुछको वैसाही रहने दियाजाये तो किसी बिन्दुके अनन्तर उत्पत्ति अनुपातत: कम होने लगेगी। उत्पत्तिके इस नियमको परिवर्तनीय अनुपातका नियम कहते है। रेखाचित्र की सहायतासे इस नियमको इसप्रकार दिखाया जासकता है:



मान लीजिए किसी उद्योगमें अन्य सब उत्पादनके साधन स्थायीहैं, केवल एकही साधन परिवर्तनीय है। 'म,क' रेखा पर उस साधनके परिमाणमें परिवर्तनोंको और 'म,ख' रेखा पर उसके प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राको दिखाकर 'प,स' और

'प,स'' क्रमशः सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति द्योतक रेखाएं प्राप्त कीजाती हैं। रेखाओंके आकारसे विदितहै कि आरम्भमें तो सीमान्त तथा औसत उत्पत्ति बढ़ती है; इसके अनन्तर सीमान्त उत्पत्ति घटना आरम्भ कर देतीहै, परन्तु औसत उत्पत्ति बढ़तीही जाती है। फिर एक समय ऐसा आताहै जबकि सीमान्त और औसत उत्पत्ति सम होती है। चित्रमें यह बिन्दु 'र' से अंकित किया गया है। इस बिन्दुके अनन्तर सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति दोनों लगातार गिरतीही चलीजाती हैं परन्तु सीमान्त उत्पत्ति अधिक वेगसे गिरतीहै, कुछ अर्थशास्त्रियोंमें 'र' बिन्दुको भी उत्पत्ति की मात्राके अनुपातत: कम होनेका प्रदर्शक माना है।

उत्पत्तिके परिवर्तनीय अनुपातके नियममें यह मानलिया जाताहै कि जिन उत्पादनके साधनोंका प्रयोग किया जारहा है वे सभी समरूप हैं। इसके अतिरिक्त यह नियम मूलतया यंत्र-विज्ञान का नियम है। और इसकारण अर्थशास्त्रके लिए इसका महत्व परोक्ष रूपसे ही है। यहतो विदित ही है कि इसके लागू होनेके लिए कम से कम एक साधन स्थायी होना चाहिए और उनके विनियोगका अनुपात बंधा न होना चाहिए।

सर्वोत्तम विनियोग का सिद्धान्त

जब उत्पादनके सभी साधन परिवर्तनीय होतेहैं अर्थात् उनमें से प्रत्येकको घटाया बढ़ाया जासकता है तो सर्वोत्तम विनियोगका नियम लागू होता है। अर्थशास्त्रमें इस नियमका प्रयोग तीन प्रकारकी समस्याओंको सुलझानेके लिए किया जाता है:

(१) उद्योगकी सन्तुलन अवस्था निर्धारित करनेके लिए।

(२) जनसंख्या की सर्वोत्तम मात्रा निर्धारित करनेके लिए।

(३) उत्पादनके साधनोंको विभिन्न उपयोगों तथा उद्योगोंमें विभक्त करनेके लिए।

उद्योग संस्था उस बिन्दुपर सर्वोत्तम आकार और सन्तुलन अवस्था प्राप्त करती है, जिसपर कि इसके औसत और सीमान्त व्यय सम होजाते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में संस्था को घटाने बढ़ानेमें हानि होगी। औसत व्ययसे सीमान्त व्यय ऊंचा रहने पर संस्थाका घटाना आवश्यक होगा क्योंकि अन्यथा औसत-व्यय बढ़ता जायेगा

और यदि सीमान्त व्यय औसत व्ययसे नीचा है तो उसे बढ़ानेका प्रलोभन मिलता रहेगा। क्योंकि बढ़ानेसे औसत-व्यय कम होता जायेगा। प्रत्येक स्थितिमें संस्थाको विस्तृत अथवा संकुचित करनेकी आकांक्षा बनी रहती है। सन्तुलनकी अवस्था उसी समय प्राप्त होती है जब दोनों सम होजाते है और वही सर्वोत्तम स्थिति होती है, जैसाकि सन्तुलनके अध्यायमें विस्तृत रूपसे बताया गया है।

उत्पादनके साधनोंका विभिन्न उपयोगों और उद्योगोंमें सर्वोत्तम विभाजन उस समय होताहै जबकि प्रत्येक साधनकी प्रत्येक उपयोगमें सीमान्त उत्पत्ति बराबर होतीहै क्योंकि अन्यथा कुछ स्थानोंपर विभाजनमें अन्तर करनेसे उत्पत्ति बढ़ सकती है। परन्तु सर्वोत्तम विभाजनका अर्थ तो यहहै कि उसमें किसीभी प्रकारका परिवर्तन होनेसे लाभ प्राप्त होनेकी कोईभी आशा न हो। उत्पादनके साधनों का विनियोग इसप्रकार निर्धारित होताहै कि उनमें परस्पर प्रतिस्थापना उस समय तक चलती रहतीहै जबतक कि किसी दियेहुए विनियोगमें और परिवर्तन करनेसे कोई लाभकी आशा न रहे अर्थात् जब सब साधनोंकी सीमान्त उत्पत्ति सम होजाये। इसीप्रकार कितना और कौनसा साधन किस प्रयोग या उद्योगमें लगना चाहिए, इस बातसे निश्चित कियाजाता है कि उस साधनके सीमान्त प्रयोगसे विकल्प रूपमें जो उत्पत्ति होसकती थी उसका महत्व प्रस्तुत उपयोगसे अधिकहै अथवा कम, इसी कारण वोल्डिगने इस नियमको समान लाभका नियमभी कहा है। उसका कहना है कि प्रत्येक उत्पादनके साधन अथवा सेवाके लिए व्यवसाय विशेषमें कुछ लाभ प्राप्त होते रहते हैं। सम्पूर्ण लाभोंको दृष्टिगत रखतेहुए जिस विभाजन-द्वारा उत्पादन क्रियाके प्रत्येक सहयोगीको परस्पर समान लाभ मिले वही सर्वोत्तम विभाजन है।

साधनों की अविभाज्यता

उत्पादन क्षेत्रमें सबसे बड़ी कठिनाई अविभाज्यताओं द्वारा उत्पन्न होती हैं। अविभाज्यताएं दो प्रकारसे पैदा होती हैं। एकतो कुछ साधन किसी विशेष कार्यके अतिरिक्त अन्य कार्यमें लगाए नहीं जासकते और कुछ एक विशेष अनुपातमें ही प्रयुक्त होसकते हैं। बहुतसी मशीनें किसी विशेष मात्रामें ही उत्पत्ति करसकती हैं अथवा किसी विशेष गतिसे ही चलसकती हैं। ऐसी स्थितिमें सर्वोत्तम विनियोगकी समस्या

बड़ी कठिन होजाती है। कुछ अविभाज्यताएं विज्ञापन और विक्रय सम्बन्धीभी हैं और बहुतसी अर्थसम्बन्धी भी। उनको इच्छानुसार घटाया बढ़ाया नहीं जासकता। वैज्ञानिक गवेषणा इत्यादि कुछ ऐसी वस्तुएं नहीं कि उनपर जितना व्यय कीजिए उसी अनुपातमें फल प्राप्त हो। ऐसा नहींहै कि किसी बड़े वैज्ञानिकके ज्ञानका लाभ उठानेके लिए जितना व्यय करना पड़े, उससे कम लाभ मामूली वैज्ञानिककी सेवाओंके लिए व्यय करके उठाया जासके। अधिक सम्भव यही है कि मामूली वैज्ञानिकपर कियागया व्यय व्यर्थ ही हो।

अविभाज्यताएं दो प्रकारसे कठिनाइयां उपस्थित करती हैं। एकतो विनियोगकी समानुपातकता नष्ट करके, और दूसरे साधनोंकी गतिशीलता नष्ट करके। गतिशीलता नष्ट होनेसे प्रतियोगिता अपूर्ण होने लगतीहै और सर्वोत्तम विनियोग अथवा विभाजनके लिए पूर्ण प्रतियोगिता और समानुपातकता दोनों आवश्यक हैं।

१२

आर्थिक साधन—श्रम

श्रम की परिभाषा

यह तो स्पष्ट ही है कि सारा उत्पादन मानव-प्रयास का फल है। यद्यपि तात्विक दृष्टिसे ऐसा सोचा जासकता है कि किसी प्रागैतिहासिक कालमें मानव आवश्यकताओंकी पूर्ति पूर्णतया प्रकृति द्वारा और अनायास ही होती रही होगी। परन्तु इतिहास किसी ऐसे कालका साक्षी नहीं है। प्रकृतिको अपनी आवश्यकताओं की पूर्तिका हेतु बनानेके लिए मनुष्यको प्रयास और परिश्रम करना ही पड़ता है। इसका प्रमाण हम प्रागैतिहासिक कालीन यन्त्र तन्त्र तथा कला कौशलके रूप में पाते हैं।

हमारी जितनी भी क्रियाएं होती हैं, हम उन सभीको प्रयास अथवा श्रमके अन्तर्गत मान सकते है, फिरभी अर्थशास्त्र में श्रमको इस विस्तृत अर्थमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। अधिकतर अर्थशास्त्रियों ने उस प्रकारके प्रयासको श्रमकी कोटिमें रखा है जो किसी प्रकारके लाभकी आशासे किया जाये। उपयोगी और अनुपयोगी श्रमका भेद अर्थशास्त्रके इतिहासमें काफी पुराना है। फिज़ियोक्रैट्स ने केवल कृषिगत श्रमको सार्थक माना है। ऐडम स्मिथ ने उत्पादक और अनुत्पादक श्रमका भेद करतेहुए बतलाया है कि जिस श्रमके फलस्वरूप वस्तुओंकी उत्पत्ति हो, वह उत्पादक है, किसी अन्य प्रकारका श्रम व्यर्थ है। श्रमका यह भेद बहुत दिनोंतक माना जाता रहा। परन्तु मिलके अनन्तर इसकी बड़ी आलोचना हुई क्योंकि उत्पादक और अनुत्पादक श्रममें सेवाओंका कोई स्थान नहीं रखाजाता था। परन्तु यह कहना कठिनहै कि सेवाएं सुखकी उतनी साधक नहीं है जितनी कि वस्तुएं। टॉसिग का मतहै कि वह सभी श्रम जिसके फलस्वरूप उपयोगिता की सृष्टि हो, उत्पादक है और उसकी परिभाषाके अनुसार उपयोगिता वहहै जिसके द्वारा हमारी इच्छाओं की तुष्टि हो

श्रमकी मांग कई बातों पर निर्भर है। अन्य सहयोगी उत्पादन साधनों की उपलब्ध मात्रासे इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। उत्पादन रीतियों में परिवर्तनके साथ साथ इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। किसी विशेष उद्योग धंधे में श्रमकी मांग उस उद्योग धंधे की उत्पत्तिके लिए मांगकी लोचसे सम्बन्धित है। श्रमकी पूर्ति श्रम-जीवियों की संख्या और फलस्वरूप कुल जनसंख्या, काम करनेके घंटों तथा श्रम-जीवियों की कुशलता पर निर्भर है।

जन-संख्या

यधपि माल्थसके पहिलेभी पैटी तथा गाडविन आदिने जन-संख्या तथा आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थामें उसके प्रभावपर कुछ विचार कियाथा, पर विस्तृत रूपसे जन-संख्या का आर्थिक महत्व दर्शानेवाले पहिले व्यक्तियोंमें माल्थस का ही नाम अधिक प्रसिद्ध है। संक्षेपमें, उनका मत इसप्रकार है कि जन-संख्या की स्वाभाविक वृद्धि-दर बहुत तीव्र है। अनेक प्राकृतिक और मानुषी कारण उसे अपनी स्वाभाविक तीव्र गतिसे निरुद्ध करते हैं, फिरभी जिस दरसे मनुष्यके जीवन-निर्वाह की सामग्री बढ़ती है, उसकी उपेक्षा जन-संख्या की वृद्धि-दर अधिक ही रहती है। यदि जन-संख्या की वृद्धि-दर २, ४, ८, १६ इसप्रकार मानें तो उत्पादन-वृद्धि की दर १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, इसप्रकार होगी। कहा नहीं जासकता कि कहांतक माल्थस का अभिप्राय यहथा कि जन-संख्या और उत्पादनकी सापेक्ष वृद्धि-दरोंमें ठीक ठीक उपरिलिखित सम्बन्ध है और कहांतक उसने गणित का सहारा केवल इन दोनों दरोंके भारी अन्तरको स्पष्ट और प्रभावपूर्ण शब्दोंमें प्रकट करनेके लिए लिया। जोकुछ भी हो, इन दोनों दरोंका सम्बन्ध गणित-सुलभ शुद्धतासे मापना असम्भव है। वास्तवमें अपनी पुस्तक 'जन संख्या पर निबन्ध' के पहिले संस्करणमें तो उसने अपना मत बहुतही अप्रामाणिक रीतिसे प्रतिपादित किया है। दूसरे संस्करणमें उसने बहुत कुछ सुधरे हुए ढंगसे अपने मतका प्रतिपादन किया है। परन्तु उसका मुख्य प्रमाण विभिन्न देशोंसे संकलित ऐतिहासिक सामग्री है।

यदि हम यह मानलें कि जन-संख्या और उत्पादन की वृद्धिके दरोंमें अनिवार्य अन्तरहै तो इस निष्कर्षपर पहुंचेंगे कि किसी समय संसारमें जन-संख्या इतनी बढ़

जायेगी कि उसके लिए खाद्य सामग्रीका मिलना लगभग असम्भव ही होगा। माल्थसके अनुसार इस निष्कर्षमें कोई दोष नहीं। यदि वस्तुत: ऐसा नहीं हुआ तो उसका कारण मनुष्यका सौभाग्यहै कि महामारी, दुर्भिक्ष, भयंकर युद्ध, बाढ़, आग इत्यादि आपत्तियोंसे मनुष्यका बचाव नहीं। जन-संख्या वृद्धिपर इसप्रकार के प्रतिबन्धोंको माल्थस प्राकृतिक प्रतिबन्ध कहता है। इसके अतिरिक्त कुछ निरोधात्मक प्रतिबन्धभी हैं। अधिक सन्तानोत्पत्ति पर नैतिक निरोध, संयम, ब्रह्मचर्य इत्यादि। माल्थस सन्तति और गर्भनिरोधके कृत्रिम उपायों को बहुत बुरा समझता था। सम्भवत: इसीलिए उसने इनको प्राकृतिक प्रतिबन्धों की सूचीमें रखदिया है। इन दो प्रकारके प्रतिबन्धों का भेद हम दूसरे ढंगसे भी करसकते हैं। प्राकृतिक प्रतिबन्ध वे हैं जो मृत्यु दर बढ़ाकर जन-संख्याकी वृद्धि रोकते हैं और निरोधात्मक प्रतिबन्ध वे है जो जन्म-दर घटाकर जन-संख्या संकुचित करते हैं।

माल्थसके मतका आधार उत्पादनकी ह्रासशीलता का नियम है। जिसको उसने स्पष्टतया तो प्रस्तुत नहीं किया, पर वह उसके उत्पादन-दर-वृद्धिके उदाहरणमें निहित है। जब यह कहाजाता है कि उत्पादन १, २, ३, ४...इसप्रकार बढ़ताहै तब इस कथनके विश्लेषणसे यहबात स्पष्टहै कि उत्पादनकी दरमें क्रमश: ह्रास होता जाता है। यदि यह नियम व्यापक एवं अनिवार्य हो तो यहभी सत्यहै कि जन-संख्याकी अत्यधिक वृद्धिका भय सदैव बनाही रहेगा।

माल्थसके इस मतकी आलोचना उस समयसे आजतक होती आई है। सबसे प्रचलित आलोचना यहहै कि उत्पादनके साधनोंमें उन्नति होसकती है और इस उन्नतिके फलस्वरूप जन-संख्याकी वृद्धिको रोके बिनाभी जीवन-स्तर ऊंचा रखा जासकता है। दूसरा आक्षेप यह कियाजाता है कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रासका नियम अनुपातिकता का एक पक्षहै और इसलिए उसके आधारपर आश्रित प्रवृत्ति सदैव चरितार्थ नहीं होसकती। इसीसे सम्बन्धित और सबसे महत्वपूर्ण युक्ति यहहै कि माल्थसने सापेक्ष और निरपेक्ष जन-संख्याका भेद नहीं किया। कोई देश अधिक जन-संख्यासे पीड़ित है अथवा नहीं, यह इस बातपर निर्भर होगा कि वहांका उससमय जीवन-स्तर क्याहै और कितने आर्थिक साधन उपलब्ध हैं। यहबात उत्पादन-प्रणाली, वितरण-प्रणाली और जन-संख्याके वितरण और घनत्व परभी निर्भर करेगी। इसकारण महत्वपूर्ण बात सापेक्ष जन-संख्या आधिक्य है।

कुछ लोगोंने यहभी आपत्ति उठाई है कि जन-उत्पत्ति-वृद्धिकी दर जिस प्रकार माल्थस सिद्धान्तमें मापी जाती है, वह सदोष है। उनके अनुसार आवश्यक बात यहहै कि किस दरसे एक दीहुई जन-संख्या पुनर्जीवित रखी जातीहै और यह बात जनन-शक्तिपर निर्भर होगी।

अन्य विचारकों ने यह दिखलानेका प्रयत्न कियाहै कि जन-संख्याकी वृद्धि अथवा ह्रास जिन कारणोंसे होताहै, उनके आधारपर कहा जासकता है कि सदैव वृद्धिशील जन-संख्या का भय निर्मूल है। वातावरण, जीवन-स्तर, मजूरी की दर, ये सभी बातें जन-संख्याकी वृद्धि-दर निर्धारित करती हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का यहभी मत है कि जन-संख्याकी वृद्धि-दर धनिकोंमें कम और निर्धनों में अधिक होती है। सीनियरने यह दिखायाहै कि जब जन-संख्या बहुत बढ़ने लगती है अथवा जब एक स्थानमें अधिक घनी होजाती है तो अपनेआप कुछ विरोधी शक्तियोंका प्रादुर्भाव होताहै जो जन-संख्याकी वृद्धिको रोकती हैं। इनमें उठते हुए जीवन-स्तर और नयी ग्रहणकी हुई इच्छाओंका बहुत महत्व है। प्रश्न यह नहीं कि किसी देशकी जन-संख्या घटायी जाये या बढ़ायी जाये। समस्या यहहै कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगोंके साथ जन-संख्याका किसप्रकार सामञ्जस्य किया जाये कि आर्थिक सम्पन्नता सर्वोत्तम बिन्दुपर रहे। कहनेका अभिप्राय यहहै कि किसी दीहुई अर्थ-व्यवस्थामें एक विशेष परिमाणमें श्रमकी आवश्यकता होतीहै और एक विशेष आकारकी जन-संख्या सर्वोपयुक्त होसकती है। उससे छोटी जन-संख्या उतनीही व्यर्थ है जितनी उससे बड़ी। अर्थ-व्यवस्था और उत्पादनके साधन यदि बदलजायें तो उसीके अनुरूप जनसंख्याका आकारभी बदलना पड़ेगा। इस सामञ्जस्यमें जन-संख्याका केवल आकारही महत्वपूर्ण नहीं है बरन् जन-संख्या का घनत्व, व्यक्तियोंके गुण और उसका स्वरूप और संयोजन भी आवश्यक है।

जैसाकि सर्वोत्तमताके सिद्धान्तमें अनिवार्य है, जन-संख्याके इस सिद्धान्तका व्यवहार कोई सर्वोपरि उद्देश्य मान लेनेपर ही होता है। यह उद्देश्य प्रति व्यक्ति, सर्वाधिक आय मानाजाता है। इसके अनुसार जिस बिन्दुपर जन-संख्या और अन्य उत्पादनके साधनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य होजाये कि प्रत्येक व्यक्तिकी आय सर्वाधिक हो, वही उसका सर्वोत्तम बिन्दु है।

कुछ लोगोंने अन्य सिद्धान्तभी निश्चित किये हैं। उनके अनुसार यदि जीवन

की दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक जीवनाशा, सामाजिक दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक अवकाश, और सामान्य हित एवं सम्पन्नता, युद्धकी दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक सुरक्षा इत्यादि उद्देश्य सर्वोत्तम जन-संख्याके हो सकते हैं।

जन-संख्या में परिवर्तनों का महत्व

माल्थस और अन्य विचारकोंके मतोंकी जो विवेचना हमने की है, उससे मानव-हित और आर्थिक सम्पन्नताके लिए उचित जनसंख्याका कितना महत्व है, यह बहुत कुछ स्पष्ट होगया है। माल्थसके अनुसार तो दरिद्रता-निवारण का उपायही यही है कि जन-संख्याको संकुचित करनेका भरसक प्रयत्न किया जाये, यद्यपि अन्य बहुतसे विचारकों ने माल्थसके बताये उपायोंका समर्थन नहीं कियाहै (उन्होंने गर्भनिरोध के कृत्रिम उपायोंकी ही अधिक उपयोगिता मानी है) पर उन्होंने भी माल्थसके सिद्धान्तका महत्व स्वीकारही किया है। इस तथ्यसे इन्कार नहीं किया जासकता कि मतोंका उद्‌भव और उनका प्रसार बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियोंसे प्रभावित होता है। जिस समय माल्थसने अपना मत प्रचलित कियाथा, जन-वृद्धिका भय अधिक था और इसप्रकार अर्थशास्त्रमें जनसंख्या पर वृद्धि और आधिक्यकी दृष्टिसेअधिक विचार हुआ। परिस्थितियोंमें परिवर्तन होनेपर स्थायी और ह्रासशील जन-संख्याकी ओर भी विचारकोंका ध्यान गया। जन-संख्याकी पुरानी प्रवृत्ति श्रमजीवियोंकी अवस्था तथा मजूरीकी दरके दृष्टिकोणसे करनेकी ओर थी। सामान्य रूपसे कहा जासकता है कि सामाजिक आय और सम्पत्तिके परिमाणके सम्बन्धमें ही जन-संख्या का महत्व अधिकतर देखागया है। आर्थिक परिवर्तन और प्रगति के सम्बन्धमें भी जन-संख्याको देखनेकी प्रथा प्रचलित रही है।

वृद्धिशील जनसंख्या

कुछ लोगोंके मतमें जनसंख्या का सम्पूर्ण मांग और पूंजी लगानेके अवसरों पर प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिसे वृद्धिशील जन-संख्याका प्रथम और स्पष्ट प्रभाव तो सम्पूर्ण मांग और पूंजी लगानेके अवसरों को बढ़ाना है। वृद्धिशील जन-

संख्यामें व्यय और उपभोग प्रवृत्ति बढ़ेगी और साथही भविष्यकी चिन्ताके कारण बचत और इसलिए पूंजी निर्माण भी। यदि हम वितरण-रीतिकी अपूर्णताओंको छोड़दें, तो यह फल तभी प्राप्त होसकता है जब वृद्धिशील जन-संख्याके साथ साथ नवीनताओंकी गति और श्रमजीवियोंकी उत्पादन-शाक्ति बढ़े। पर जन-संख्या और नवीनताओंका सम्बन्ध सरल नहीं। एक ओर तो बढ़ती हुई जनसंख्याके कारण पूंजी लगानेके अवसरोंके बढ़जाने से उद्योगपतियोंको नवीनताएं अपनानेका अधिक लोभ होताहै पर दूसरी ओर ह्रासशील जनसंख्याका भी यही प्रभाव होसकता है। मन्दी होनेके कारण उद्योगपतियोंको श्रमकी बचत करनेवाले उपाय ढूंढ़ने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त वृद्धिशील जनसंख्याका एक प्रभाव श्रमका मूल्य घटादेना हो सकता है। और उस स्थितिमें मैशीनरीके स्थानपर श्रमका उपयोग अधिक होने की सम्भावना है। साधारणतया कहा जासकता है कि यदि बेकार उत्पादनके साधन न हों, तो वृद्धिशील जन-संख्या सामाजिक और आर्थिक हितकी बाधक और इसकारण बड़े बड़े आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनोंका मूल होगी।

ह्रासशील जन-संख्या

प्रोफेसर हेनसनके मतानुसार आर्थिक प्रगतिके मुख्य तीन कारण हैं—एक आविष्कार, दूसरा नवीन साधनों तथा भूभागोंका पता लगना और तीसरा जन-संख्या। यदि जन-संख्या ह्रासशील हो, तो पूंजीका निर्माण कम होगा और इसकारण आर्थिक प्रगति रुकेगी। प्रसारके अवसर जितनेही कम होंगे, प्रगति उतनीही कम होगी। पर जैसा रिकार्डो ने पहिलेही कहाथा, प्रगतिशील सीमा केवल भौगोलिक अथवा जन-संख्या सम्बन्धी वस्तु नहीं है। आर्थिक आवस्थासे भी उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसा हमने अभी देखा है, जनसंख्याकी दर और आर्थिक प्रगति का सम्बन्ध बड़ा जटिल है। सामान्य रूपसे यह कहसकते हैं कि यदि हम प्रगतिका मोह छोड़दें, तो जन-संख्याकी दर स्थायी रखनी होगी और वृद्धिशील जन-संख्याकी अपेक्षा ह्रास-शील जनसंख्या वांछनीय होगी। पर प्रगतिकी इच्छा रहतेहुए ह्रासशील जन-संख्याका प्रभाव बुरा ही है।

कुशलता

हम लिखचुके हैं कि श्रमकी पूर्ति श्रमजीवियोंकी कुशलता परभी निर्भर है। श्रमकी कुशलताके मुख्य मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:

१. व्यक्तिगत। कुशलताके लिए दो गुणोंकी सर्वोपरि आवश्यकता होती है। एकतो अभ्यास और परिश्रमकी क्षमता और दूसरे समझदारी। जिस व्यक्ति अथवा जातिमें लगातार कामकरते चलेजाने का स्वभावहै, उसके अधिक कुशल होनेकी सम्भावना है और समझदारीकी कमसे कम उत्पादनके उन विभागोंके लिए जहां संयोजन और निर्णयका अधिक काम पड़ताहै, आवश्यकता है।

२. वातावरणगत। वातावरणसे हमारा तात्पर्य उन दशाओंसे है जिनमें श्रमजीवी जीवन-यापन करताहै अथवा जिनमें वह उत्पादन-कार्य करता है। जीवन-यापनकी दशाएं कुछ तो ऐसीहैं जो उत्पादन प्रणालीही से सम्बन्धित हैं और कुछ उससे स्वतन्त्र हैं। जलवायुका प्रभाव एक ऐसा कारणहै जो स्वतन्त्र रूपसे श्रमकी कुशलता निश्चित करता है। प्रसिद्ध विद्वान हंटिंग्टनने जलवायुका स्वास्थ्य और श्रम-कुशलतासे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध बतलाया है।

उत्पादन-प्रणालीसे सम्बन्धित दशाएं दो प्रकारकी हैं—एकतो वेह जो श्रमिकोंके कार्य, स्थान इत्यादिसे और दूसरी वे जो श्रमिकोंके जीवन-यापनसे सम्बन्ध रखती हैं। पहिलीके अन्तर्गत कार्य स्थानमें रोशनी, तापमान, सफाई इत्यादिका उचित प्रबन्ध, काम करनेके घंटे दीर्घ न होना, कामका उचित नियन्त्रणादि। यहांतक उत्पादन-प्रणालीसे श्रमिकोंके जीवन-यापनकी दशाएं उत्पन्न होतीहैं, मजूरीका कम होना, जिसके फलस्वरूप श्रमजीवियोंके लिए उचित घरका न होना, उचित खाना न मिलना तथा अन्य असुविधाओंका होना और उनके बच्चोंके लिए उचित शिक्षा की कोई व्यवस्था न होना, ये बातें ध्यान देने योग्य है।

३. समाजगत। श्रमजीवियोंकी कुशलताका कारण मजूरीका कम होना तथा तद्जन्य अशिक्षा, अस्वास्थ्य-कर वातावरण एवं व्यापक दरिद्रता है। इस सम्बन्धमें यह लिखदेना भी अनुचित न होगा कि कुछ लोगोंका यहभी मतहै कि श्रमिकोंकी अकुशलताही उनके अल्प पारिश्रमिकका कारण है।

श्रमको विभाजन द्वाराभी अधिक कुशल बनाया जासकता है। श्रम विभाजनसे

हमारा तात्पर्य यहहै कि किसी वस्तुके बनानेमें जितने और जिस प्रकारके श्रमकी आवश्यकताहै, वह एकही व्यक्तिके ऊपर न छोड़कर कई व्यक्तियों या वर्गोंमें बांट दियाजाये। श्रमविभाजन कई प्रकारका होसकता है।

१. व्यक्तिगत। जब विशेष गुणोंके आधारपर कुछ कार्य-विशेष केवल कुछ व्यक्तियोंके लिए सुरक्षित करदिये जातेहैं तब हम उसे व्यक्तिगत श्रमविभाजन कहते हैं। यह सम्भव होसकता है कि एकही व्यक्ति अथवा परिवार कृषक, लुहार और बढ़ईके कार्य करे, पर यदि ये व्यापार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें बांट दियेजायें तो श्रमकी बचत होगी। इसप्रकार का श्रमविभाजन वर्गगतभी होसकता है। जब समाजके आर्थिक कार्य विभिन्न जन-वर्गोंमें बंटजाते है तो उसे वर्गगत श्रमविभाजन कहतेहैं, उदाहरणके लिए वर्तमान फैक्ट्री प्रणालीमें श्रमका विभाजन बहुत कुछ व्यक्तिगत है। मध्ययुगीन योरोपकी अर्थ व्यवस्थामें कला-कौशल विभिन्न वर्गोंमें बंटा हुआथा, जिन्हें गिल्ड या गोष्ठियां कहतेथे, उस प्रकारके श्रमविभाजनको वर्गगत कहेंगे।

२. प्रक्रियागत। एकही कार्यको जब कई छोटे-छोटे कार्योंमें बांट दियाजाता है और प्रत्येक उपविभागको भिन्न भिन्न व्यक्ति सम्भालतेहैं तो उसे हम प्रक्रियागत श्रमविभाजन कहते हैं। ऐडम स्मिथ इसीकी विशेष चर्चा करते है। उन्होंने पिन बनानेका उदाहरण दियाहै जिसमें २१ उपविभागों का वर्णन किया है। पिन पर टोपी रखनेका कार्य एक व्यक्ति-समूह करता है, उसपर नोक दूसरा बनाता है, उन्हें पालिश तीसरा करता है, पैक चौथा करता है। इसप्रकार अनेक उपविभागोंमें बंट कर अनेक मनुष्यों द्वारा पिनका निर्माण होता है। कोईभी कार्य कहांतक विभाजित अथवा उपविभाजित होसकता है, इसकी कोई सीमा नहीं। उत्पादन-प्रक्रिया का अधिकाधिक भागों और उपविभागोंमें बंटते चलेजाना वर्तमान उत्पादन प्रणाली की एक मुख्य विशेषता है।

३. भौगोलिक अथवा क्षेत्रगत। जब आर्थिक व्यापार कला कौशल, उद्योग धंधे विशेष विशेष क्षेत्रोंमें बंट जातेहैं तो इन उद्योगोंमें उपयोगी श्रमका भी इन्हीं क्षेत्रों में विभाजन होजाता है। इस प्रकारके विभाजनको भौगोलिक अथवा क्षेत्रगत विभाजन कहते हैं। उदाहरणार्थ, भारतमें सूती कपड़ेके कारख़ाने अधिकतर दक्षिण में, चीनीके उत्तरमें और पटसनके उत्तर पूर्वमें हैं। इसप्रकार के श्रम विभाजनके

कई कारण होसकते हैं। मुख्यत: कुछ विशेष उद्योगोंमें दक्ष श्रमिकोंका किसी क्षेत्र विशेषमें रहना या उस उद्योगके लिए आवश्यक कच्ची सामग्रीका उस क्षेत्र या उसके निकट मिलना महत्वपूर्ण कारण है।

श्रमविभाजन के लाभ

१. समयकी बचत। श्रमविभाजन द्वारा समय बहुत बचाया जासकता है। इस के कई कारण हैं। एक कार्यके कई भागोंको जब एकही व्यक्ति करताहै तो उसे एक भागके अनन्तर दूसरे भागकी तैयारी करनेमें थोड़ा समय लगता है। श्रम विभाजन द्वारा यह समय बचजाता है। इसके अतिरिक्त यदि एकही आदमी पूरा कार्य करे तो कार्यकी बदलती आवश्यकताओंके अनुसार उसे विभिन्न प्रकार की सामग्री एकत्रित करनी पड़ेगी। इसमें कार्यकी निरन्तरता टूटतीहै और बहुत कुछ समयभी व्यर्थ जाता है। कार्यको अनेक भागोंमें बांटलेने से यह समय बचजाता है परन्तु समयकी बचतका सबसे बड़ा कारण यहहै कि एकही प्रकारके कार्यको करते रहनेसे अभ्यासकी अधिकताके कारण उस कार्यको करनेकी गति तीव्र होजाती है।

२. कौशलकी वृद्धि। यह तो ज्ञातही है कि श्रमविभाजनके द्वारा श्रम अधिक कुशल होजाता है। जब कार्य अनेक उपविभागोंमें बंट जाताहै तो कार्यप्रणाली बहुत कुछ यन्त्रवत् होजाती है। ऐसी अवस्थामें अभ्यासके कारण गति तीव्र हो सकती है। परन्तु यदि कौशलका अर्थ कार्यको कम समयमें ही नहीं वरन् अधिक सुन्दर कर सकनेकी क्षमताहै तो इस क्षमतामें वृद्धि के स्थानपर ह्रास ही होगा।

३. नवीन आविष्कारों की सम्भावना। श्रमविभाजन द्वारा कार्य कई भागोंमें बंट जाताहै, इसकारण कार्य करनेवाले को कार्यके उस विभागको अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक देखने, समझनेका अवसर मिलताहै और इसप्रकार उसके सुधार अथवा उसमें नवीन अनुसन्धानकी सम्भावना बढ़जाती है। श्रमविभाजनसे उस प्रकारके आविष्कारोंकी सम्भावना अधिक होजाती है जो यान्त्रिक हों, क्योंकि इसके कारण उत्पादनमें श्रमके स्थानपर यन्त्रोंके प्रयोगमें सुविधा होतीहै और यही कारणहै कि पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्थामें श्रमविभाजन बड़ा महत्वपूर्ण और अनिवार्य है। एकही कार्यको अथवा किसी कार्यके एक छोटेसे विभागको बारबार दुहरानेसे वह

कार्य यन्त्रवत् होजाता है और कुछतो इस बार बार के दुहरानेसे ऊबकर और कुछ बार बार देखनेसे यान्त्रिक सिद्धान्त अधिक स्पष्ट होजानेसे कार्य करनेवाला उस कार्यके यन्त्र द्वारा होसकने के उपाय सोचने लगता है। इसप्रकार एक नये यन्त्र का—अर्थात् श्रम बचानेके एक नये साधनका आविष्कार होजाता है।

श्रमविभाजन उसी अवस्थामें सम्भवहै, जब उत्पादनका क्षेत्र और परिमाण पर्याप्त विस्तृत हों। बहुत छोटे परिमाणमें उत्पादन होनेपर कार्य इतने अधिक नहीं होते कि उन्हें अनेक व्यक्तियोंमें बांटाजाये और दूसरे कार्यको अनेक भागों तथा उपविभागोंमें बांटनेसे समय, श्रम और धन तीनोंकी अधिक आवश्यकता पड़ती है। इसकारण श्रमका अधिकाधिक विभाजन सदैव उत्तरोत्तर वृद्धिशील और बड़े पैमानेमें उत्पादनसे सम्बन्धित होता है।

श्रमविभाजनकी सीमारेखा बाज़ारका विस्तार है। इस कथनका आधार श्रम-विभाजन और उत्पादन-परिमाणका सम्बन्ध है। उत्पादन जितनेही विस्तृत परिमाणमें होगा, श्रमविभाजन उतनाही अधिक लाभप्रद होगा। परन्तु यदि इस उत्पादनकी खपतके लिए सुदूरव्यापी और विस्तृत बाज़ार न हो, तो उत्पादनको अनिवार्यतः संकुचित करना पड़ेगा और तदनुसार श्रमविभाजन क्रमशः कम लाभप्रद होनेके कारण संकुचित होता जायेगा। इस सम्बन्धमें यह कहदेना अनुचित न होगा कि जब उत्पादन मुख्यतया क्रय-विक्रयके लिए होताहै और मानवीय आवश्यकताओं और उपयोगिताओंसे उसका सम्बन्ध नष्ट होजाता है, उसी समय मंडियोंका प्रभुत्व मानवजीवन और समाजव्यवस्था पर सर्वोपरि होजाता है। और ऐसी ही अवस्थामें श्रमविभाजनका रूप और सीमारेखा बाज़ारके विस्तारसे निश्चित होते हैं।

१३

उत्पादन के साधन—पूंजी

अधिकतर विचारकोंने पूंजीको श्रमका एकरूप मानाहै और संचित श्रम, भूत श्रम इत्यादि नाम दिये हैं। कुछ लोगोंने इसे भूमि और श्रम दोनों का मिश्रित रूप माना है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने पूंजीको मुख्यतया श्रमिकों को काममें लगाये रखनेवाले कोषके रूपमें देखाहै, जिसमें उन्होंने मेशीनरी इत्यादिको भी सम्मिलित किया है।

उत्पादनका एक रूपतो वहहै जिसमें उत्पादन और उपभोगके बीचमें कमसेकम समयका अन्तर पड़ता है और इसकारण इस प्रणालीमें भूमि और श्रमके अतिरिक्त किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। स्पष्टहै कि इस प्रणालीमें भूमि और श्रमका सम्बन्ध एक दूसरेसे सीधा होगा। इस प्रणालीको हम अपरोक्ष प्रणाली कहेंगे। उदाहरणके लिए, मछुएको लीजिए जो हाथसे मछली पकड़ता है। उत्पादनकी यह प्रणाली होसकता है कठिनहो और मछलियां बहुत कम पकड़ी जासकें तथापि इसमें कमसेकम प्रतीक्षाकी आवश्यकता है और भूमि (नदी अथवा समुद्र) तथा श्रमके अतिरिक्त अन्य किसी साधनकी सहायता की आवश्यकता नहीं। थोड़ी देरके लिए कल्पना कीजिए कि कोई आदमी एक जालका आविष्कार करता है। अब यदि मछली पकड़नेकी प्रणाली बदलती है और हाथके बजाय जालकी सहायता से मछली पकड़नी है तो इसकेलिए यह आवश्यकहै कि या तो मछली पकड़नेवाला स्वयम् मछली पकड़नेका काम छोड़कर जाल बुननेका कामकरे और जाल तैयार होनेपर मछली पकड़ना आरम्भ करे अथवा मछली पकड़नेवाला किसी दूसरे आदमी से जाल बुनवाये और जाल तैयार होनेके समय तक उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध करे। दोनों अवस्थाओंमें यह आवश्यकहै कि जाल तैयार होनेतक प्रतीक्षा करनेकी क्षमता उत्पादक वर्गमें हो—अर्थात् कुछ अवकाश-काल उसे उपलब्ध हो। और आर्थिक दृष्टिसे अवकाश-काल का अर्थ हुआ वर्तमान आवश्यकताओं से अधिक उत्पत्ति। इस अवस्थामें श्रमविभाजन आवश्यक है। अवकाश-काल और श्रम-

विभाजनका सम्बन्ध इतना घनिष्टहै कि यह कहना कठिनहै कि इनमें कौन मुख्य है, कौन गौण पर अवकाश-कालके बिना श्रमविभाजन सम्भव नहीं दीखता।

इस उदाहरणमें जालको हम पूंजी कहेंगे और यदि जालके उत्पादन क्रमको ध्यानमें रखें तो कुछ बातें बहुत स्पष्ट समझमें आती हैं। पहिलीतो यह कि जाल स्वयं श्रम और भूमिसे निर्मित एक वस्तु है। इसप्रकार वह उत्पादनका प्राथमिक साधन नहीं होसकता। फिरभी वह मनुष्यकी कोई आवश्यकता प्रत्यक्षत: पूरी नहीं करता और इसकारण वह अन्य उत्पादित वस्तुओंसे भिन्न है। उसकी विशेषता यह है कि वह उत्पादन-कार्यमें सहायक है। दूसरी बात यहहै कि यह सहायता मुख्यत: इस रूपमें है कि वह श्रम और भूमि का सम्बन्ध बदल देताहै और उसे अपरोक्षसे परोक्ष बनादेता है। इसका फल यह होताहै कि उत्पादन-काल दीर्घ होजाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुंचते है कि पूंजीमूलक उत्पादन प्रणाली वहहै जिसमें उत्पादन-काल विस्तृत होता चला जाता है। यह तथ्य श्रम विभाजनके कारण अधिकतर छिपा रहता है।

उत्पादनकाल और उसकी दीर्घता

उत्पादन-कालऔर उसकी दीर्घताका अभिप्राय समझलेना आवश्यक है। ऊपर कह आयेहैं कि पूंजीके द्वारा उत्पादन और उपभोगका अन्तर बढ़जाता है। इसतरह उत्पादन-काल का अर्थ हम यों करसकते हैं: वह काल जो किसी वस्तुके निर्मित होनेके आरम्भसे अन्ततक लगता है। उत्पादन-काल की यह व्याख्या आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वैमवावर्कके आधारपर है और उन्हींके आधारपर हमने उपरिलिखित पूंजीकी विवेचना भी की है। परन्तु इस व्याख्याकी कठिनाई यहहै कि विभिन्न वस्तुओंके निर्माणकी आरम्भ और समाप्ति भिन्न भिन्न समयपर होगी। इसके अतिरिक्त वस्तुओंका आरम्भ और उनकी समाप्ति कब हुई यहभी कहना कठिन होगा। वैमवावर्क ने इन कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए औसत उत्पादन-काल मानाहै पर यह औसत भी बहुतकुछ इच्छाश्रित एवं काल्पनिक ही होगा। डा० हायेक ने इस प्रश्नको सुलझानेका प्रयत्न किया है: पहिले उन्होंने उत्पादन सामग्री और उत्पत्तिकी परिभाषा दी है।

'किसी भी अवधि-विशेष में जितने भी उत्पादनके स्थायी उपकरणों की सेवाएं उपलब्ध हैं, उनकी सेवाओंके समूहको शुद्ध उत्पादन-सामग्री कहेंगे। जब स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकारके उपकरणोंकी सेवा प्राप्त होतीहै तो उसे मिश्रित उत्पादन सामग्री कहेंगे।' उस अवधि विशेषमें उत्पादन सामग्रीके प्रयोगद्वारा उत्पत्ति प्राप्त करनेकी क्रियायों को ही अर्थशास्त्र की परिभाषामें हम उत्पादन कहते हैं। उत्पत्तिसे अभिप्राय है उत्पादन सामग्रीके प्रयोगद्वारा उपभोक्ता को उपलब्ध सेवाओं धारासे। प्रत्येक उत्पादन क्रिया और उत्पत्तिके बीच जो काल बीतताहै उसेही उत्पादन-अवधि कहेंगे। ये अवधियां भिन्न भिन्न प्रकारके उत्पादनके अनुसार भिन्न होंगी और इनमें एकरूपता अथवा समानताकी कल्पना व्यर्थ है। आदर्श रूपसे दो प्रकारकी परिस्थितियां होंसकती हैं: एक तो ये कि किसी एक समयमें उत्पादनके उपकरणोंका उपयोगहो और फिर बहुत कालतक सेवाएं मिलती रहें, जैसे कोई मनुष्य पेड़से एक डाली तोड़ले और फिर बहुत दिनतक उसका प्रयोग छड़ीके रूपमें करता रहे। दूसरी वे कि बहुत कालतक उत्पादन-उपकरणोंका उपयोग करते जायें और उनका फल एकसाथ ही एकक्षणमें उपलब्ध हो। पर जैसा हमने कहा ये आदर्श परिस्थितियां हैं और वास्तवमें इन्हीं दोनोंके बीचकी विभिन्न दशाएं मिलती हैं।

हमने ऊपर कहा कि पूंजी उत्पादन प्रणालीमें उत्पादन-अवधि बढ़ जाती है। अब प्रश्नहै कि इसप्रकार की प्रणाली क्यों अपनायी जाती है। आर्थिक दृष्टिसे इसका एकही उत्तर होसकता है और वह यहकि उत्पादन अवधिके बढ़नेके साथ साथ उत्पादनभी बढ़जाता है। ऊपरी तौरपर देखनेसे यह अयथार्थ सा लगसकता है कि आविष्कारों और नवीनताओंके द्वारा उत्पादन-काल घटनेके स्थानपर और बढ़ जाये। पर ध्यानपूर्वक देखनेसे इस मतकी यथार्थता स्पष्ट होजायेगी—जहांतक आविष्कार (जिनका पदार्थगत रूप पूंजी होती है) श्रम और भूमिका सम्बन्ध अपरोक्षसे परोक्ष करदेते हैं, वे अनिवार्यत: उत्पादन-अवधि बढ़ा देते हैं। यहां यह बात समझ लेनेकी है कि जब हम उत्पादन-अवधिके बढ़जाने की बात कहतेहैं तो हमारी दृष्टिमें तुलनाके लिए उत्पादनकी वह प्रणाली है जिसको हमने ऊपर अपरोक्ष कहा है। यह सदैव सम्भवहै कि दो पूंजीवादी प्रणालियों में से एक कम और दूसरी अधिक समय लेनेवाली हो।

उत्पादन अवधि और उत्पादनशीलता

उत्पादन अवधिके बढ़नेसे उत्पादनशीलता बढ़जानेके कुछ कारणहैं। अधिकतर ऐसा होताहै कि उत्पादनके कुछ उपकरण ऐसे होतेहैं, जिनका उपयोग प्रस्तुत काल में नहीं होरहा होता। यदि हम उनका उपयोग करें तो उत्पादनमें वृद्धि अवश्य होगी। पर उनके उपयोगके लिए कुछ अन्य उत्पादक साधनों और सेवाओंकी आवश्यकता होगी, जिन्हें हमें अन्य उत्पादन कार्योंसे हटाकर प्रस्तुत उत्पादन कार्य में लाना पड़ेगा। इसका फल यही होगा कि उत्पादन काल बढ़ जायेगा। विकसेल ने इसी बातको इस ढंगसे कहाहै कि पूंजीमूलक उत्पादनके साधनोंकी दो कोटियां होतीहैं, प्रस्तुत श्रम और भूमि तथा संचित भूमि और श्रम। संचित भूमि और श्रमकी कुछ सेवाएं सदैव अमूल्य होतीहैं और इसकारण प्रस्तुत भूमि और श्रमका उपयोग जब उत्पादनके लिए किया जाताहै तो संचित श्रम और भूमिका सहयोग भी प्राप्त होने पर उत्पादन अवश्य अधिक होता है।

इसके अतिरिक्त दीर्घकालीन उत्पादन-प्रक्रियामें बहुतसे उन पूरक उपकरणों की सेवाएं उपलब्ध होसकती हैं जो अल्पकालीन उत्पादन प्रकियामें इसलिए अप्राप्य होंगी कि उनकी आवश्यकता अन्य वस्तुओंके उत्पादनमें होती हैं।

परन्तु कालकी दीर्घता और उत्पादनशीलता के पारस्परिक सम्बन्धका वास्तविक रूप समझनेके लिए उत्पादन वृद्धि तथा उसमें आविष्कारोंका भाग समझना आवश्यक है। हमने ऊपर अपरोक्ष उत्पादन-प्रणालीका जो उदाहरण लियाथा, उसमें देखाथा कि मछलियोंके उत्पादनकी वृद्धिका वास्तविक कारण जालका आविष्कार था। उत्पादन अवधिका बढ़जाना इस आविष्कारके उपयोगका अनिवार्य परिमाण था। इस दृष्टिसे देखनेपर वृद्धिका वास्तविक कारण आविष्कार है और क्योंकि आविष्कारके उपयोगसे समय अवश्य अधिक लगेगा इसकारण दीर्घकालीन उत्पादन प्रक्रिया अवश्य अधिक उत्पादनशील होगी। परन्तु आविष्कार उसी समय अपनाये जासकते हैं जबवे उत्पादनके लिए लाभकारी हों। लाभकारी होनेका अभिप्राय यहहै कि वर्तमान भूमि और श्रमसे सापेक्ष रूपमें कम व्ययशील हों। इस प्रकार मैशीनरी वर्तमान श्रमकी बचत करती है। कल्पना कीजिए कि किसी उत्पादन उद्योग को आविष्कार द्वारा कोई नया उत्पादन का साधन उपलब्ध होगया है।

श्रमकी बचत अथवा प्रतिस्थापना दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो उद्योग अपना निर्माण बलबूते और प्रस्तुत श्रम और भूमि उतनीही रखे, दूसरे कुछ प्रस्तुत श्रम घटा दे। दूसरे शब्दोंमें या तो कम श्रमसे पहिलेही जितना उत्पादन करे अथवा उतने श्रममें पहिलेसे अधिक उत्पादन करे। इस विश्लेषणसे स्पष्ट है कि प्रत्येक दशामें पूंजी (मैशीनरीके रूपमें आविष्कार) केवल श्रमका प्रतिस्थापन करती है।

पूंजी की वैकल्पिक परिभाषा

हम देखचुके हैं कि पूंजीके प्रयोगका अर्थ उत्पादन-काल को बढ़ा देना है। इसकारण इस बीचमें जब वस्तुएं तैयार नहीं हुईहैं, श्रमिकोंके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध होना आवश्यक है। पूंजी मूलक उत्पादन प्रणालीमें इसीकारण प्रायः पूंजीको श्रमजीवियोंको अग्रिम पारिश्रमिक प्राप्त करानेवाला अथवा जीवन-निर्वाह कोष माना जाता है। इसी दृष्टिसे पूंजीकी एक दूसरी परिभाषाभी दीजाती है। पूंजी उत्पादक साधनों, सेवाओं और उपकरणों की वह कोटिहै जो अस्थायी और अनित्य हो। आर्थिक दृष्टिसे इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनके वर्तमान और भविष्य उपयोग में न्यूनाधिक लाभ होसकता हो और जिनके रक्षणके लिए श्रमकी आवश्यकता होती हो। पूंजीकी पहिली और इस परिभाषामें कोई मौलिक भेद नहींहै, यद्यपि पूंजीका उदभव अवकाश और आविष्कार द्वारा होताहै, फिरभी उत्पादनमें उसका रूप अनिवार्यतः कालवृद्धि का होताहै और इसप्रकार पूंजी कालाश्रित होजाती है। कालाश्रित होनेसे वह अवश्य अस्थायी होगी और अस्थायी वस्तुके होनेसे उसके संरक्षणकी भी आवश्यकता होगी।

विभिन्न प्रकार की पूंजी

१. स्थायी और प्रत्यावर्तनशील। स्थायी पूंजीकी परिभाषा इस प्रकार है : उत्पादन-प्रक्रियामें जिस पूंजीका एकही रूपमें अधिक कालतक व्यवहार हो सके, वह स्थायी पूंजी है। मैशीनरी, फैक्ट्रीकी इमारत, इत्यादि स्थायी पूंजीके उदाहरण हैं। यद्यपि इनकेभी कई उपयोग होसकते हैं और पर्याप्त समय मिलनेपर इनको एक

उपयोगसे दूसरे उपयोगमें लगाया जासकता है पर कालविशेष में इनको किसी दूसरे उपयोगमें प्रयुक्त करना सम्भव नहीं है और उत्पादनमें इनके द्वारा एकही प्रकारकी सेवा मिल सकती है। दूसरे एकबार इनका निर्माण होजाने पर इनकी सेवा-धारा बहुत कालतक अविरत चलती रहती है। प्रत्यावर्तनशील पूंजी उस पूंजीको कहते हैं, जो उत्पादन प्रक्रियामें अनेक रूपोंमें काम आसके और एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें सुविधापूर्वक लगायी जासके। इसके उदाहरण, कच्ची सामग्री, नकद पूंजी और मजूरी कोष है। इसी विभेद को मार्क्सने दूसरे प्रकारसे और दूसरे नामोंसे स्थापित किया है। स्थायी और प्रत्यावर्तनशील पूंजीको उन्होंने एकरस और परिवर्तन- शील पूंजी कहा है।

स्थायी और प्रत्यावर्तनशील पूंजीका उत्पादन कार्यमें पारस्परिक अनुपात तथा एकका दूसरेमें परिवर्तित होजाना बहुत प्राचीन कालसे अर्थशास्त्रियोंके विचार का विषय रहा है। यहतो स्पष्टही है कि स्थायी पूंजीकी वृद्धिका अर्थ प्रत्यावर्तन शील पूंजीकी हानिही होगा। इसीकारण रिकार्डोने मैशीनरी पर अपने विचार प्रकट करतेहुए कहाहै कि मैशीनरीकी वृद्धिका प्रभाव सदैव श्रमजीवियोंके लिए हानिकर होगा। इनके अतिरिक्त इन दोनोंके पारस्परिक अनुपातका व्यापार चक्रसे घनिष्ट सम्बन्धहै और कुछ विद्वानोंके मतमें प्रत्यावर्तनशील पूंजी जब तीव्रगतिसे स्थायी पूंजीमें परिवर्तित होनेलगे तो संकटका आरम्भ समझना चाहिए।

२. निजी, सामाजिक और राष्ट्रीय पूंजी। निजी पूंजीसे हमारा अभिप्राय उस पूंजीसे है जिसका स्वामित्व व्यक्तिगत हो। जैसे फ़ैक्ट्रीकी इमारत, मैशीनरी इत्यादि। सामाजिक पूंजी वह पूंजीहै जिसका स्वामित्व पूरे समाजको प्राप्तहो जैसे म्यूनिसिपल और प्रान्तीय सड़कों आदिका स्वामित्व। राष्ट्रीय पूंजीका प्रयोग किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण निजी तथा सामाजिक पूंजीको प्रकट करनेके लिए कियाजाता है।

३. भौतिक और वैयक्तिक पूंजी। भौतिक पूंजी वह पूंजी है जिसका पार्थिव रूप होना आवश्यक है और जिसे हस्तान्तरित किया जासकता है। वैयक्तिक पूंजी से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति विशषकी योग्यता अथवा कुशलता से है। इसको हस्तान्तरित करना सम्भव नहीं। पहिली प्रकारकी पूंजीमें शल्यचिकित्सकके उप-करणोंका और दूसरी प्रकारकी पूंजीमें उसकी व्यक्तिगत योग्यताका उदाहरण दिया जासकता है।

४. उत्पादन तथा उपभोग-पूंजी। पहिली प्रकारकी पूंजीमें कच्ची सामग्री, मैशीनरी, उपकरण इत्यादि वस्तुओंको सम्मिलित किया जासकता है, जिनका कि उत्पादन-क्रियामें उपयोग होताहै और दूसरी प्रकार की पूंजीमें खाद्य पदार्थों, कपड़ों और मकानोंका जो प्रत्यक्ष रूपमें मनुष्य की आवश्यकताओं की तुष्टि करते हैं।

५. पारिश्रमिक पूंजी तथा सहायक पूंजी। पहिली प्रकार की पूंजीका प्रयोग श्रमजीवियों को पारिश्रमिक देनेके लिए कियाजाता है और दूसरी प्रकारकी पूंजी उत्पादन कार्यमें उनकी सहायता करती है। मैशीनरी, कच्ची सामग्री, उपकरण इत्यादि इसके मुख्य उदाहरण है।

पूंजी और बचत

पूंजीका निर्माण उससमय होताहै जब उत्पादन उपभोगसे अधिक हो। दूसरे शब्दों में पूंजीका निर्माण और संग्रह बचत द्वारा होता है। बचतका अर्थ अर्थशास्त्रमें आयको वर्तमान व्ययसे हटाकर भविष्य व्ययमें लगाना है। बचत एकओर तो किसी व्यक्ति अथवा समाजकी बचत करनेकी शक्तिपर निर्भर हरती है और दूसरी ओर बचत करनेकी इच्छा पर। बचत करनेकी शक्ति उत्पादनमें वृद्धि अथवा उपयोगमें ह्रास होनेसे बढ़ती है। इसका आधार किसी देश विशेषमे मिलने वाली प्राकृतिक सामग्री तथा अन्य उत्पादन-साधन हैं। बचत करनेकी इच्छा पूंजी के निर्माण द्वारा लाभ प्राप्त करनेकी आशा तथा भविष्यके लिए प्रबन्ध करनेकी चिन्तापर निर्भर है। सन्तानके लिए कुछ सम्पत्ति छोड़ जानकी लालसा भी इस इच्छाको पुष्ट करती है। आधुनिक विश्लेषणके अनुसार बचतका परिमाण समाजकी आयपर निर्भर रहता है और आयका परिमाण इस बातपर कि वस्तुत: कितने मनुष्य उद्योग धंधोंमें उचित पारिश्रमिकपर लगेहुए हैं और कितने बेकार अथवा अनुचित पारिश्रमिक पर काम कररहे हैं।

पूंजी का संरक्षण

पूंजीके संरक्षणसे हमारा तात्पर्य मुख्यतया उसके द्वारा पुनरुत्पादनके प्रबन्धसे है।

पूंजीके पुन: स्थापन और संरक्षण का प्रबन्ध तीनप्रकार से होसकता है। प्रत्यक उपयोगमें एक कोष इस बातके लिए रखा जाताहै कि उसके द्वारा आवश्यकता पड़नेपर मैशीनरी तथा अन्य स्थायी पूंजीकी मरम्मत होसके। दूसरे समाजकी आय तथा प्रस्तुत परिश्रम और भूमिका उपयोग दो मुख्य भागोंमें बटा रहता है। एकतो उपभोग्य वस्तुएं बनानेमें और दूसरे उत्पादक वस्तुएं अथवा स्थायी पूंजी उत्पन्न करनेमें। उदाहरणके लिए समाजको मछलियां प्राप्त होती रहें, इसकेलिए यही आवश्यक नहीं कि कुछलोग मछलियां पकड़ते रहें परन्तु यहभी आवश्यक है कि कुछलोग जालभी बनाते रहें ताकि जब प्रस्तुत जाल व्यर्थ होजायें तो नये जाल बनकर उनका स्थान लेसकें। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक आयका विभाजन प्रस्तुत और भविष्य उपभोगके बीच किसी उचित अनुपातमें होना चाहिए। जो आय भविष्य उपभोगके लिए उपयुक्त होतीहै, उसेही हम बचत कहते हैं।

सामाजिक अवकाशको भी बचतका आधार माना जासकता है। इसीके द्वारा आविष्कार सम्भव है। आविष्कारों द्वारा न केवल पूंजीका संरक्षण ही होता है वरन् उसकी उन्नति भी होती है। अवकाशके अभावमें बचतभी सम्भव न होगी।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मिलने पूंजीके सम्बन्धमें निम्नलिखित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये हैं :

१. उद्योग सदैव पूंजीके द्वारा सीमित होता है। इसका अभिप्राय यहहै कि समाज को कालविशेषमें जितनी पूंजी उपलब्ध होगी, उद्योगका विस्तारभी वहीं तक होसकेगा।

२. पूंजी बचतका परिणाम है। बचत और पूंजीके सम्बन्धमें ऊपर विवेचन किया जाचुका है।

३. जो कुछभी उत्पादन द्वारा प्रस्तुत होताहै उस सभीका उपभोग होता है। इसप्रकार बचत और पूंजीभी व्यय और उपभोगका रूप है।

४. वस्तुओंके लिए मांग श्रमके लिए मांग नहीं है अर्थात् यदि किसी समयमें समाजको अधिक वस्तुओं की आवश्यकता हो तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे अधिक श्रमजीवियों की भी आवश्यकता होगी। इसप्रकार मिलके अनुसार अधिक मांग और अधिक व्ययका परिणाम अनिवार्यत: यह नहीं होसकता कि समाजमें बेकारी की कमी हो।

१४

व्यवस्था

व्यवस्था की आवश्यकता

यद्यपि उत्पादनके चौथे साधन व्यवस्थाका, विकसेल आदि अनेक अर्थशास्त्रियोंने मार्शलसे मतभेद प्रकट करतेहुए, स्वतन्त्र रूप माननेसे इन्कार कियाहै परन्तु फिर भी वर्तमान समयकी उत्पादन-प्रणालीमें श्रम और पूंजीको उत्पादन-क्रियाओंमें संयोजित करनेका कार्यभी महत्वपूर्ण होगया है। उत्पादनका क्षेत्र और परिमाण जितनाही विस्तृत होता जायेगा, श्रमकी उचित देखभाल, श्रमजीवियोंके पारस्परिक सम्बन्धका उचित प्रबन्ध, उनके कार्यकी जांच इत्यादि कार्य आवश्यक होते जायेंगे। व्यवस्थासे तात्पर्य उन प्रबन्धोंसे है जो उत्पादनार्थ भूमि, श्रम और पूंजी के लाभकारी उपयोगके लिए आवश्यक है और पूंजीमूलक उत्पादन प्रणालीमें व्यवस्थाको बहुत अधिक महत्व प्राप्त होजाता है। वास्तवमें उत्पादनमें भूमि, श्रम और पूंजीको किसप्रकार सम्बन्धित किया जाये और किस प्रणालीसे एक दूसरेको सर्वोत्तम सहयोगी बनाया जाये, यही व्यवस्थाका अभिप्राय है। मार्शल व्यवस्थाके अन्तर्गत उद्योग-साहसको भी रखता है और उसका अनुसरण करतेहुए कुछलोग व्यवस्थासे उद्योगपतियोंकी कार्यकुशलता, दृढ़ता, दूरदर्शिता तथा अन्य आवश्यक गुणोंका अर्थ लेते हैं। उद्योग-साहससे तात्पर्य उद्योगपतिकी उस विशेषतासे है जिस के फलस्वरूप वह उद्योगकी हानि लाभ तथा अनिश्चितताका सामना करनेको उद्यत होता है। इसप्रकार नवीन आविष्कारों तथा अन्य प्रकारकी नवीनताओंका उत्पादन में उचित प्रयोग इसी साहस द्वारा सम्भव होता है। संक्षेपमें व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिके मुख्य कार्य ये हैं:

(१) उद्योगके आकार तथा परिमाणका निश्चय करना।

(२) श्रम और पूंजीके सम्बन्धोंको बनाये रखना।

(३) क्रय-विक्रय, पूंजी तथा उत्पादन-परिमाणके सम्बन्धमें निश्चय करना।

(४) उत्पादन-साधन किस मात्रा और किस अनुपातमें प्रयुक्त होंगे, इसका निर्णय करना वास्तवमें व्यवस्थापकके सब कार्योंका सार यहहै कि उसे निर्णय करना पड़ता है कि क्या, कितना और किस भांति उत्पादन करना है और किसप्रकार उसे बेचना है।

बड़े परिमाण में उत्पत्ति

हम लिखचुके हे कि व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिका मुख्य कार्य उद्योगके आकार तथा परिमाण का निर्णय करना होता है। उत्पादनका परिमाण विस्तृत करदेने से उत्पादन-कौशलमें बहुत वृद्धि होसकती है और साधारणतया बड़े बड़े उद्योगोंको छोटोंसे कहीं अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसीकारण पूंजीमूलक उत्पादन-प्रणाली की प्रवृत्ति बड़े बड़े उद्योगोंको स्थापित करनेकी ओर रहती है। बड़े परिमाण में उत्पत्ति करनेसे दोप्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। मार्शल एकको आन्तरिक और दूसरेको वाह्य लाभ कहता है। आन्तरिक लाभ वे है जिनको केवल बड़े परिमाणमें उत्पत्ति करनेवाले उद्योगविशेष ही उठासकते है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसेभी लाभहै जो पूर्ण उत्पादन प्रणालीको प्राप्त होते है। वाह्य लाभ उद्योगधन्धों के स्थानविशेष में एकत्र होजाने से प्राप्त होनेवाली सुविधाएं हैं। उद्योगधन्धों के एक स्थानपर एकत्र होनेसे पहिला लाभ तो यहहै कि उस स्थानकी उद्योग-कुशलता वंश-गत होजाती है। बहुतसी बातें बच्चे बिना सिखाये सीखजाते हैं। हर एकको उस स्थानकी विशेष कला सीखनेके लिए सुविधाएं प्राप्त रहती हैं क्योंकि वहांपर उस कलाके विशेषज्ञ रहते हैं। इस स्थानीकरणसे दूसरा लाभ यहहै कि उस स्थानपर बहुत से सहायक उद्योगोंके विकासका भी अवसर रहता है। प्रायः देखनेमें आयाहै कि जहां एक मुख्य उद्योग स्थापित हुआ वहां अथवा उसके आस पास उससे सम्बन्धित अनेक सहायक उद्योग विकसित होजाते हैं। तीसरा लाभ यहहै कि विशेषज्ञ श्रम-जीवियोंको नौकरी मिलनेके अनेक अवसर प्राप्त होते रहते हैं। इसकारण उन्हें जीविकाके सम्बन्धमें चिन्ता नहीं रहती। एक उद्योगपतिके साथ न बननेपर बिना किसी विशेष झंझटके दूसरे उद्योगमें स्थान मिलजाता है। इन लाभोंके अतिरिक्त

उद्योगोंके एकत्र होनेसे नये नये आविष्कारोंकी सम्भावना रहती है। कुछतो इस लिए कि उस स्थानपर बहुतसे विशेषज्ञ रहते हैं, उनका सहयोग और स्पर्द्धा दोनों ही आविष्कारोंके लिए सहायक होतेहैं और कुछ इसलिए कि उद्योगके एकत्र होने से मूल्यवान् और बहुतही विशिष्ट प्रकारके यन्त्रोंका प्रयोग सम्भव होता है।

बड़े परिमाणमें उद्योग होनेसे दो प्रधान आन्तरिक लाभ प्राप्त होते हैं। पहिला कच्चे माल तथा अन्य उपकरणोंकी बचत और दूसरा निपुणताका अधिक उपयोग। यद्यपि आरम्भमें अधिक परिमाणमें उत्पत्ति-करनेसे अधिक माल, श्रमजीवियों और व्ययकी आवश्यकता होतीहै पर हर दृष्टिसे इन सबकी बचत होती है। अर्थात् इन का उपयोग कम मूल्यमें होना सम्भव होताहै। बहुतसा माल इकट्ठा मंगवानेसे बड़े उद्योगपतिको भाव करनेमें कुछ अधिक लाभप्रद स्थिति प्राप्त होजाती है। वह दूर से और अच्छेसे अच्छा माल मंगवा सकता है। अधिक माल खरीदनेपर मूल्य कम देना पड़ता है। दूसरी बात यहहै कि वह विशिष्ट और मूल्यवान् यन्त्रोंका प्रयोग कर सकता है। छोटे उद्योगोंको स्थायी पूजी विस्तृत करनेका अवसर कठिनतासे मिलताहै क्योंकि स्थायी पूंजी सदैव श्रमकी बचत करतीहै और इसकारण उत्पादक को स्थायी पूजी बढ़ानेके लिए अपना उत्पादन बढ़ाना पड़ता है। फिर कुछ ऐसे यन्त्रहै जिनका प्रयोग किसी कार्यके एक छोटे भागके लिए होता है। ऐसे यन्त्रोंका लाभ केवल बड़े बड़े उद्योग और कारखानेही उठासकते हैं। कारण यहहै कि श्रम-विभाजन और श्रमविशिष्टतो और निपुणताका पूरा लाभ बड़े बड़े उद्योगोंमें ही मिल सकता है। यह बात हम श्रमविभाजनकी चर्चा करतेहुए समझा चुके हैं। विशेषज्ञों का ज्ञान और सेवाओंका लाभ उठानेके लिए उद्योगपतिको उन्हें अधिक वेतन देना पड़ता है। अधिक वेतन बड़े बड़े कारखानेही सुविधा और लाभपूर्वक देसकते हैं। इसकारण छोटे उद्योगधन्धे इन सेवाओंसे वंचितही रहजाते हैं। आधुनिक उत्पादन पद्धतिका एक बड़ा आधार आविष्कार और नवीनताएं हैं। उत्पादन-प्रणालीमें नवीनताओंका समावेश करनेकी क्षमताके अभावमें वर्तमान आर्थिक व्यवस्था जीवनहीन होने लगती है। बड़े परिमाणमें उद्योग होताहै तो उसमें वैज्ञानिक अनु-सन्धान आदि करानेका अवसर मिलता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान व्यय-साध्य काम है और जबतक छोटे उत्पादनका क्षेत्र बड़ा न हो, इसका कोई सुचारुरूप असम्भव है। यही नहीं, नये आविष्कारोंका, नयी उत्पादन रीतियों और अच्छे यन्त्रोंका उप-

योगभी छोटे छोटे उद्योगधन्धे नहीं करसकते। अधिक परिमाणमें उत्पादनकी कुछ अनिवार्य हानियांभी हैं। बड़े उद्योगोंका उत्पादन आवश्यकतासे बहुत अधिक होगा। इसकारण मन्दीके समय जब बिक्री बहुत कम होजाती है, ऐसे उद्योगोंको बहुत हानियां सहनी पड़ती हैं। बहुत अधिक स्थायी पूंजी लगे रहनेका अर्थ यहहै कि बहुत ऐसे व्यय जो स्थायीहैं बिना उद्योग बन्द किये घटाये नहीं जासकते। उत्पादन-परिमाण कम हो या अधिक, ऊंचा वेतन पानेवाले पदाधिकारियोंको अलग नहीं किया जासकता, यद्यपि उससमय उनकी सेवाओंकी आवश्यकता न हो। इसके अतिरिक्त जहां बड़े बड़े उद्योग नये आविष्कारोंसे लाभ उठासकते हैं वहां उन्हें हानिभी होसकती है, क्योंकि आविष्कार शीघ्रतापूर्वक भी होसकते हैं और इस दशामें उन को अपनानेमें पुरानी स्थायी पूंजीकी क्षति होगी। पर यह हानि सामाजिक दृष्टिसे अधिकहै, भिन्न भिन्न उद्योगोंकी दृष्टिसे कम; क्योंकि नये आविष्कारोंका वे पेटेन्ट राइट ख़रीद सकतेहैं और इसप्रकार वे उनका उपयोग स्थगित रखसकते हैं। फिर भी यह निर्विवादहै कि उद्योग अपनेही नियमोंसे बद्ध होतेहैं और उनमें परिवर्तन-शीलता तथा गत्यात्मकताका अपेक्षाकृत अभाव होता है। यहभी न भूलना चाहिए कि जहां बड़े उद्योग प्रत्येक विभागका सुचारु वैज्ञानिक प्रबन्ध करसकते हैं, ऊंचे वेतन देकर शिक्षा और अनुभव प्राप्त कुशल प्रबन्धक रखसकते हैं, वहां उत्पादन क्षेत्रके विस्तारके साथ प्रबन्ध और शासन-व्यय बढ़ता चलाजाता है। तब फिर यहभी आवश्यक होजाता है कि छोटे पदाधिकारियों पर निर्णय और अन्य महत्व-पूर्ण उत्तरदायित्वके कार्य छोड़ेजायें। इसप्रकार उद्योगको बड़ी हानि होजाने की सम्भावना रहती है।

व्यवस्था के रूप

बड़े परिमाणमें जब उत्पत्ति होतीहै तो उसका स्वामित्व और प्रबन्ध एक व्यक्तिके वशकी बात नहीं रहती। एक तो उत्पादन व्यवस्थाकी एकस्वामित्व रीतिमें पूंजीकी सदैव कठिनता रहती है क्योंकि इसप्रकारके उद्योगों को बैंक ऋण कठिनतासे देते हैं। दूसरे स्वामीका आर्थिक दायित्व असीमित होता है। इन कारणोंसे बड़े बड़े उद्योगों की व्यवस्था साझेदारी, सम्मिलित पूंजी-कम्पनी और कारपोरेशनके रूपमें

अधिकतर होती है। सहकारी समितियां भी व्यवस्थाका एक रूप होसकती हैं। पर बहुत बड़े उद्योगोंमें यह रूप सफलतापूर्वक कम अपनाया गया है।

साझेदारीमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति उद्योगके साथ साथ स्वामी होते हैं। उन दोनोंके बीच समनुबन्ध होजाता है, जिसके आधारपर यह निश्चित होताहै कि प्रत्येक साझीदार कितना रुपया अथवा पूंजी व्यापारमें लगायेगा, उसके और क्या क्या उत्तरदायित्व तथा अधिकार होंगे तथा लाभमें उसका कितना भाग रहेगा। साझीदारोंके बीच पूंजी, नकदी और सेवा तीनोंका विभाजन होसकता है। और ऐसाभी होसकताहै कि कुछ साझीदार केवल पूंजी लगायें और कुछ केवल सेवाएं। साझेके समनुबन्धमें अधिकतर साझीदारोंके दायित्वका मान निश्चित करदिया जाताहै और उद्योगके लाभ और उसकी स्थायी पूंजीमें उनका भाग उनकी पूंजीके अनुपातमें बांध दिया जाता है। साथही अधिकतर समनुबन्धोंमें यह स्पष्ट तथा निश्चित करदिया जाता है कि उद्योगमें हानि होनेपर किस साझीदारको हानिका कितना भाग भरना पड़ेगा। अधिकतर राजनियमों द्वारा सरकार समनुबन्धों का पालन कराती है। पर यदि कोई साझीदार अपना भाग न चुका सके तो राजनियम द्वारा हर साझीदार अपनी सारी व्यक्तिगत सम्पत्तिके मूल्यके बराबर हानि पूरी करनेके लिए उत्तरदायी ठहराये जायेंगे।

साझेदारीमें प्रत्येक साझीदार उद्योग सम्बन्धित कार्यके लिए उत्तरदायी होता है। यदि एक साझीदार कोई वस्तु किसी मूल्यपर खरीद लेताहै तो मूल्य देनेके लिए सभी साझीदार उत्तरदायी होंगे, चाहे यह खरीद उन्हें पसन्द हो अथवा नहीं। यह दूसरी बातहै कि उद्योगके नामपर कोई व्यापारिक बातचीत करनेसे पहिले सभी साझीदार एक दूसरेसे राय लेलें। पर यदि वे ऐसा न करसके अथवा यदि उनमें परस्पर मतभेदहो तो इसके कारण दूसरों तथा जनताके प्रति उनके उत्तरदायित्व में कोई भेद नहीं पड़ता। साझेदारी का एक औरभी रूप होता है। इससे ऐसा होताहै कि कुछ साझीदार सीमित उत्तरदायित्वके साथ उद्योगमें भागीदार होसकते हैं। घाटा होने पर ऐसे साझीदारों को उनके भागके अनुपातमें ही हानि भरनी पड़ती है। ऐसी अवस्थामें प्राय: तीन शर्तें लगाई जाती हैं। (१) उद्योगमें उसका भाग नकदके ही रूपमें हो, सेवाओंके रूपमें नहीं (२) उद्योगके नाममें उसका नाम न आवे और (३) वह उद्योगके नामपर किसी प्रकारका लेनदेन न करे।

साझेदारीसे कई लाभ हैं। इस व्यवस्था द्वारा अधिक पूंजी उपलब्ध होसकती है। सभी साझीदार कुछ न कुछ पूंजी लगाते हैं और इसके अतिरिक्त बैंकोंसे भी सुगमतासे ऋण मिलजाता है। दूसरी बात यहहै कि इसप्रकार उद्योग को विभिन्न प्रकारकी योग्यताओंका लाभ मिलता है। इसके साथ इसप्रकार की व्यवस्थामें व्यक्तिगत व्यापारका बहुत कुछ स्वरूप बना रहता है।

साझेदारी प्रथाकी कुछ हानियां भी हैं। इसमें पूंजी प्राप्त करनेकी क्षमता अपेक्षाकृत कम रहती है। साधारणतया यह होताहै कि उद्योग बढ़नेपर और फलतः पूंजीकी अधिक आवश्यकता होनेपर साझीदारोंकी संख्या बढ़ानी पड़ती है। इस दशामें प्रबन्धमें भी कठिनाई होतीहै और अधिक संख्या होनेके कारण आपसमें मत-भेद भी बहुधा हुआ करता है। मतभेदोंका यदि निपटारा न होसका तो साझेदारी ही समाप्त करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त किसीभी साझीदारको यह अधिकार नहीं होता कि उद्योगमें वह अपना भाग बिना साझीदारोंकी सहमतिके अन्य किसी को बेच दे। इसकारण अलग होनेके लिए या तो वह अन्य साझीदारोंके भागोंको खरीदले या स्वयं अपने भागोंको उनके हाथ उनके इच्छित मूल्यपर बेचदे अथवा साझेदारी ही समाप्त कर दीजाये। इसके अतिरिक्त साझीदारोंकी एक दूसरेके कार्यके लिए सहमति तथा उनका असीमित ऋणदायित्व भी इस व्यवस्थाको दोष पूर्ण बनाते हैं।

सम्मिलित पूंजी कम्पनीसाझेदारी और कारपोरेशनके मध्यकी अवस्था है। इसमें दोनों प्रकारकी व्यवस्थाओंकी विशेषताएं मिलती हैं। सम्मिलित कम्पनीके स्वामीके ऊपर ऋण तथा अन्य दायित्व उतनेही होतेहैं, जितने साझीदारीमें। भेद इतनाहै कि साझेदारीमें स्वामित्वका अधिकार एक समनुबन्धके आधार पर होता है और सम्मिलित पूंजी कम्पनीमें स्वामित्व पूंजी बाज़ारमें खरीदे जासकनेवाले हिस्सों द्वारा प्राप्त कियाजाता है। जिन लोगोंके पास हिस्सा है, उनके द्वारा निर्वाचित संचालकोंकी समितिके हाथमें प्रबन्ध और शासनका कार्य होता है। इस प्रकारकी व्यवस्थाको सीमित ऋण-दायित्वको छोड़कर और वे सारे लाभ होतेहैं जो कारपोरेशन द्वारा प्राप्त होसकते हैं।

कारपोरेशन राजनियम द्वारा कुछ विशेष उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए निर्माणित संस्था होती है। आरम्भिक कारपोरेशन व्यापारी नहीं थे। वे धार्मिक दानपुण्यके

अथवा शिक्षा सम्बन्धी थे। वे राजाज्ञा अथवा सरकारी दानपत्र द्वारा स्थापित केयेजाते थे और राजेच्छासे उन्हें कुछ विशेषाधिकार और संरक्षा मिलती थी। मध्ययुगके शिल्प-संघ सबसे प्रथम कारपोरेशनोंमें से हैं जिनकी गणना व्यापारिक कारपोरेशनोंमें की जासकती है। इसप्रकार की व्यवस्थामें यह होताहै कि कुछ मनुष्य राज्यको एक प्रार्थना पत्र भेजते हैं जिसमें एक राजाज्ञाकी प्रार्थना कीजाती है, जिसके द्वारा उन्हें कारपोरेशनके रूपमें व्यापार करनेकी आज्ञा दीजाये। अगर प्रार्थना स्वीकृत होजाती है तो व्यापार चालू करदिया जाता है। कारपोरेशन की विशेषता यहहै कि यद्यपि यह कई व्यक्तियोंसे मिलकर बनता है और अनेक प्रकारके बांड, स्टाक, शेयर तथा अन्य प्रकारके ऋण-साधनोंके द्वारा पूंजी इकट्ठा करता है, फिरभी उसका दायित्व सीमित रहता है। शासनकी दृष्टिमें वह एक व्यक्ति माना जाता है।

कारपोरेशन पूंजीकी दृष्टिसे व्यवस्थाका अत्यन्त उत्तम रूप है। पर इस रूपमें धोका करनेके अवसर बहुत रहते हैं। कारपोरेशनके अधिकतर दोष डाइरेक्टर या अन्य कर्मचारियोंकी कपट-नीतिके कारण होते हैं। बहुत बड़ी होजानेपर कारपोरेशन के चलानेका व्यय आवश्यकतासे अधिक बढ़जाता है। और फिर बड़े बड़े कारपोरेशनोंसे वे हानियां तो हैं ही जिनकी चर्चा हम बड़े परिमाणमें उत्पादन के सम्बन्धमें करआये हैं।

उत्पादन-व्यय

उत्तम व्यवस्था का उद्देश्य न्यूनतम उत्पादन-व्ययसे अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करना होता है। उत्पादन-व्ययकी प्राचीन तथा आधुनिक परिभाषाओंका विवेचन हम इस पुस्तकमें भिन्न भिन्न स्थानोंपर करचुके हैं। विषय महत्वपूर्ण है इसकारण पुनरुक्ति का दोष होनेपर भी उत्पादन-व्ययका एकत्रित विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। जो कुछभी उत्पादनमें काममें आये उसे हम लागत कहते हैं और उसके फलस्वरूप जिन वस्तुओंका उत्पादन हो उन्हें हम उत्पत्ति कहेंगे। जो मूल्य हमें लागतके लिए देना पड़े वह उत्पादन-व्यय है। व्यय की आवश्यकता इसकारण होतीहै कि सारी वस्तुएं, सारे उत्पादनके साधन मनुष्यको प्रकृति द्वारा अनायास

ही नहीं मिल जाते। इसप्रकार उत्पादन-व्यय अन्ततोगत्वा इस बातसे निश्चित होताहै कि इच्छित वस्तुके निर्माणमें जो श्रम करना पड़ा है, उसका क्या मूल्य है। उत्पादन केवल रूप-परिवर्तन मात्र करता है। श्रम और अन्य सामग्रीके एकरूप की जो उपयोगिता हम समझते हैं यदि उसके किसी दूसरे रूपकी उपयोगिता हमारी समझमें अधिक है तो पहिले रूपको हम दूसरे रूपमें परिवर्तित करनेका प्रयत्न करेंगे। इस प्रयत्न का अर्थ यह होगा कि हम पहिले रूपका नाश करदें और इसका कारण स्पष्ट है कि एक उपयोगिताका बलिदान करकेही हम दूसरी उपयोगिता प्राप्त करसकते हैं। जबतक कुछ वस्तुएं अपने प्राप्त रूपमें बिल्कुल ही उपयोगिता हीन न हों, उत्पादन सदैव व्यय-साध्य होगा। बलिदानकी हुई उपयोगिताको मापनेकी कई रीतियां होसकती हैं। इन्हीं रीतियोंको लेकर अर्थशास्त्रियोंमें कुछ मतभेद है, व्ययके स्वरूपके सम्बन्धमें कोई मौलिक मतभेद नहीं है। एक रीतिके अनुसार उत्पादन-व्ययके मापनेके लिए पहिले हमें देखना चाहिए कि उनके निर्माणके लिए उत्तरदायी व्यक्ति अथवा वर्गको किन किन वस्तुओंको खरीदना पड़ताहै और किन किन मूल्यों पर। इन सब मूल्योंका जोड़ही उत्पादन-व्यय होगा। इस रीतिमें दो प्रकारकी कठिनाइयां हैं, एकतो यहकि इस बातका निर्णय कठिनहै कि कौनसी वस्तुएं उत्पादक गिनी जायें। कुछ लोगोंने भूमि, श्रम और पूंजी, कुछने व्यवस्था और उद्योग-साहसभी और अन्यने केवल श्रमको उत्पादक मानाहै और इन्हींके मूल्यको वास्तविक उत्पादन-व्यय माना है। कुछलोग इस सूचीमें यातायात, बीमा, घिसावट आदिके व्ययको भी सम्मिलित करते हैं। दूसरी कठिनाई यहहै कि कुछ उत्पादक सेवाएं भी हैं और उनका मूल्य निश्चित नहीं हो पाता। इसप्रकार लाभ इत्यादि भी व्ययमें सम्मिलित करना पड़ता है और यह कुछ तर्कके विरुद्ध है।

मार्शलने वास्तविक और मौद्रिक व्ययका भेद किया है। उनकी परिभाषाके अनुसार सभी प्रकारके श्रम जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे किसी वस्तुके निर्माणमें आवश्यकहैं तथा आवश्यक पूंजीके लिए कीगयी प्रतीक्षा—ये दोनों साथ साथ उस वस्तुके निर्माणका यथार्थ व्यय होंगे। हरप्रकार का श्रम और पूंजी उपलब्ध करने के लिए जितने द्रव्यकी आवश्यकताहै उसको उत्पादन व्ययका मौद्रिक माप कहेंगे। अब कठिनाई यहहै कि विभिन्न कारखानोंके उत्पादन व्ययमें अन्तर पड़सकता है।

ऐसी अवस्थामें किसका व्यय मूल्यका निर्धारक माना जाये। मार्शलने इस कठिनाईका समाधान प्रतिनिधि उद्योग संस्थाकी कल्पना द्वारा किया है। प्रतिनिधि उद्योग संस्था वहहै जिसकी व्यवस्था न बहुत अच्छी और न बहुत बुरी हो। इस प्रतिनिधि संस्थाका जो व्ययहो उसीको उत्पादन-व्यय माना जासकता है। परन्तु वास्तविक व्ययकी कल्पनाही व्यर्थ है। किसी वस्तुके निर्माणमें कितना कष्ट उठाना पड़ा इसका कोई सर्वमान्य मापदण्ड नहीं होसकता। मापनेकी दूसरी रीति यहहै कि उत्पादनके लिए उठायेगये कष्टोंको न मापकर उन वस्तुओंको मापनेकी चेष्टा कीजाये जो उसी उत्पादन साधनसे बनसकती थी, पर बनायी नहीं गयी। इस मतका आधार यहहै कि एकही उत्पादन-साधनसे कई वस्तुएं बनसकती थीं। इसप्रकार किसी सेवा अथवा साधनको उत्पादनके लिए उपयोगमें लाकर बहुतसी वस्तुओंका बलिदान करना पड़ता है। जब हम एक सेवाको किसी उपयोगमें लातेहैं तो उसका अर्थ यही हुआ कि अन्य उपयोगोंमें लानेका अवसर जाता रहा। इसप्रकार कोई वस्तु बनाकर जिन वस्तुओंके निर्माणका त्याग कियागया, इन्हीं अन्य वस्तुओंका मूल्य उस वस्तुका उत्पादन-व्यय हुआ। उत्पादन-व्ययके मापनेका यह सिद्धान्त अवसर अथवा वैकल्पिक व्यय कहलाता है। यद्यपि वैकल्पिक व्ययका सिद्धान्त आज प्रायः सभी लोग मानतेहैं परन्तु यह निश्चित करना कठिनसा है कि एक उत्पादन के साधन या उत्पादनके साधनोंके सहयोगसे दूसरी कितनी वस्तुएं बनसकती हैं। फिर इन विभिन्न वस्तुओंके मूल्यको द्रव्यमें परिवर्तित करनेपर मौद्रिक व्ययही वास्तविक वस्तु रहजायेगी, वैकल्पिक वस्तुएं और अवसर केवल निरर्थक कल्पना मात्र होंगे। इसप्रकार मार्शलके वास्तविक व्यय और आधुनिक वैकल्पिक व्ययमें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

उत्पादन-व्ययके सम्बन्धमें सामाजिक व्ययका विवेचन करदेना भी आवश्यक है। बहुतसे ऐसे व्यय हैं जो किसी विशेष उत्पादन संस्थाको नहीं करने पड़ते। वरन् इनका भार सम्पूर्ण समाजको सहना पड़ता है। उदाहरणके लिए यदि कोई संस्था कुछ श्रमजीवियोंको हटादे तो उनके जीवन-निर्वाहका व्यय किसी उद्योग संस्थाको भले ही न देनापड़े, पर समाजको अवश्य देनापड़ता है। इसीप्रकार उद्योगोंमें दुर्घटना बढ़जाने से, गन्दगी और धुएंसे, नकली चीजोंके बनानेसे और अत्यधिक विज्ञापन बाजीसे जो हानियां होतीहैं, होसकताहै कि वे किसी उद्योग विशेषको न सहनीपड़ें

पर समाज इनसे नहीं बचसकता। यह सामाजिक व्यय है।

व्ययका विश्लेषण करतेहुए अर्थशास्त्रियोंने कई प्रकारके व्यय माने हैं। प्रत्येक वस्तुके बनानेमें जितना व्यय हुआ, उसकी जितनी वस्तुएं बनीहैं उनसे गुणा करेंतो गुणनफल कुल व्यय होगा। दूसरी रीतिसे यही बात इसप्रकार कही जासकती है कि प्रत्येक उत्पादनके साधन और सेवाका उपयोग करनेमें जितना व्यय हुआ है, उसे यदि प्रयुक्त साधनों और सेवाओंकी कुल संख्यासे गुणा करदें तो गुणनफल कुल व्यय होगा। कुल व्यय उत्पत्तिके अनुसार घटता बढ़ता रहेगा परन्तु उत्पत्तिके शून्य होनेपर भी कुल व्यय शून्य न होगा।

उत्पत्तिकी संख्यासे यदि कुल व्ययको भाग दियाजाये तो भागफल औसत व्यय होगा। औसत-व्ययभी उत्पत्तिके अनुसार घटता बढ़ता रहता है।

कुल उत्पत्तिमें यदि वृद्धि करें तो उस वृद्धिके अनुसार कुल व्ययमें वृद्धि होती है। व्यय-वृद्धिको यदि उत्पत्ति-वृद्धिसे भागदें तो भागफल सीमान्त व्यय होगा। मानलीजिए उत्पत्ति पच्चीससे तीस इकाई होगयी और कुल व्यय पचाससे पचपन रुपया होगया तो ५/५ = १ रु० सीमान्त व्यय होगा।

ऐसे व्यय जो उत्पत्तिके साथ नहीं घटते बढ़ते, स्थायी व्यय कहलाते हैं। मशीनों और इमारतोंकी देखरेख, मैनेजरों और कुछ अन्य श्रमजीवियोंपर व्यय उत्पत्तिका परिमाण घटानेसे परिवर्तित नही होता। परिवर्तनशील व्यय वहहै जो उत्पत्तिके परिमाणके साथ घटता बढ़ता रहता है। अविभाज्य व्यय कुछ ऐसे व्ययहैं जो यदि संस्था बन्दही करदेने का निश्चय न कर लियाजाये, तो संस्थाको हर दशामें करने पड़ेंगे। अविभाज्य व्ययको छोड़कर अन्य व्यय पूरक व्यय कहलाते हैं।

हमने सीमान्त व्ययकी परिभाषा करतेहुए कहाहै कि यह व्यय उत्पत्तिमें वृद्धि करनेका व्यय है। इसकारण केवल परिवर्तनशील व्ययसे सम्बन्धित है। स्थायी और परिवर्तनशील व्ययका विभेद केवल अल्पकालकी दृष्टिसे कियाजाता है। दीर्घकाल में उत्पत्ति बढ़ाने या घटानेसे स्थायी व्ययमें भी अन्तर आयेगाही।

१५

उद्योग धन्धों का अभिनवीकरण

अभिनवीकरण का अभिप्राय

अखिल विश्व आर्थिक सम्मेलन १९२७ म उद्योग धन्धोंके अभिनवीकरण की परिभाषा इसप्रकार कीगयी थी:

'यह वह साधनहै जिसके द्वारा उद्योग धन्धोंकी उत्पादन विधि और संगठनमें श्रम तथा सामग्रीका न्यूनतम अपव्यय होता है। इसमें श्रमका वैज्ञानिक संगठन, उत्पादन-सामग्री तथा उत्पन्न वस्तुओंका माननयन, उत्पादन की क्रियाओंका सरल बनाना और यातायात तथा विक्रय प्रणालीको उन्नत करना इत्यादि सम्मिलित है।'

वर्तमान शताब्दीमें औद्योगिक संगठनको निर्धारित करनेवाली शक्तियोंमें महान् परिवर्तन हुए हैं। इनमेंसे मुख्य बाज़ारोंका विस्तार, उद्योग धंधोंमें विज्ञानका प्रयोग, श्रमजीवियोंकी शक्तिका वर्धन, प्रबन्धकों तथा स्वामियोंका पार्थक्य और यदभाव्यं नीतिका पतनोन्मुख होना है। अभिनवीकरणका अभिप्राय इन परिवर्तनोंसे समझ बूझकर कियेगये नियन्त्रण द्वारा समन्वय प्राप्त करना है। अभिनवीकरण के दो पक्ष हैं। एकतो स्वतन्त्र तथा परस्पर प्रतिस्पर्धी उद्यमोंको एक दूसरेसे सम्बन्धित करके उनमें आवश्यक एकता स्थापित करना और दूसरे प्रत्येक उद्यमकी उत्पत्ति, अर्थवहन, कर्मचारी मंडल और वितरण इत्यादिको कुशलतापूर्वक संगठित करना।

अभिनवीकरण के मुख्य अंग

निर्धारित कार्यक्रम, पुर्नव्यवस्था तथा विकास, ये तीन अभिनवीकरणके प्रधान अंग हैं। कार्यक्रम को निर्धारित करनेमें प्रथम स्थान वर्तमान तथा भावी बाज़ारों की जांच को दियाजाता है और उपभोक्ताओंके स्वभाव, रुचि इत्यादि पर निर्भर मांग

की लोचका ज्ञान प्राप्त कियाजाता है क्योंकि इसीके आधारपर वस्तुका मूल्य न्यूनाधिक कियाजाता है। बाज़ारोंकी जांचसे किसप्रकार की वस्तुको किस मात्रामें उत्पन्न करना चाहिए, उत्पादनविधि में कौन कौनसे परिवर्तनोंकी आवश्यकता है, भिन्न भिन्न कौशलवाले श्रमजीवियोंकी कितनी संख्यामें नियुक्ति कीजाये, कितने कच्चे माल तथा पूंजीकी आवश्यकता होगी, आदि उत्पादनसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओंका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है। आय-व्यय-लेखे (बजट) द्वारा नियन्त्रण पद्धतिसे यह निर्णय अत्यन्त सरल होजाता है; क्योंकि व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थानपर अब आंकड़ों द्वारा नियन्त्रण होताहै। इस नियन्त्रण पद्धतिके कई लाभ हैं:

(१) अत्यधिक उत्पत्तिके करनेकी सम्भावना कम रहती है। क्योंकि उत्पत्तिका प्रत्याशित बिक्रीसे समन्वय किया जासकता है।

(२) उत्पादनके प्रत्येक विभागके उत्पादन-व्यय, कार्यक्रमका अनुमानित तथा वास्तविक खर्चों और कार्योंकी तुलना द्वारा नियन्त्रण किया जासकता है।

(३) इसके द्वारा विकेन्द्रीकरणमें सहायता मिलती है, क्योंकि प्रत्येक विभागकी आर्थिक क्षेत्रमें स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करनेकी अवधि निश्चितकर दीजाती है।

(४) इसके द्वारा विभिन्न भागोंमें पारस्परिक सहयोग स्थापित किया जासकता है।

बिक्री की मात्राका भलीप्रकार अनुमान करलेनेसे उत्पादनके लिए आवश्यक कच्ची सामग्री तथा उससे वस्तु निर्माण करनेके लिए उचित संस्थाकी स्थापना और उसके लिए आवश्यक श्रम, अर्थ, निरीक्षण, नियन्त्रण इत्यादि का अनुमान करना कठिन नहीं होता। यहतो निश्चितही है कि अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन व्ययमें कमी की जासकती है परन्तु यह कमी केवल वर्तमान संस्थाओंके एकीकरण से नहीं वरन् उत्पत्तिका कुशलतम संस्थाओंमें समाहार करनेसे प्राप्त होसकती है। अभिनवीकरण द्वारा इस समाहार को प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजाती है। इसकारण वर्तमान संस्थाओंके पुनः संगठनके लिए निम्नलिखित सुधारोंकी आवश्यकता होती है:

(१) अकुशल संस्थाओंको बन्दकरके उत्पादन कार्यको कुशलतम संस्थाओं द्वारा करवाना; क्योंकि इसप्रकार उन संस्थाओंकी पूर्ण उत्पादन शक्तिका प्रयोग होसकेगा।

(२) उत्पादन-व्यय को कम करनेके लिए नवीनतम यन्त्रों अथवा उपकरणोंका प्रयोग करना।

(३) वैज्ञानिक अनुसन्धान विभागोंका स्थापित करना।

(४) वस्तुओंके अधिकाधिक माननयन द्वारा उत्पादन व्यय कम करना।

(५) नियन्त्रण पद्धतिमें परिवर्तन करके उपयुक्त नियन्त्रकों का चुनाव करना। अभिनवीकरण नवयुवकों द्वाराही सुचारुरूप से किया जासकता है। वृद्धावस्थामें नये औद्योगिक वातावरणका भलीप्रकार से अध्ययन करनेका उत्साह नहीं रहता परन्तु शक्तिशाली होनेके कारण वृद्ध प्रबन्धक लोग नवयुवकों को उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानोंपर नियुक्त नहीं करते, अभिनवीकरणकी दृष्टिसे यह उचित नहीं। तीस से चालीस वर्षकी आयुके लोगोंको अपनी योग्यता दिखानेके लिए अधिक अवसर मिलने चाहिएं।

अभिनवीकरण के लाभ तथा हानियां

भय प्रकट कियाजाता है कि अभिनवीकरणके कारण एकाधिकारोंका सृजन होगा और एकाधिकारी मनमाने मूल्य लेकर उपभोक्ताओं का अहित करेंगे। परन्तु अभिनवीकरणका उद्देश्य तो कुशलपूर्वक उत्पादन द्वारा मूल्योंका कम करनाहै न कि अधिक। आंशिक अभिनवीकरणके कारण कई लोगोंकी हानि अवश्य होती है। यदि एक उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न वस्तुएं किसी दूसरे अभिनवीकृत उद्योग धन्धेमें कच्चे मालके रूपमें प्रयुक्त होतीहैं तो दूसरे उद्योग धन्धे वालोंको पहिले उद्योग धन्धे वालों की वस्तुएं खरीदनेका एकाधिकार प्राप्त होजायेगा और वह इस अधिकार का दुरुपयोग करके पहिले उद्योग धन्धे वालोंकी हानि करसकते हैं।

अभिनवीकरण द्वारा बेकारी फैलनेकी सम्भावना है। अकुशल संस्थाओंके बन्द करदेने से और उत्पत्तिके नियन्त्रण तथा यन्त्रोंके नवीकरणसे कुछ लोगोंका अनावश्यक होजाना अनिवार्य है। अभिनवीकरण द्वारा अन्ततोगत्वा उत्पादन-व्यय और फलस्वरूप मूल्यमें कमी होनेसे मांगमें वृद्धि होगी और इसकारण उत्पत्तिकी मात्रा बढ़ानेके लिए अधिक लोगोंको नियुक्त करनेकी आवश्यकता होगी। परन्तु आरम्भमें तो कुछ लोगोंको बेकारीकी पीड़ा सहन करनी ही पड़ेगी। इस समस्याको सुलझानेके

लिए बेकारीकी वृत्ति देनी होगी या श्रमके समयको कमकरके लोगोंको बेकारीसे बचाना होगा। इसीप्रकार पूंजीपतियों को भी आरम्भमें हानि होगी।

एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ मिस्टर वावी ने अभिनवीकरणके लाभ और हानियां इसप्रकार एकत्रित की हैं। पुनरुक्तिके दोषकी चिन्ता न करतेहुए उनका उल्लेख किया जारहा है :

लाभ :

(१) उत्पत्तिका कुशलतम संस्थाओंमें समाहार।
(२) वस्तुनिर्माण का विकेन्द्रीकरण।
(३) वस्तुनिर्माण का माननयन।
(४) यन्त्रोंका नवीकरण।
(५) शक्तिका मितव्यय।
(६) प्रबन्ध विषयक व्ययकी कमी।
(७) अत्यधिक मात्रामें उत्पत्तिका अभाव।
(८) बिक्रीका समाहार।
(९) निरर्थक भाड़ा इत्यादिकी बचत।
(१०) पूंजी-उपलब्धिका सौकर्य।
(११) अधिक अनुसन्धान।
(१२) अधिक मात्रामें वस्तुका क्रय।
(१३) पूर्ति और मांगका समन्वय इत्यादि।

हानियां :

(१) अकुशल संस्थाओंका अधिक मूल्यपर क्रय।
(२) अतिरिक्त उत्पादन शक्तिका नाश।
(३) अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेके कारण भूलसे होनेवाली हानि।
(४) आरम्भिक व्ययकी अधिकता।
(५) संगठनकी कठिन समस्याएं।
(६) योग्य प्रबन्धका अभाव।
(७) सरकारी हस्तक्षेपकी सम्भावना।
(८) बेकारीमें वृद्धि।

(९) पूंजीका प्रभुत्व।
(१०) अर्थसम्बन्धी छल-कपट।
(११) एकाधिकारोंकी स्थापना।
(१२) आंशिक अभिनवीकरणके दोष।
(१३) अव्यक्तिगत नियन्त्रण इत्यादि।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ तथा उद्देश्य

उन्नीसवीं शताब्दीमें व्यवस्थापक उत्पादन-व्ययमें कमी करनेकी इच्छासे उद्योग-शालाओंकी इमारतों, यन्त्रों इत्यादिपर होनेवाले व्ययकी ओरही केवल ध्यान देते थे। परन्तु वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें ही श्रमजीवीके कौशलमें वृद्धि करके उत्पादन-व्यय कम करनेकी चेष्टा कीजाने लगी। श्रमजीवीकी उत्पादनशक्ति में वृद्धिकरके उत्पादन-व्यय को कम करनेवाली पद्धतिको वैज्ञानिक प्रबन्धका नाम दियाजाता है। टेलरके मतानुसार श्रमजीवीकी क्षमता बढ़ानेके लिए निम्नलिखित प्रयत्नोंका कियाजाना आवश्यक है:

(१) प्रत्येक कार्यको करनेके लिए वैज्ञानिक ढंगोंका निकालना।
(२) प्रत्येक श्रमजीवीकी योग्यताके अनुसार उसे उपयुक्त कार्यमें लगाना।
(३) श्रमजीवियोंका उत्पादन-कार्य में पूर्ण सहयोग प्राप्त करना।

वैज्ञानिक प्रबन्धका सबसे महत्वपूर्ण अंग कार्यक्रम को पहिले से ही निर्धारित करदेना है। इस कार्यको चलानेके लिए एक पृथक विभाग स्थापित करनेकी आवश्यकता है। प्रतिदिन श्रमजीवीको उसके द्वारा किये जानेवाले काम तथा उस कामको करनेके लिए उपयुक्त विधि तथा लगनेवाले समयका काम आरम्भ होनेसे पहिलेही पता लगजाना चाहिए। कार्यक्षमतामें वृद्धिकी दृष्टिसे सर्वप्रथम श्रमजीवीके स्वास्थ्यकी ओर ध्यान देना चाहिए। थकावटके कारण मालूम करके उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है। थकावट अधिक श्रम करनेके कारण कार्यक्षमता में अवनतिके रूपमें प्रकट होती है। इसके कारण उत्पत्तिकी मात्रामें न्यूनताही नहीं आती बल्कि दुर्घटनाओं के होनेकी सम्भावनाभी बढ़जाती है। थकावट अधिक समयतक अविरत श्रमके कारण तथा विश्रामके अभावके कारण होती है। इसके

अतिरिक्त श्रमजीवीकी शारीरिक अवस्था तथा उसके खानपान से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए श्रमजीवीके विश्रामके लिए समय समय पर प्रबन्ध करदेना चाहिए। उद्योगशालामें वातावरणको आरोग्यविज्ञान के नियमोंके अनुसार शुद्ध एवं पवित्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिए ताकि श्रमजीवी स्वस्थ रहें और उनके शारीरिक बलमें वृद्धि हो। कार्यकी नीरसताको भी दूर करनेकी आवश्यकता है। समय समय पर श्रमजीवीके कार्यमें परिवर्तन करदेना चाहिए। कार्य करनेके समयमें कमी करदेनी चाहिए। किसीभी कार्यको करनेके लिए श्रमजीवीका चुनाव उसके शारीरिक तथा मानसिक बलके आधारपर करना चाहिए। कुछ लोगोंको एकरूपता और पुनरावृत्ति प्रिय होतीहै और कुछको नहीं। इसकारण कुछतो नीरसतासे पीड़ित होते है और कुछ उसीमें आनन्दका आस्वादन करते हैं।

उद्योगशालाके वातावरणके माननयनके पश्चात् वस्तु-निर्माण विधिका मान-नयन आवश्यक है। वस्तुका माननयनभी अधिक मात्रामें कम उत्पादन-व्ययसे उत्पत्ति करनेके लिए आवश्यक सा ही समझा जाताहै परन्तु यह कार्य वैज्ञानिक प्रबन्धसे सम्बन्धित नहीं। वैज्ञानिक प्रबन्धका क्षेत्र वस्तु-निर्माण-विधिके मान-नयन तकही सीमित समझा जाता है। वस्तु-निर्माण-विधिके माननयनमें उस विधि में प्रयोग किये जानेवाले यन्त्रों, उपकरणों इत्यादिका माननयनभी सम्मिलित है। माननयन गत्याध्ययन तथा समयाध्ययन द्वारा किया जाता है। गत्याध्ययनमें श्रम-जीवीकी गतियोंको सरल बनानेका प्रयत्न कियाजाता है। उसके उठने बैठनेके ढंग में परिवर्तन कियेजाते हैं। सामग्री रखनेके स्थानोंको ऊंचा नीचा कियाजाता है। इस सम्बन्धमें टेलरका फावड़ोंपर और गिल्वर्थका ईंटोंपर अध्ययन प्रसिद्ध है। टेलर ने फावड़ेकी सहायतासे अधिकतम कौशल द्वारा अधिकतम बोझ उठानेकी मात्रा निश्चितकी थी और फिर भिन्न भिन्न प्रकारकी सामग्री उठानेके लिए फावड़ोंके आकारको निर्धारित किया था। इसीप्रकार गिल्वर्थने ईंटें लगानेवालों को ईंटें पहुंचाने, उनके रखने तथा लगानेकी विधिमें परिवर्तन प्रस्तुत किये थे। परिणाम यह हुआ कि टेलरके परिवर्तनोंके कारण प्रत्येक श्रमजीवीकी बोझ उठानेकी दैनिक शक्तिमें ४३ टनकी वृद्धि हुई अर्थात् वह अब १६ टनके स्थानपर ५९ टन बोझ दिन भरमें उठाने लगा। इसीप्रकार गिल्वर्थके परिवर्तनोंके अनन्तर प्रत्येक कार्यकर्ता ६५० ईंटें प्रतिघंटा लगाने लगा जबकि वह पहिले केवल १२० ईंटें प्रतिघंटा लगा

पाता था। कहाजाता है कि गिल्वर्थने एकसमय एक लड़की को गोल डिब्बोंपर काग़ज़ चिपकाते देखा। वह शीघ्रतम कार्य करनेवाली लड़की बतायी जातीथी और ४० सैकिण्डोंमें २४ डिब्बे तैयार करलेती थी। गिल्वर्थ ने उस लड़कीके सामग्री रखनेके स्थान और लड़की की कार्यशैलीमें कुछ परिवर्तन सूचित करनेका साहस किया और इन परिवर्तनोंके कारण वही लड़की २० सैकिण्डों में २४ डिब्बे पहिलेके समान श्रमसे ही तैयार करनेमें सफल हुई।

इसप्रकार गत्याध्ययन करके किसी कार्यको करनेके लिए एक प्रामाणिक विधि निश्चित करली जातीहै और तदनन्तर इस विधिके प्रत्येक अंगको कमसे कम समय में पूरा करनेके लिए समयका अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक कार्यको कमसे कम समयमें करनेके समयोंको एकत्रित करके कुल कार्यको करनेके लिए कमसे कम समय निकाल लियाजाता है।

कार्य-कौशलमें वृद्धिके लिए श्रमजीवीको मजूरी देनेके ढंगोंमें इसप्रकार के परिवर्तन करना कि श्रमजीवीको तन मनसे कार्य करनेमें तत्पर होनेके लिए प्रोत्साहन मिले, वैज्ञानिक प्रबन्धकी दृष्टिसे आवश्यक समझा जाता है। इन विविध ढंगोंका विवरण मजूरीके अध्यायमें किया जायेगा।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के दोष

इसमें सन्देह नहीं कि कार्य करनेकी विधिको उत्तम बनानेसे कार्य करना सुगम होजाता है और उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि की जासकती है। परन्तु समयाध्ययन और गत्याध्ययन द्वारा श्रमजीवीको यन्त्रके रूपमें ही परिणत करदिया जाता है। इसकारण वस्तुनिर्माण में उसके व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यको पूर्णतया नष्ट करदिया जाता है। हम देख चुकेहैं कि उत्पादन-विधिके माननयनके लिए वस्तुका माननयनभी आवश्यक है। बहुतसे लोगोंका विचारहै कि यद्यपि इस माननयन द्वारा वस्तुकी उत्पत्तिकी मात्रा में वृद्धि की जासकती है परन्तु उसके गुणोंमें अवनति होजाती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रतिपादकोंकी धारणाहै कि इन आलोचनाओंमें कुछ सत्य भलेही हो परन्तु व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यका नाश किये बिनाभी वैज्ञानिक प्रबन्ध सम्भवहै और यह अवश्य करना चाहिए क्योंकि इसके द्वारा श्रम और शक्तिके व्ययमें बचत और श्रम-

जीवीके कौशल एवं उपार्जन शक्तिमें वृद्धि होसकती है। इसीप्रकार बहुतसे लोगों के मतानुसार वस्तुकी मात्रामें माननयन द्वारा वृद्धिकरके भी उसके गुणोंमें वृद्धि करना सम्भव है। कार्यकौशलमें अत्यधिक वृद्धि होनेसे बेकारी फैल सकती है। इस प्रकार श्रमजीवी वैज्ञानिक प्रबन्धको शंकाकी दृष्टिसे देखते हैं। परन्तु उत्पादन-व्ययमें कमी होनेसे वस्तुके मूल्यमें कमी होजाती और फलस्वरूप कालान्तरमें मांग में वृद्धि होनेसे बेकारी फैलनेकी सम्भावना नहीं रहती।

वैज्ञानिक प्रबन्धके कारण श्रमके विशिष्टीकरणसे श्रमजीवियोंकी पराधीनता औरभी अधिक होजातीहै और इसकारण उत्पादक उत्पत्तिका अधिकतर भाग स्वयं लाभके रूपमें ले सकते है। इसके विरुद्ध वैज्ञानिक प्रबन्धकोंका कहनाहै कि मजूरीमें अन्याययुक्त कमी न होनेदेना उनके कार्यक्रमका एक अंग है। इसके अतिरिक्त सामूहिक सौदा करनेकी शक्तिका श्रमिक संघोंके संगठनों द्वारा पैदा करना वैज्ञानिक प्रबन्धके प्रतिकूल नही। वैज्ञानिक प्रबन्धक केवल श्रमजीवियों और व्यवस्थापकों के मध्य सामंजस्य स्थापित करनेके इच्छुक हैं।

श्रमजीवीको एक नही बहुतसे निरीक्षकोंके आधीन होकर कार्य करना पड़ता है। वैज्ञानिक प्रबन्धके अनुसार निरीक्षकमें किसी विशेष योग्यताका होना आवश्यक है। इसकारण श्रमजीवी प्रत्येक निरीक्षकको शिक्षक समझकर उससे अपने कार्यके विविध अंगोंके सम्बन्धमें शिक्षा प्राप्त करसकता है। वैज्ञानिक प्रबन्धका उद्देश्य उत्तम वस्तु उत्तम विधिसे अधिकतम मात्रामें पैदा करना है और अकुशलता को राष्ट्रीय अपराध समझ लेनेपर वैज्ञानिक प्रबन्धको प्रचलित करना ही प्रत्येक उत्पादकका परम कर्तव्य है।

१६

आर्थिक पद्धतियां

पूंजीवाद, मार्क्सवाद और समाजवाद

पूंजीवाद का अर्थ

पूंजीवादका उद्भव सामन्तवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें हुआ था। पांचवीं शताब्दी ईसवी में रोमका साम्राज्य भ्रष्ट होनेके कारण योरोपकी व्यापारिक तथा राजनैतिक एकता भंग होचुकी थी। केन्द्रीय शासनका अभाव था और समाजका संगठन सामन्तिक ढंगसे होचुका था। प्रत्येक व्यक्तिका समाजमें स्थान निश्चित था। शिक्षार्थीके द्वारा शिक्षककी, कमियेके द्वारा ग्रामाधीश की, ग्रामाधीशके द्वारा प्रान्ताधीश की और प्रान्ताधीशके द्वारा राजाकी कीजानेवाली सेवाओं और उनके स्थानपर मिलनेवाले पुरस्कार उनमेंसे प्रत्येकको भलीप्रकार से विदित होतेथे और उनमें परिवर्तन असम्भव था। उत्पादन प्राय: तात्कालिक उपभोग अथवा वस्तु विनिमयके लिएही कियाजाता था। वस्तुका निर्माण और व्यापार प्राय: शिल्प संस्थाके हाथमें था, जिनके स्वामियोंको श्रम-पूर्ति, कच्चे मालका प्रयोग और वस्तुओं के मूल्य निश्चित करनेके पूर्णाधिकार प्राप्त थे। यातायातका सुप्रबन्ध न होनेके कारण तथा चोर डाकुओंके भयसे व्यापार अधिक न होपाता था। तेरहवी शताब्दी ईसवी के लगभग व्यापारके पुनरुज्जीवन से सामन्तवादको भारी धक्का लगा। व्यापार का पुनरुत्थान होनेके साथ साथ व्यापारियों और अर्थाध्यक्षोंका प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने सामन्त कुलीन तन्त्र और सामन्त प्रणाली द्वारा वस्तु निर्माण तथा वस्तु-व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धोंका विरोध करनेके लिए एक नये वाद की नींव डाली और इस वादको उदारवादके नामसे पुकारा गया। इस वादके अनुसार समाजका कल्याण व्यक्तिगत स्वतन्त्रतामें ही निहित है। आर्थिक क्षेत्रमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ जन-समुदायकी उत्पादन सम्बन्धी तथा व्यापारिक योजनाओंमें सरकारी हस्तक्षेपका अभाव था। क्योंकि आर्थिक सिद्धान्तोंके पूर्ण

रूपेण कार्यान्वित होनेपर अधिकतम उत्पत्ति और न्याययुक्त वितरणका होना प्राकृतिक समझा जाता था। ऐसा विश्वास कियाजाता था कि उद्योग स्वातन्त्र्यके प्राप्त होनेपर प्रत्येक व्यक्तिको अपने भौतिक कल्याणके लिए अधिकतम प्रयत्न करनेका प्रोत्साहन मिलेगा और पूर्ण प्रतिस्पर्धासे मांग और पूर्तिकी शक्तियों द्वारा उत्पत्ति और मूल्य निश्चित होंगे। आधुनिक पूंजीवाद उदारवादके इन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। पूंजीवाद वह आर्थिक प्रणाली है जिसके अनुसार उद्योगी पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें अधिकतम लाभ कमानेके लिए बिना रोक टोक अग्रसर हो सकता है।

पूंजीवाद के लक्षण

पूंजीवादियोंका विश्वासहै कि व्यक्तिगत कल्याणमें ही सामाजिक कल्याण निहित है। इनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्तिको प्रकृतिकी ओर से कुछ अधिकार प्राप्त हैं जिनका प्रयोग करनेके लिए उसका पूर्णतया स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इन अधिकारोंमें मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं :

(१) निजी सम्पत्तिपर स्वामित्वाधिकार—निजी सम्पत्ति दो प्रकारकी होसकती है। एकतो उपभोग्य वस्तुओंकी और दूसरी उत्पादक वस्तुओंकी। उत्पादक वस्तुओं को अर्थशास्त्रीय परिभाषामें उत्पादनके साधनोंके नामसे पुकारा जाता है। इन्हीं उत्पादनके साधनोंका स्वामित्व व्यक्तिगत रूपमें लोगोंको प्राप्त होना पूंजीवादके अनुसार आवश्यक है। उपभोग्य वस्तुओंमें स्वामित्वाधिकार तो समाजवादके अनुसार भी व्यक्तिगत रूपमें ही जन-समुदायको प्राप्त होंगे परन्तु उत्पादनके साधनों पर प्रभुत्व पूरे समाजका होगा।

(२) उद्योग-स्वातन्त्र्य—उद्योगी लोग अपनी निजी संम्पत्तिका प्रयोग किसीभी क्षेत्रमें, लाभ कमानेकी इच्छासे करते हैं। इसप्रकार के प्रयोगसे हानि होनेकी सम्भावनाका भयभी उन्हेंही उठाना पड़ता है। अपना उत्पादन-कार्य चलानेके लिए उन्हें न्यून अथवा अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेकी और अपनी वस्तुओंके मूल्य निश्चित करनेकी पूरी स्वतन्त्रता होती है। इसीप्रकार प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह विक्रेताहो अथवा ग्राहक, व्यवस्थापक हो अथवा श्रमजीवी अपने आपको किसीभी

प्रकारके समनुबन्धमें बद्ध करनेके लिए कोईभी नहीं रोक सकता जबतक कि वह समनुबन्ध प्रचलित विधानके विरुद्ध न हो।

(३) लाभ प्राप्तिका उद्देश्य—केवल निर्वाह मात्रके लिए पर्याप्त मात्रासे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा पूंजीवादके अनुसार मनुष्यमें स्वाभाविक रूपसे वर्तमान है, सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पादनके लिए श्रेष्ठतम प्रोत्साहन है। लाभ प्राप्त करनेके लिए उत्पादक अधिकतम प्रयत्न करेगा और अत्यन्त सावधानीसे काम लेकर अपने उद्यमको सफल बनानेकी चेष्टा करेगा।

(४) पूर्ण प्रतिस्पर्धा द्वारा स्वतन्त्र बाज़ारमें मूल्य, लाभ और उत्पादन-व्यय स्थिरता प्राप्त करते हैं—व्यवस्थापकोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य कम होतेहै परन्तु उपभोक्ताओंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य बढ़ते है। इसीप्रकार श्रमजीवियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धाके कारण मजूरी घटती है और पूंजीपतियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण मजूरी बढ़ती है। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसी स्थिति तभी प्राप्त होसकती है जबकि पूंजी और श्रम गतिशील हों, सब लोगोंमें सौदा करनेकी शक्ति सम हो और एकाधिकार का अभाव हो।

(५) मजूरी भुगतान प्रणाली—पूंजीपति उद्यम की जोखिम उठाते हैं और इस कारण अपने आपको प्राप्त लाभका अधिकारी मानते हैं। वे श्रमको केवल उत्पादन व्ययका एक अंग मानते हैं और इसकारण इस व्ययको न्यूनतम रखनेकी इच्छासे श्रमजीवी को कमसे कम मजूरी देना चाहते हैं। परन्तु श्रमजीवी अपने जीवन-स्तर को उत्कृष्ट करनेके लिए अधिकतम मजूरी लेनेका इच्छुक रहता है। इसकारण श्रमजीवियों और पूंजीपतियोंमें एक विरोध सा खड़ा होजाता है।

(६) विनिमय विधि—विनिमयके लिए वस्तुओंके मूल्य द्रव्यके रूपमें परिणत करदिये जाते हैं। धातु मुद्राओंके अतिरिक्त सरकारी अथवा बैंकोंके नोटों और हुंडियों इत्यादि का प्रयोग कियाजाता है। बैंक साख-सृजन द्वारा उद्योग धन्धोंका अधिक अर्थवाहन करते हैं।

(७) अभिनवीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध—पूंजीपति अपने मुख्य उद्देश्यकी उपलब्धिके लिए उत्पत्तिकी मात्रा बढ़ाने और उत्पादन-व्यय कम करनेमें निरन्तर तत्पर रहते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्धके नियमों द्वारा संस्थाओंका प्रबन्ध, उत्पादन विधिका अभिनवीकरण, कच्चे मालका अधिक मात्रामें और फलतः सस्ते मूल्यपर

क्रय और वस्तु विक्रयके लिए नये नये बाज़ारोंकी खोज इत्यादि उनके उद्देश्योंके साक्षात्कारमें सहायता देते हैं।

पूंजीवाद का विकास

पूंजीवादका भी अन्य वादोंकी तरह क्रमशः विकास हुआहै, यह हम देखही चुकेहैं कि पूंजीवादका श्रीगणेश करनेवाले योरोपके व्यापारी थे। अठारहवीं शताब्दी ईसवीके मध्यसे लेकर बड़ी बडी कर्मशालाओंकी स्थापना प्रारम्भ हुई। नये नये यन्त्र निकाले गये। बड़े परिमाणमें उत्पत्ति कीजाने लगी। यातायातके साधनोंमें आश्चर्यजनक उन्नति हुई। बाज़ारोंके प्रसारमें इतनी वृद्धि हुई कि वह संसारव्यापी होगये। यह काल औद्योगिक पूंजीवादका था। गत महायुद्धके कालसे अभिनवीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्धके सिद्धान्तोंके प्रयोग द्वारा उत्पत्तिकी मात्रामें गगनचुम्बी वृद्धि हुई परन्तु इसके साथ ही प्रतिस्पर्धा और बाज़ारोंकी स्वतन्त्रतामें न्यूनता आने लगी। छोटी संस्थाओंको मिलाकर वृहत् संस्थाओंका संगठन होनेलगा और इन संस्थाओंका अर्थवाहन करनेवाली संस्थाओंको विशेष महत्व प्राप्त होनेलगा। इसकारण इस युगको अर्थवाहन पूंजीवादका युग कहते हैं। अब इस युगकी प्रवृत्ति सरकारी पूंजीवादकी ओर है।- व्यापारिक अपकर्षों की रोकथाम, युद्धकालमें राष्ट्रीय उत्पत्तिका नियन्त्रण श्रमजीवी संघोंके बढ़तेहुए प्रभावके कारण सरकार का मूल्य, मजूरी और सामाजिक सुरक्षा इत्यादिके विषयमें उत्तरदायित्व स्वीकार करना, सरकारद्वारा ऐसे उद्योग धन्धोंकी स्थापना जिनका निजी उद्यम द्वारा स्थापित होना असम्भव है, उपभोक्ताओंके हितका बड़े बड़े एकाधिकारों से संरक्षण इत्यादि इस प्रवृत्तिके मुख्य कारण हैं। सरकारी पूंजीवादमें सरकार यातायातके साधनों, बैंकों मुख्य मुख्य प्राकृतिक सामग्रियों इत्यादिमें स्वामित्वके अधिकार ग्रहण करलेती है। कईएक वस्तुओंके उत्पादनमें विशेषकर मादक वस्तुओं और युद्ध सामग्रीमें सरकार को एकाधिकार प्राप्त होजाता है और अन्य उत्पादनके क्षेत्रोंमें सरकार भी अपनी राजस्व नीति द्वारा हस्तक्षेप करती रहती है। सरकारी पूंजीवाद और सरकारी समाजवाद का प्रायः एकही अर्थमें प्रयोग कियाजाता है। कई लेखक सरकारी समाजवादकी यह विशेषता बतलाते है कि सरकारी समाजवादमें उद्योग धन्धोंका

राष्ट्रीकरणहा मुख्य तथा अन्तिम उद्देश्य होताहै और इसी उद्देश्यकी उपलब्धि के लिए आरम्भमें मौलिक उद्योग धन्धोंमें स्वामित्व तथा नियन्त्रण के अधिकार सरकार ग्रहण करलेती है।

मार्क्सवाद

मार्क्सवादका मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी उत्पादन पद्धतिकी कड़ी आलोचना करना, पूंजीपतियों द्वारा श्रमजीवियोंके शोषण और इस पद्धतिका अन्तर्निहित कारणों द्वारा नाश सिद्ध करना है। मार्क्सके अनुसार सम्पत्ति-सृजन पद्धतिमें नये आविष्कारों द्वारा हरसमय परिवर्तन होते रहतेहैं और इन परिवर्तनोंके कारण सामाजिक सम्बन्धोंमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस उत्पादन कार्यमें भाग लेनेवाले लोग भिन्न भिन्न वर्गोंमें विभाजित होजाते हैं। प्राचीनकालमें स्वामियों तथा सेवकों और आधुनिक कालमें पूंजीपतियों और श्रमजीवियोंके पृथक पृथक वर्ग देखनेमें आते हैं। वर्गके प्रत्येक सदस्यके हितोंमें एकता इस वर्गीकरणकी जड़ है। प्रत्येक वर्ग उत्पन्न आयका अधिकतम अंश प्राप्त करनेकी चेष्टा करताहै और इसकारणसे ही बलवान तथा दीन वर्गमें संघर्ष होताहै जिसमें दीन वर्ग बलवान वर्गकी शक्ति और सम्पत्ति को नष्ट करनेकी ताकमें रहता है। समाजका इतिहास इसप्रकार के संघर्षोंसे परिपूर्ण है। पूंजीवादके प्रभुत्वकालमें उत्पादनके साधनोंका स्वामित्व तो थोड़ेसे पूंजीपतियोंको प्राप्त होताहै और सर्वसाधारण समाजका अधिकांश श्रमजीवियोंके रूप में अपना श्रम बेचकर जीविका पाता रहता है। श्रमजीवी वर्गका पूंजीपतियों द्वारा शोषण सिद्ध करनेके लिए मार्क्सने अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्तकी रचना की। मूल्यके श्रम-सिद्धान्तके अनुसार किसी वस्तुका मूल्य उसे उत्पन्न करनेके लिए आवश्यक श्रम से निर्धारित होता है। पूंजीपति श्रमजीवियोंको केवल निर्वाह-मात्रके लिए मजूरी देकर उनसे इतना श्रम करवातेहैं कि उसके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका बाज़ार मूल्य उनकी मजूरीसे अधिक होता है। इन अतिरिक्त मूल्यको पूंजीपति हड़प करलेते है। परन्तु इसप्रकार अनुचित आय का वे लोग प्रायः उपभोग नहीं करपाते है। श्रमजीवियोंके हाथमें क्रय-शक्तिकी न्यूनताके कारण अत्यधिक उत्पत्तिका संकट विद्यमान होनेलगता है। आरम्भमें तो नये बाज़ारोंकी उत्पत्ति, भोगविलासकी वस्तुओंका

उत्पादन और उधारपर वस्तुओंकी बिक्री इत्यादि ढंगोंसे इस संकटको स्थगित करने का प्रयत्न कियाजाता है। परन्तु अन्तमें श्रमजीवियोंके स्थानपर यन्त्रोंके प्रयोग, एकाधिकारोंकी स्थापना और विदेशी बाज़ारोंकी खोजके कारण न केवल पूंजीपति शक्तियोंमें युद्ध छिड़ जाताहै वरन् मुट्ठीभर पूंजीपतियों और अगणित श्रमजीवियों में संघर्ष उत्पन्न होजाता है। मार्क्सका विश्वासथा कि इस संघर्षमें अन्ततोगत्वा विजय श्रमजीवियोंको ही प्राप्त होती है। पूंजीपतियोंकी पराजय होनेपर उत्पादन के साधनोंका स्वामित्व समाजको प्राप्त होजाता है और उत्पादन, लाभ प्राप्तिके लिए नहीं परन्तु लोकहितके लिए कियाजाता है।

मार्क्सवाद की शाखाएं

मार्क्सवाद जिसे वैज्ञानिक समाजवादका भी नाम दियाजाता है, कई शाखाओंमें विभाजित है। उनमें से दो मुख्य शाखाएं विकासवादी समाजवाद और क्रान्तिकारी समाजवादके नामोंसे प्रसिद्ध हे।

समाजवाद

विकासवादी समाजवादी वर्गोंमें संघर्षके अस्तित्वको तो स्वीकार करतेहैं परन्तु इसे विशेष महत्व प्रदान नहीं करते। मार्क्सवादियोंके समान ये लोगभी श्रमको ही मूल्य-सृजनका चरम कारण स्वीकार करतेहैं और भूमि-कर ब्याज और लाभमें सृष्ट मूल्यका विभाजन न्याययुक्त नहीं मानते। लाभप्राप्तिके उद्देश्यसे उत्पादन इनलोगों की दृष्टिमें सर्वथा त्याज्यहै क्योंकि उत्पादक लोग प्राय: थोड़ी मात्रामें उत्पत्ति करके अधिक मूल्यपर बेचतेहैं नकि अधिक मात्रामें उत्पत्ति करके कम मूल्य पर। इसका समर्थन समाजवादी पर्याप्त भूमि, श्रम इत्यादिके होतेहुए भी उपभोग के लिए अपर्याप्त मात्राकी उपलब्धि और मूल्य उच्च रखनेके लिए वस्तुओंको जान-बूझकर कियेगये नाशके उदाहरणों द्वारा करते हैं। इनके मतानुसार तो उत्पादन विधिको उन्नत करनेवाले ऐसे आविष्कार जिनके कारण लाभकी मात्रामें कमी होने की सम्भावना हो, प्रचलित होनेसे पहिलेही रोकलिये जाते हैं। समाजवादी प्रतिस्पर्धा

मेंभी विश्वास नहीं रखते। उनका विचारहै कि प्रतिस्पर्धाके कारण उत्पादन तथा वितरणमें भारी अपव्यय होताहै जिसके कारण प्रतिस्पर्धा केवल अनावश्यकही नहीं किन्तु स्पष्टतया हानिकारक है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारोंके प्रभुत्वने प्रतिस्पर्धा के रहे सहे कार्यको तो वैसेभी नष्ट भ्रष्ट करदिया है। बाज़ारपर एकाधिकारियोंका पूर्णरूपसे नियन्त्रण होनेसे मूल्योंका पूर्ति और मांग द्वारा निर्धारित होना अब स्वप्न साही प्रतीत होता है। उद्योग धन्धोंके वास्तविक स्वामी अब उद्योगपति नहीं किन्तु अर्थ वहन करनेवाली बड़ी बड़ी संस्थाएं हैं और स्वतन्त्र उद्यम केवल घोषवाक्य मात्र रहगया है। इसकारण शनैः शनैः उत्पादन कार्य सरकारको अपने हाथमें लेलेना चाहिए। राष्ट्रीय उत्पादन सामग्री और मुख्य मुख्य उद्योग धन्धों का स्वामित्व प्राप्त करलेना चाहिए। विशेष कर यातायातके साधनों, युद्ध-सामग्री, बैंकों, प्राकृतिक सामग्री तथा उत्पादक वस्तुओंका संचालन अथवा उत्पादन-कार्य सम्हालना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। छोटे परिमाण में उत्पत्ति तथा कृषि इत्यादिका प्रबन्धभी सहयोग समितियों द्वारा होना आवश्यक समझाजाता है। इन लोगोंका विश्वास स्वामित्व और संचालन कार्यके सर्वथा केन्द्रीकरणमें नहीं परन्तु उसके स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्रीय सार्वजनिक संस्थाओं में विभाजित करनेमें है। इन सबके कार्यको परस्पर सम्बन्धित करनेके लिए राष्ट्रीय योजना समितिकी स्थापना आवश्यक है। यह समिति उपभोक्ताओं तथा उत्पादकोंकी आवश्यताओंका अनुमान करके विभिन्न प्रकारकी वस्तुओंका विभिन्न मात्रामें उत्पन्न करनेका निश्चय करेगी। उत्पादक संस्थाओंके पारस्परिक सहयोग तथा न्याययुक्त वितरण द्वारा समाजवादी व्यापारिक अपकर्षों तथा उत्कर्षोंका अन्त करके उनके कारण होनेवाले संकटोंसे समाजकी रक्षा करनेकी आशा बांधते है। उत्पत्तिकी वृद्धि करना समाजवादियोंको पूंजीवादियोंसे भी अधिक प्रिय है।

साम्यवाद

क्रान्तिकारी जिन्हें प्रायः साम्यवादी भी कहतेहै और विकासवादी समाजवादियोंके आर्थिक सिद्धान्तोंमें तो विशेष अन्तर भी नहीं परन्तु साम्यवादी अनुक्रमिक समाज सुधारमें विश्वास नहीं रखते। वे हिंसक क्रान्ति द्वारा पूंजीपतियोंसे शक्ति तथा

सम्पत्ति छीन लेनेके पक्षपाती हैं। साम्यवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको महत्व देना इतना आवश्यक नहीं समझते जितना कि समाजवादी। राजनैतिक दृष्टिसे समाजवादी लोकतन्त्रवादके और साम्यवादी अधिनायकवादके समर्थक हैं।

आर्थिक उन्नति और पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम

आर्थिक उन्नतिको पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमके अनुसार प्राप्त करनेकी चेष्टा करनेवाली आर्थिक पद्धतिको प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रौबिन्सने अपनी पुस्तक 'बड़ा अपकर्ष' में समाजवादका ही रूपान्तर माना है। हम देखचुके हैं कि समाजवादी इस पद्धतिके प्रतिपक्षी हैं परन्तु दोनोंको एक मानना बड़ी भूल है। समाजके आर्थिक जीवनके नियन्त्रणमें विश्वास पुरातनकालसे चलाआता है। पुराने नीतिशास्त्रोंमें तत्कालीन समाजके आर्थिक जीवनका जो विवरण मिलताहै, उसके आधारपर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उस समयभी जीवन नियमबद्ध था। इसीप्रकार समय समय पर बुद्धिमान लोगोंने वास्तविक समाजोंमें नियन्त्रणके अभावके दोषोंको सुधारनेके लिए नियन्त्रित काल्पनिक समाजोंका निर्माण कियाहै। आधुनिक राष्ट्रों में संरक्षण नीतिके अनुकरणकी प्रथा आर्थिक जीवनका नियन्त्रण नहीं तो और क्या है? अर्वाचीन कालमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा और यदभाव्यं नीतिके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें नियन्त्रण नीतिका पुनर्जन्म हुआ है। मनुष्य जीवनको सुखी बनानेके लिए उसके भौतिक आधारको विज्ञानकी सहायतासे विस्तृत करना आवश्यकहै और उत्पत्तिकी मात्राको अधिकतम करना, आर्थिक पद्धतिको स्थिर बनाना तथा राष्ट्रीय आयके न्याययुक्त वितरण द्वारा आयमें साम्याभावका दूरकरना इस विस्तारको प्राप्त करनेके साधनहैं; परन्तु इन साधनोंका प्रयोग उसी अवस्थामें सम्भवहै जब जन समुदायके आर्थिक जीवनका नियन्त्रण करके निर्धारित कार्यक्रमके अनुसार उसे उन्नत करनेका प्रयत्न किया जाय। इस कार्यक्रमके अनुसार राष्ट्रकी प्रत्येक संस्था, उद्यम अथवा उद्योग धन्धेको जन समुदायकी आवश्यकताओंकी अधिकतम तृप्तिके लाभार्थ उपलब्ध सामग्री द्वारा अधिकतम उत्पादन करनेवाली पूर्ण पद्धतिका केवल सहयोगी अंगमात्र मानाजाता है। उत्पादन और उपभोग का सन्तुलन स्थापित कियाजाता है। भिन्न भिन्न संस्थाओंके कार्यक्रमको परस्पर सम्बन्धित करनेके लिए तथा

आवश्यक सन्तुलन स्थापित करनेके लिए एक केन्द्रीय संस्थाका होना आवश्यक है। संक्षेपमें कुशल उत्पादन स्थिर आर्थिक जीवन और न्याययुक्त वितरण इस कार्य-क्रमके मुख्य उदेश्य हैं :

कुशल उत्पादन करनके लिए उपयुक्त उद्योग धन्धोंका चुनाव, उनका उपयुक्त स्थानीकरण, कच्चे माल, श्रम, पूजी इत्यादिकी आवश्यक पूर्ति इन साधनोंका कुशलतम संस्थाओंमें विभाजन और फिर इन संस्थाओंका मितव्ययिता की दृष्टिसे संगठन करना आवश्यक होता है। उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणके सिद्धान्तोंका तथा अभिनवीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा संस्थाओंके संगठनका विवेचन इस पुस्तकके अन्य अध्यायोंमें मिलता है।

आर्थिक जीवनमें स्थिरता वस्तुओंके मूल्योंमें स्थिरता आनेसे उपलब्ध होसकती है। उसे प्राप्त करनेके साधनोंका विवेचन द्रव्यकी क्रयशक्ति वाले अध्यायमें किया गया है। इस स्थानपर केवल इतना उल्लेख करदेना पर्याप्त है कि वस्तुओंके मूल्यों में उतारचढ़ाव को न्यूनतम करना राष्ट्रोंकी द्रव्य-नीतिका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और इस कार्यमें तभी सफलता प्राप्त होसकती है जब इसकेलिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हो।

न्याययुक्त वितरण

वितरणके न्याययुक्त होनेसे हमारा अभिप्राय श्रमजीवियों को प्राप्त होनेवाले राष्ट्रीय आयके भागकी मात्रामें वृद्धि करनेसे है। यह वृद्धि एकतो श्रमजीवियों की उत्पादन शक्तिमें उचित शिक्षा द्वारा वृद्धि करके प्राप्त होसकती है। इसके अतिरिक्त नौकरीमें नैरन्तर्य देकर, श्रमजीवीके सामाजिक स्थान, मजूरी तथा गतिशीलता में वृद्धि करके, कार्य करनेके समयको कम करके तथा कार्य-स्थानके वातावरणको उन्नत करके भी यह अवस्था प्राप्तकी जासकती है। नौकरीमें नैरन्तर्य अत्यन्त आवश्यक है। उत्पादन कार्यमें श्रमकी उतनीही आवश्यकताहै जितनी अन्य साधनोंकी। इसकारण श्रमजीवीको भी समाजमें वही स्थान मिलना चाहिए जो अन्य साधनोंके स्वामियोंको मिलता है। इसके लिए श्रमजीवियों की सौदा करनेकी शक्तिमें श्रमिक संघों की स्थापना द्वारा वृद्धि करना आवश्यक है। इसके

अतिरिक्त उद्योग-धन्धोंके संचालन कार्यमें श्रमजीवियों का भी हाथ होना चाहिए। उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होनेके साथ साथ श्रमजीवीकी मजूरीमें वृद्धि होनी चाहिए। यन्त्रोंके अधिकाधिक उपयोगके कारण श्रम करनेके स्थानका वातावरण उन्नत अवश्य हुआहै परन्तु श्रमके कारण होनेवाली थकावटमें वृद्धि हुई है। उत्पादन विधिमें उन्नति होनेके कारण श्रम करनेके घंटोंको उत्पत्तिकी मात्रामें कमी किये बिनाही कमकिया जासकता है। श्रमकी गतिशीलता बढ़ानेके उद्देश्यसे न केवल एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए वरन् एक व्यवसायसे दूसरे व्यवसायको अपनाने के लिए सुगमता प्राप्त होनी चाहिए।

उत्पादन विधिमें परिवर्तनोंके कारण मांग और पूर्तिका पूर्ण समन्वय न होनेसे थोड़ी बहुत बेकारीका किसीभी समाजमें रहना अनिवार्य है। यदि समाज किसी व्यक्तिको श्रम करनेका अवसर देकर आजीविका कमानेके योग्य नहीं बनाता तो समाजका यह प्रथम कर्तव्यहै कि उस व्यक्ति को निर्वाह मात्रके लिए जीवन सामग्री दे। इसके लिए बेकारी बीमा करवाना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह उठताहै कि इस कार्यक्रमको व्यावहारिक रूपमें परिणत करने और इसकी सफलताके लिए उचित वातावरण उत्पन्न करनेका उत्तरदायित्व किसे सौंपना चाहिए। सरकारको समाजके प्रतिनिधिके रूपमें इस कार्यको अपने हाथमें लेलेना चाहिए। सरकार इस उत्तरदायित्वका विकेन्द्रीकरण स्थानीय और प्रान्तीय संस्थाओंके सृजन द्वारा करसकती है। केन्द्रीय संस्था योजनाको तैयार करने, इसको कार्य रूपमें परिणत करनेका प्रबन्ध करने, स्थानीय तथा प्रान्तीय संस्थाओंके कार्यमें परस्पर सहयोग स्थापित करने इत्यादिका उत्तरदायित्व लेसकती है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय और स्थानीय संस्थाओंमें श्रमविभाजन समाजवादियोंके मतानुसार किसप्रकार होना चाहिए, इसका विवेचन पहिले होचुका है। व्यक्तिगत प्रयत्नमें विश्वास रखनेवाले अर्थशास्त्री पूंजीवादी संस्थाओंका सरकार द्वारा इसप्रकार नियन्त्रण करनेका मत प्रकट करते हैं कि वे स्वार्थसिद्धि के लिए प्रतिस्पर्धा द्वारा अन्य संस्थाओंको हानि न पंहुचा सकें किन्तु सहयोग द्वारा अपना तथा जनसाधारण का उपकार करनेके लिए विवश होजायें।

१७

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय का अर्थ

किसी देशके निवासियोंके हितार्थ किसी निश्चित समयके भीतर उत्पन्न कीगयी वस्तुओं तथा सेवाओंको उस देशकी राष्ट्रीय आयके नामसे पुकारा जाता है। मार्शलने राष्ट्रीय आयकी परिभाषा इसप्रकार की है। 'किसी देशमें प्राप्त श्रम तथा पूंजीद्वारा वर्षभर में उसकी प्राकृतिक सामग्रीसे विविध प्रकारकी स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुएं, जिनके अन्तर्गत विविध प्रकारकी सेवाएं भी आती हैं, उत्पन्न कीजाती है। इन उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओंकी मात्राका नामही उस देशकी राष्ट्रीय आय है। आयको प्राय: द्रव्यके रूपमें परिणत करके दिखानेकी प्रथा प्रचलित है। स्मरण रहे कि उत्पादन सामग्रीके व्यवहारमें आनेके कारण प्रतिवर्ष उसके मूल्यमें जो ह्रास हो जाताहै उसको उस वर्षमें उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओंके कुल मूल्यसे निकालकर शेष बचेहुए मूल्यको ही राष्ट्रीय आय मानाजाता है।

ऐसाभी होसकता है कि एक देशके वासियोंने किसी अन्य देशमें भूमि, उत्पादन संस्थाओं अथवा अन्य उत्पादनके साधनोंपर स्वामित्व प्राप्त करलिया हो और इस कारण विदेशमें उत्पन्न कीगयी वस्तुओं तथा सेवाओंपर उनका अधिकार हो। इस प्रकारकी उत्पत्तिको भी पहिले देशकी आयमें गणना करनेकी प्रथा है। इसीप्रकार पहिले देशमें उन साधनों द्वारा प्राप्त उत्पत्तिको जिनके स्वामी अन्य देशके वासी हों, उस देशकी राष्ट्रीय आयसे निकाल देना चाहिए।

इस सम्बन्धमें यह कहदेना भी आवश्यकहै कि फ़िशर राष्ट्रीय आयकी मार्शल द्वारा दीगयी परिभाषासे मतभेद प्रकट करता है। मार्शलके अनुसारतो एकओर वर्षभर में उत्पन्न कीगयी वस्तुओं और कृत सेवाओंकी सूची बना लीजिए और दूसरी ओर संग्रहीत पूंजीमें होनेवाले ह्रासकी सूची। इन दोनोंका अन्तरही राष्ट्रीय आयका

परिमाण है। परन्तु फ़िशरके मतानुसार राष्ट्रीय आयमें केवल उन वस्तुओं और सेवाओंकी गणना होनी चाहिए जिनका कि वर्षभर में उपभोग कियाजाता है। इस प्रकार यदि हम किसी वर्षमें एक मकान बनवायें तो मार्शलके मतानुसार उस मकान का कुल मूल्य उस वर्षकी राष्ट्रीय आयमें शामिल करना चाहिए। परन्तु फ़िशरके मतानुसार मकानके केवल उस अंशका मूल्य शामिल करना चाहिए जिसका कि वर्षभर में प्रयोग कियागया है। तर्ककी दृष्टिसे फ़िशरकी परिभाषा अधिक सराहनीय प्रतीत होती है, परन्तु इसके व्यावहारिक प्रयोगमें इतनी कठिनाइयां हैं कि राष्ट्रीय आयका परिमाण मालूम करनेके लिए प्रायः मार्शलकी ही परिभाषा काममें लायीजाती है।

राष्ट्रीय आय की माप-विधि

राष्ट्रीय आयका परिमाण मापते समय इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कहीं वस्तुके मूल्यकी दो या दो से अधिक बार गणना न होजाये। ऐसा होनेकी सम्भावना इसकारण रहतीहै कि एक उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न वस्तुएं किसी दूसरे उद्योग धन्धेमें कच्चे मालकी तरह काम आती है। सूत कातनेवाली संस्थाओं द्वारा उत्पन्न कियाहुआ सूत कपड़ा बुननेवाली संस्थाओंके लिए कच्चा मालही तो है। यदि एक वर्षमें उत्पन्न सूत उसी वर्षमें उत्पन्न कपड़ेमें परिणत होजाता है तो राष्ट्रीय आय में कपड़ेके मूल्यकी गणना करलेने पर सूतके मूल्यकी गणना नहीं करनी चाहिए।

पीगूके मतानुसार राष्ट्रीय आयको आंकते समय केवल उन वस्तुओं और सेवाओं की गणना करनी चाहिए जिनका कि द्रव्यके रूपमें मूल्य निकालकर लेन देन होता है। परन्तु उन्होंने स्वयं स्वीकार करलिया है कि उनके मतमें बहुतसी त्रुटियां है। क्रय-विक्रय कीजानेवाली और न कीजानेवाली वस्तुओं और सेवाओंमें कोई स्वभाव-सिद्ध अन्तर नहीं होता और प्रायः एक प्रकारकी वस्तुओं और सेवाओंका दूसरे प्रकार में परिणत होना असम्भव नहीं। यदि कोई मनुष्य किरायेके मकानमें रहताहै तो उस मकानसे प्राप्त होनेवाली सेवाओंका राष्ट्रीय आयमें समावेश होताहै परन्तु यदि वह मकान उसका अपना हो तो नहीं। इसीप्रकार यदि कोई मनुष्य बिनामूल्य प्राप्तकिये अपनी या अपने कुटुम्बियोंकी सेवा करताहै तो उसके मूल्यकी राष्ट्रीय आयमें गणना

नहीं होती परन्तु यदि वही सेवा वेतन लेकर किसी दूसरेकी कीजाये तो उसकी राष्ट्रीय आयमें गणना होगी। बिना वेतन प्राप्त किये लोक-सेवाके लिए कियेगये राजनीति, ज्ञान-विज्ञान इत्यादिसे सम्बन्ध रखनेवाली सेवाओंको भी राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित नहीं किया जाता। कारण यहहै कि इसप्रकार की सेवाओंके मौद्रिक मूल्यका अनुमान करना कठिन है। कृषिद्वारा उत्पन्न उन वस्तुओंका जिनको कृषक अपने उपभोगके लिए रखकर मंडीमें नहीं बेचता, राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित करना ही उचित समझा जाता है। परन्तु आवश्यक आंकड़े न मिलनेके कारण कृषि प्रधान देशोंकी राष्ट्रीय आयको ठीक ठीक आंकना सुलभ नहीं। कमसेकम वास्तविक आयका आंकीहुई आयसे अधिक होनातो निश्चितही है।

सरकार द्वारा प्राप्त सेवाओंकी गणनाभी कठिनाइयोंसे खाली नहीं। शान्तिके समयमें भी यह निश्चित करना कठिनहै कि उन सेवाओंका कितना अंश देशके उत्पादन कार्यको सुचारु रीतिसे चलानेके लिए आवश्यक था और इसलिए उसका मूल्य उत्पन्न वस्तुओंके मूल्यमे आंका जा चुकनेके कारण दोबारा न आंकना चाहिए। युद्ध-सामग्रीको राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित करलेना ही अबतक उचित समझाजाता है। राष्ट्रीय आय प्राय: वर्षभर के लिए आंकनेकी प्रथा है। वस्तुओंका यदि वर्ष भरमें क्रय-विक्रय हुआहो तो उनका विक्रय-मूल्य अन्यथा उनका उत्पादन-व्यय उनके मौद्रिक मूल्यका द्योतक है।

वैकल्पिक माप-विधियां

उत्पादन कार्य उत्पादनके साधनोंसे सम्पन्न होता है। उत्पादन कार्यमें साधनोंकी नियुक्ति उन साधनोंके स्वामियोंको भूमि-कर, वेतन, ब्याज, लाभ इत्यादि देकर कीजाती है। साधनोंके स्वामियोंको इसप्रकार प्राप्त कुल आय उन साधनों द्वारा उत्पन्न कुल उत्पत्तिके मूल्यके सम होती है। किसीभी संस्था द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का मूल्य या तो उपभोक्ताओंसे मिलताहै या दूसरी संस्थाओंसे। और इसप्रकार प्राप्त कुलमूल्य एकतो भूमि-कर, वेतन, ब्याज, लाभ आदि देनेमें, दूसरे अन्य संस्थाओं से वस्तुएं खरीदनेमें और तीसरे पूंजीके ह्रासको पूरा करनेमें व्यय कियाजाता है। इसप्रकार प्राप्त कुल मूल्यका उपरिलिखित तीन व्ययोंके समान होना आवश्यक

है। हिसाब किताबके बहीखातोंमें इस आय व्ययको सम दिखाया जाता है। यदि व्यय आयसे अधिकहै तो दोनोंका अन्तर हानिके रूपमें दिखाकर आय व्ययको सम करदिया जाताहै। वस्तुओं और सेवाओंके मूल्य तथा उत्पादनके साधनोंके स्वामियोंको दियेगये भुगतानमें समता होनेके कारण किसी देशके वासियोंकी मौद्रिक आय मालूम करनेसे भी उस देशकी राष्ट्रीय आय मालूम की जासकती है। बल्कि इस प्रकार राष्ट्रीय आयकी गणना करनेमें भूलचूक की कम सम्भावना है। यह आयभी दो ढंगसे मालूमकी जासकतीहै। एक ढंगतो यहहै कि आय-कर देनेवाले और आयकर न देनेवाले लोगोंकी आयको जोड़लिया जाय और दूसरा ढंग यहहै कि विभिन्न प्रकारके उत्पादन सम्बन्धी कार्योंमें भाग लेनेवालों की संख्या तथा आय मालूम कर लीजाये। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यकहै कि बिना सेवाकिये प्राप्त आय, वृद्धावस्थाके कारण प्राप्त सरकारी वृत्ति, युद्ध-ऋणसे प्राप्त ब्याज और छल कपट से पायीहुई आय इत्यादिकी गणना नहीं करनी चाहिए।

राष्ट्रीय आयको आंकनेका एक ढंग यहभी होसकता है कि प्रत्येक संस्था या उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न कीगयी वस्तुओंकी मात्राके मूल्यमें से उन वस्तुओंकी मात्राका मूल्य निकाल दियाजाये जिनका कि उस संस्था या उद्योग धन्धोंमें प्रयोग कियागया है। परन्तु यह ढंग आजतक व्यावहारिक दृष्टिसे असफलसा रहा है।

राष्ट्रीय आय और भौतिक कल्याण

राष्ट्रीय आय किसी राष्ट्रकी उत्पत्तिका परिमाण होनेके कारण उस राष्ट्रके भौतिक कल्याणकी द्योतक होसकती है परन्तु इसके द्रव्यके रूपमें परिणत करदेने से ऐसा होनेकी भी सम्भावनाहै कि वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रामें तो तनिकभी वृद्धि न हो, फिरभी उनके मूल्यमें वृद्धिके कारण राष्ट्रीय आयके मौद्रिक रूपमें वृद्धि होजाये। इसकारण एक वर्ष या राष्ट्रकी आयकी किसी दूसरे वर्ष या राष्ट्रकी आयसे तुलना करतेसमय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुओंके मूल्यमें होनेवाले परिवर्तनोंके प्रभावको निकाल दियागया है। ऐसा तभी होसकता है जबकि हम दूसरे वर्ष या राष्ट्रमें उत्पन्न वस्तुओंको द्रव्यके रूपमें परिणत करते समय उन्हीं मूल्योंका प्रयोग करें जो पहिले वर्ष या राष्ट्रमें प्रचलित थे। दो राष्ट्रोंकी राष्ट्रीय आयकी

तुलना तो औरभी कठिनहै क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रीय आयको मौद्रिक रूपमें निकालते समय अपने निजी द्रव्यका प्रयोग करता है। एक राष्ट्रके द्रव्यको विदेशी विनिमयकी दरकी सहायतासे दूसरे देशके द्रव्यमें परिणत करनेसे भी तुलना सम्भव नहीं क्योंकि विदेशी विनिमयकी दरपर राष्ट्रकी उत्पत्तिके केवल उस थोड़ेसे अंशका प्रभाव पड़ताहै जिसका कि आयात-निर्यातके लिए क्रय-विक्रय होता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके लोगोंकी रुचियोंमें अन्तर होनेके कारण उनमें उत्पन्न वस्तुओंकी मात्रा एवं गुणोंमें भी अन्तर होनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार एकही राष्ट्रके लोगोंकी रुचियोंमें समय समयपर परिवर्तन होसकता है और यदि यहभी मानलिया जाये कि उपभोक्ताओंकी रुचियां तथा आवश्यकताएं दोनों राष्ट्रों या वर्षों में एकसी ही थीं तोभी उनके द्वारा उपभोग कीजाने वाली वस्तुओंके समूहमें मूल्य-परिवर्तनोंके कारण परिवर्तन होनेकी सम्भावना है। किसी वस्तुका मूल्य न्यूनाधिक होनेसे आय तथा स्थानापन्न प्रभावों द्वारा उन वस्तुओंके समूहमें उस वस्तुकी मात्रा के न्यूनाधिक होनेका विवेचन पहिले किया जाचुका है।

राष्ट्रीय आय द्वारा हम यहतो मालूम करसकते है कि अमुक राष्ट्र या वर्षमें उत्पत्तिकी मात्रा अमुकथी परन्तु इस मात्राको उत्पन्न करनेके लिए कितना परिश्रम करना पड़ा, इस बातका ज्ञान राष्ट्रीय आयके आंकड़ोंसे नहीं होता। दो राष्ट्रोंमें राष्ट्रीय आयकी मात्रा एकसी होनेपर भी उसके द्वारा प्राप्त भौतिक कल्याणमें भिन्नताका होना असम्भव नहीं क्योंकि होसकता है कि उस मात्राकी प्राप्तिके लिए उनमें से एकको दूसरेसे अधिक श्रम अथवा समयका व्यय करना पड़ाहो। अथवा एक राष्ट्रमें किसी वस्तुके प्राकृतिक बाहुल्यके कारण उस वस्तुकी प्राप्ति बिना मूल्य दिये सम्भव होनेसे लोगोंके भौतिक कल्याणमें तो वृद्धि होगी, यद्यपि उस वस्तुकी राष्ट्रीय आयमें गणना करना सम्भव नहीं।

राष्ट्रीय आयकी वृद्धिकी मात्राको भौतिक कल्याणकी वृद्धिकी मात्राका द्योतक मानने में एक औरभी अड़चन है। जैसे जैसे राष्ट्रीय आयकी मात्रा बढ़तीजाती है, वैसे वैसे उसकी वृद्धिसे प्राप्त होनेवाले भौतिक कल्याणकी मात्रामें सीमान्त उपयोगिता के क्रमशः ह्रासका नियम लागू होनेके कारण कमी होती चलीजाती है। राष्ट्रीय आय यदि १०० करोड़ रुपये से बढ़कर १५० करोड़ रुपये होजाये तो भौतिक कल्याण में वृद्धि अवश्य होगी परन्तु जब राष्ट्रीय आय १५० करोड़ रुपये से बढ़कर

२०० करोड़ रुपये होजाये तो इस ५० करोड़ रुपये की वृद्धिसे भौतिक कल्याणमें उतनी वृद्धि न होगी जितनी कि उस ५० करोड़ रुपये की वृद्धिसे हुईथी, जब आय १०० करोड़ से १५० करोड़ रुपये हुईथी।

राष्ट्रीय आयकी गणना करनेके लिए विभिन्न प्रकारकी पूंजीका वर्षके आरम्भ तथा अन्तमें मूल्य आंकना पड़ता है। मूल्य आंकनेके लिए कोई एक निश्चित विधि नहीं है। इसकारण विविध प्रकारकी विधियोंका प्रयोग करनेसे राष्ट्रीय आयकी गणनामें भारी अन्तर होना असम्भव नहीं।

राष्ट्रीय आय मापने के लाभ

इन सब त्रुटियोंके होतेहुए भी राष्ट्रीय आयकी गणना नितान्त निष्फल नहीं। इसके द्वारा निरपेक्ष उत्पत्तिकी मात्राका नही तो कमसेकम सापेक्ष उत्पत्तिकी मात्राका तो पता चलसकता है और इसकारण दो राष्ट्रों या वर्षोंमें तुलनाकी जासकती है। राष्ट्रीय आयके मौद्रिक रूपका निकालनाभी कई कारणोसे आवश्यकसा है। इससे हम यह मालूम करसकते हैं कि राष्ट्रीय आयका कितना अंश उपभोग्य पदार्थोंकी उत्पत्तिके रूपमें था और कितना उत्पादन-सामग्रीके रूपमें। मौद्रिक रूप द्वारा हम यहभी ज्ञान प्राप्त करसकते हैं कि राष्ट्रीय आयका कितना अंश व्यवस्थापकोंको, कितना पूंजीपतियों को, कितना भूमि-स्वामियोंको और कितना श्रमजीवियोंको मिला—अर्थात् इस आयका वितरण किसप्रकार से हुआ? भूमि-कर, मजूरी, ब्याज तथा लाभ इत्यादि उत्पादनके साधनोंको मिलनेवाले राष्ट्रीय आयके भागोंकी मात्रा निश्चित करनेके लिए समय समयपर भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंका सृजन होतारहा है। उनका विवेचन आगामी अध्यायोंमें कियाजायेगा। इस स्थानपर केवल इतना कह देना आवश्यकहै कि अन्य वस्तुओंके समानही उत्पादनके साधनोंका भी मूल्य होता है और यह मूल्य उसीप्रकार निर्धारित होताहै, जैसे अन्य वस्तुओंका मूल्य। इसके निर्धारणकी क्रियाका हम किसी अन्य स्थानपर भलीप्रकार विवेचन करचुके हैं। हम देखचुके हैं कि पूर्तिकी ओरसे वस्तुके सीमान्त उत्पादन-व्ययको और मांगकी ओरसे सीमान्त उपयोगिताको महत्व दियाजाता है। इसीप्रकार उत्पादनके साधनों के स्वामियोंको भी साधन-विशेषके उत्पादनके लिए विभिन्न प्रकारका व्यय करना

पड़ताहै और वह अपने साधनको उसके सीमान्त-उत्पादन-व्ययसे कम मूल्यपर देने के लिए उद्यत नहीं होसकते। इसलिए पूर्तिकी ओरसे उस साधनका सीमान्त उत्पादन-व्ययही उसके मूल्यको निर्धारित करता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि भिन्न भिन्न सिद्धान्त इस उत्पादन व्ययकी भिन्न साधनोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारसे गणना करते है। परन्तु गणना चाहे किसीभी ढंगसे हो, इसमें सन्देह नहीं कि साधन विशेषके मूल्यको निर्धारित करनेमें उसके सीमान्त उत्पादन-व्ययसे सहायता लेनी पड़ती है। हम यहभी देख चुकेहै कि मूल्यके सीमान्त-उत्पादन व्यय सिद्धान्तमें यह दोषथा कि यह सिद्धान्त केवल वस्तुओंकी पूर्तिको महत्व प्रदान करताथा, मांगको नहीं। मांगको मूल्य निर्धारणकी क्रियामें स्थान देनेके लिए उपयोगिताके क्रमशः ह्रास नियमसे सहायता लेकर सीमान्त उपयोगिताको वस्तुओंके मूल्यका कारण और माप ठहराया गयाथा। वस्तुओंकी मांग इसलिए होतीहै कि उनसे उपयोगिता प्राप्त होती है। उत्पादनके साधनोंकी मांग इसलिए होतीहै कि उनके नियोगसे उत्पादन होता है। अन्य साधनोंकी मात्रामें परिवर्तन कियेबिना किसी साधन विशेषकी मात्रामें वृद्धि करते रहनेसे उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें क्रमशः ह्रास होने लगता है। कोईभी व्यवस्थापक उस साधनकी मात्रामें तबतक वृद्धि करता रहेगा जबतक कि उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिका मूल्य उस साधनकी वृद्धिकी मात्रापर कियेगये व्ययके सम नहीं होजाता। साधनकी उस इकाईको जिसे कोई व्यवस्थापक किसी विशेष मूल्यपर उत्पादन कार्यमें नियुक्त करनेके लिए केवल उद्यतमात्र ही होपाता है, सीमान्त इकाई कहतेहै और इस इकाई द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्राके मूल्यको उस साधनकी सीमान्त उत्पत्ति कहते हैं। अन्य साधनोंको ज्योंका त्यों रखकर साधन विशेषकी मात्रामें एक और इकाईकी वृद्धि करनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें जो वृद्धि प्राप्त होतीहै, उसके मूल्यको भी उस साधनकी सीमान्त उत्पत्ति कहा जासकता है। जिसप्रकार वस्तुकी सब इकाइयोंका मूल्य सीमान्त इकाईसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताके सम होता है, उसीप्रकार साधनकी सब इकाइयोंका मूल्य उसकी सीमान्त इकाईसे मिलनेवाली उत्पत्तिके मूल्यके भी सम होता है।

हम देखचुके है कि वस्तुओंके मूल्यके सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्तमें कईएक दोष थे। साधनोंके मूल्यके सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्तमें उससेभी अधिक दोष हैं। उत्पादन के लिए चारों साधनोंका सहयोग आवश्यक है। किसी एकही साधन द्वारा वस्तुओं

का उत्पादन सम्भव नहीं। इसकारण साधन विशेषकी मात्रामें वृद्धिसे प्राप्त होने वाली अधिक उत्पत्तिको उसी साधनकी उत्पत्ति मानना तर्कयुक्त नहीं क्योंकि उसमें अन्य साधनोंका सहयोगभी वर्तमान है, उत्पत्ति अधिकतम प्राप्त करनेके लिए साधनोंको विशेष अनुपातमें एकत्रित करना आवश्यक है। ऐसी दशामें एकही साधनकी मात्रामें वृद्धि करनेसे इस अनुपातको भंग करनेके कारण उत्पत्तिकी मात्रा में वृद्धिके स्थानमें ह्रास होनेकी भी सम्भावना है। इसकारण कईएक अर्थशास्त्रियोके विचारमें साधन विशेषकी मात्राको न्यूनाधिक करना सम्भवही नहीं, क्योंकि किसी कालमें प्रचलित उत्पादन-विधिके अनुसार चारों साधनोंको विशेष अनुपातमें एकत्रित करनेसे ही प्राप्त होसकता है अन्यथा नहीं। इसकारण साधन-विशेषकी मात्रा को न्यूनाधिक करके उसकी सीमान्त उत्पत्ति मालूम करना सम्भवही नहीं। ऐसाभी होसकताहै कि साधनविशेष की किसी विशेष संस्थामें सीमान्त उत्पत्ति तो कमहो किन्तु पूरे उद्योगमें अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे प्राप्त होनेवाली मितव्ययिताके कारण अधिक। इसकारण जबतक उत्पत्तिकी क्रमशः वृद्धिका नियम लागू होता रहताहै तबतक सीमान्त उत्पत्तिका निश्चित रूपसे मालूम करना कठिन है। साधनों के मूल्यका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त केवल उनकी मांगकी ओर ध्यान देताहै, पूर्ति की ओर नहीं। मूल्यको सम्यक रीतिसे निश्चित करनेके लिए हमें मांग और पूर्ति दोनोंको एकही सा महत्व देना होगा। किसी उत्पादनके साधनका मूल्य किसी अन्य वस्तुके मूल्यके समानही उससमय सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त करेगा जबकि उस मूल्यपर उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित उस साधनकी पूर्ति, सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निश्चित उस साधनकी मांगके सम होजायेगी।

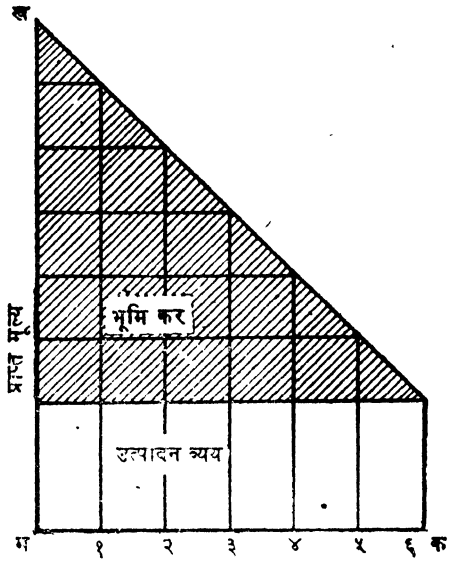
१८

भूमि-कर

रिकार्डो का भूमि-कर सिद्धान्त

अर्थशास्त्रकी भाषामें भूमि-कर उस पुरस्कारको कहाजाता है जो भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनोंके स्वामियोंको इन साधनोंके उत्पादन-कार्यमें सहायता देनेके फलस्वरूप प्राप्त होताहै। रिकार्डोके मतानुसार भूमि-कर भूमिद्वारा प्राप्त उत्पत्ति-की उस मात्राको कहतेहैं जो भूमिपतियोंको भूमिकी प्राकृतिक तथा सनातन शक्तियों का उपयोग करनेकी अनुमति प्रदान करनेके बदले दीजाती है। रिकार्डो और उसके अनुयायियोंका विश्वासथा कि किसी देशमें कुल उपलब्ध भूमिका कृषिके उपयोगमें लायाजाना आवश्यक नहीं है। आरम्भमें तो केवल अधिक उत्पादन भूमि पर खेती कीजाती है क्योंकि उससे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा जन-समुदायकी आवश्यकता-ओंको तृप्त करनेके लिए पर्याप्त होती है। परन्तु जनसंख्यामें वृद्धि होनेपर अधिक उत्पादक भूमि अपर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होनेके कारण, अधिक मात्रामें उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए अधिक उत्पादक भूमि परही अधिकाधिक मात्रामें श्रम और पूंजीका व्यय करना होगा, अथवा कम उत्पादक भूमिके भागोंपर कृषि करनी होगी। दोनों स्थितियोंमें पहिलेके समानही श्रम और पूंजी लगानेपर प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें कमी आने लगेगी अर्थात् सीमान्त उत्पादन व्ययमें वृद्धि होने लगेगी। हम देख चुके हैं कि उत्पत्ति का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययसे निर्धारित होता है, इसलिए कृषिकी उत्पत्तिका मूल्यभी उस उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होगा जो न्यूनतम उत्पादक भूमिपर कृषि करनेके लिए उठाना पड़ताहै अथवा श्रम तथा पूंजी-के निम्नतम प्रयोगपर कियेगये व्ययके सम होगा। सीमान्त कृषक अन्य कृषकोंकी प्रतिस्पर्धाके कारण अपने सीमान्त उत्पादन व्ययसे अधिक मूल्य नहीं लेसकता और इसकारण सीमान्त भूमि या श्रम और पूंजीके सीमान्त प्रयोगपर कोई कर नहीं

मिलता। इसीकारण रिकार्डोने उत्पादन व्ययमें भूमि-कर का समावेश न होनेके सिद्धान्तकी रचना की। मूल्य तो निर्धारित होताहै सीमान्त भूमि अथवा श्रम और पूंजीके सीमान्त प्रयोगसे जिस पर कोई कर नहीं मिलता। इसकारण अधिक उत्पादक भूमिभागों पर अथवा पूंजी और श्रमके अधिक लाभदायक प्रयोगों पर कर मिलताहै क्योंकि उनके उत्पादन व्यय तो सीमान्त उत्पादन व्ययकी अपेक्षा कम होते है परन्तु बाज़ारभाव सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होते हैं। फलत: भूमि-कर उत्पादकोंकी बचतहै और यह मूल्य द्वारा निर्धारित होताहै न कि वह स्वयं मूल्यको निर्धारित करता है। रेखाशास्त्रकी सहायतासे भूमि-कर उसीप्रकार



भूमि अथवा श्रम और पूंजी के क्रानुपूर्विक प्रयोग

दिखाया जासकता है जैसेकि उपभोक्ताकी बचत। 'म,क' मुख्य रेखापर भिन्न प्रकारकी उत्पादक भूमि अथवा पूंजी और श्रमकी क्रमश: प्रयुक्त मात्राएं दिखायी जाती हैं और 'म,ख' रेखापर प्राप्त उत्पत्तिका मूल्य। उत्पत्तिकी उपलब्ध मात्रामें क्रमश: ह्रास होता जाताहै जैसेकि उपभोक्ताकी बचतमें उपलब्ध उपयोगिताका

क्रमशः ह्रास होता जाता था। प्रत्येक प्रकारकी भूमि अथवा श्रम और पूंजीके प्रयोगपर व्यय तो एकसा होताहै परन्तु उपलब्ध उत्पत्तिकी मात्रामें अन्तर होनेके कारण कुल प्राप्त मूल्यमें अन्तर होता है, जिस भागको रेखाओं द्वारा अंकित कियागया है वह प्राप्त भूमि-कर का द्योतक है।

भूमि-करके अस्तित्वकी व्याख्या इसप्रकार भी की जासकती है। मानलीजिए किसी भूमिपतिके पास भिन्न भिन्न उत्पादन शक्तिवाले भिन्न भिन्न भागहैं और वह उनपर स्वयंतो कृषि नहीं करता परन्तु उन सबको आसामियोंको कृषि करनेके लिए देता है। अधिक उत्पादक भूमि भागोंपर अधिक उत्पत्ति होगी और कम उत्पादक भूमि भागोंपर कम यद्यपि उन सबपर एकसा ही श्रम तथा पूंजीका प्रयोग कियाजाता है। अथवा कम उत्पादक भूमिभागोंपर अधिक श्रम और पूंजीका प्रयोग करके भी सबपर एकसी ही उत्पत्तिकी मात्रा उत्पन्नकी जासकती है। इसकारण अधिक उपजाऊ भूमिवाले आसामी न्यूनतम उत्पादक भूमिसे अधिक प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्राको भूमिपतिको भूमि-करके रूपमें देनेके लिए उद्यत् होजायेंगे क्योंकि इसमें उनकी कुछ भी हानि नहीं। मान लीजिए कि अधिकतम उत्पादक भूमिपर ८० मन गेहूं उत्पन्न होताहै और अन्य भागोंपर क्रमशः ७०, ६०, ५०, ४० मन। विभिन्न भूमि-भागोंसे इस अवस्थामें भूमिपतिको ४०, ३०, २०, १० मन गेहूं भूमि-करके रूपमें प्राप्त होगा।

इससे स्पष्टहै कि किसी विशेष आसामीके हानि लाभके ब्योरेमें भूमि-करको व्ययके रूपमें दिखाना ही पड़ेगा। अर्थात् उसके उत्पादन व्ययमें भूमि-करभी एक अंगके रूपमें शामिल होगा और इसकारण उसकेलिए मूल्यका एक अंग होगा। परन्तु उपभोक्ताओंसे लिया जानेवाला मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होता है और हम देखचुके हैं कि सीमान्त उत्पादन व्यय उस भूमि अथवा श्रम और पूंजी के उस प्रयोगपर होनेवाले व्ययको कहते हैं जिससे कोई भूमि-कर प्राप्त नहीं होता। इसकारण भूमि-कर भिन्न भिन्न उत्पादन शक्तिवाली भूमियों अथवा श्रम और पूंजीकी मात्राओंके भिन्न भिन्न प्रयोगोंपर होनेवाले व्ययको एकसा बनादेता है अर्थात् भूमि-करके कारण प्रत्येक आसामीको एकसा ही उत्पादन व्यय उठाना पड़ता है यद्यपि भिन्न भिन्न आसामियोंको मिलनेवाली भूमियोंकी उत्पादनशक्ति एकसी नहीं होती।

रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना

रिकार्डोके भूमि-कर सिद्धान्तकी कई आलोचनाएं कीगयी हैं। इस सिद्धान्तके मुख्य अंग दो हैं। एकतो यहहै कि भूमि-कर किसी भूमिकी प्राकृतिक स्थिति अथवा सनातन उत्पादन शक्तिके कारण प्राप्त होनेवाला सापेक्ष अतिरिक्त लाभहै और दूसरे ऐसी भूमियोंका अस्तित्व जिनसे भूमि-कर प्राप्त नहीं होता।

कई लोगोंका विचारहै कि भूमिकी उत्पादन शक्ति सनातन नहीं। उसमें ह्रास होता रहताहै और श्रम तथा पूंजीके प्रयोगसे उसका पुनर्नवीकरण कियाजाता है। इसप्रकार श्रम और पूंजीके व्ययसे प्राप्त भूमिकी स्थायी उन्नतिका उसकी प्राकृतिक शक्तियोंसे भेद करना असम्भव होजाता है। भूमिकी उत्पादन शक्ति सनातन हो अथवा न हो परन्तु भूमिमें कुछ गुण ऐसे अवश्य होतेहैं जो अन्य साधनोंमें नहीं होते। रिकार्डोका संकेत इन गुणोंकी ओर था। स्थायी उन्नतिके लिए कियेगये भुगतानको रिकार्डोने भी भूमि-करमें सम्मिलित करना स्वीकार करलिया है। इस दृष्टिसे एडम स्मिथने भूमि-करकी रिकार्डोसे अधिक उपयुक्त परिभाषा की है। उसके मतानुसार भूमि-कर कुछतो किसी समाजकी सामान्य परिस्थितिपर निर्भर है और कुछ भूमिकी प्राकृतिक एवं कृत्रिम उत्पादन शक्तिपर। कृत्रिम उत्पादन शक्तिसे स्थायी उन्नति द्वारा और समाजकी सामान्य परिस्थितिसे जन-संख्यामें वृद्धि द्वारा भूमि-करपर पड़नेवाले प्रभावकी ओर संकेत है।

कुछ लोगोंके विचारानुसार यह सत्य नहीं कि सर्वप्रथम अधिकतम उत्पादक भूमि परही कृषि-कार्य प्रारम्भ किया जाताहै और फिर शनैः शनैः क्रमशः कम उत्पादक भूमियोंपर। बल्कि वास्तवमें प्रायः कम उत्पादक भूमिभागोंका उपयोग पहिले किया जाताहै और अधिक उत्पादक भूमिभागोंका उसके बाद। सिद्धान्तकी सिद्धिके लिए इस क्रमका कोई महत्व नहीं है। केवल भूमिभागोंकी उत्पादन शक्ति में भिन्नताके अस्तित्वकी आवश्यकता है। जबतक यह भिन्नता विद्यमानहै तबतक अधिक उत्पादक भागोंको भूमि-कर प्राप्त होता रहेगा।

ऐसाभी कहाजाता है कि संसारमें कोईभी भूमिभाग उपलब्ध नहीं जिसके प्रयोग के लिए कुछ न कुछ भूमि-कर प्राप्त न होता हो। मिलके अनुसार इसका कारण यह होसकताहै कि भूमि-कर प्राप्त न करनेवाले भागोंका भूमि-कर प्राप्त करने

वाले भागोंसे सम्मिश्रण होनेके कारण प्राप्त औसत भूमि-करमें न्यूनता आजाती है। यहभी सम्भवहै कि भूमि-करके रूपमें किया जानेवाला भुगतान केवल उस भूमिकी श्रम और पूंजी द्वारा कीगयी उन्नतिका ही पुरस्कार मात्र हो। इसके अतिरिक्त यदि यहभी मानलिया जाये कि भूमि चाहे किसीभी प्रकारकी हो उसको उपयोगमें लानेके लिए आसामी भूमिपतिको कुछ न कुछ करके रूपमें देताहै तो भूमि-कर वंचित भूमिसे रिकार्डोका अभिप्राय उस भूमिसे था, जिससे प्राप्त उत्पत्ति केवल उत्पादन-व्ययको पूरा करनेके लिए पर्याप्तभर हो। उत्पादन-व्ययमें भूमिपतिको दिया जानेवाला करभी सम्मिलित करलिया जाताहै परन्तु ऐसी भूमिसे ऐसी कोई भी प्राप्ति नहीं होती जिसे अर्थशास्त्रकी परिभाषामें भूमि-कर कहाजाता है और इस दृष्टिसे उसे हम भूमि-कर वंचित भूमि कहसकते है।

किसी विशेष भूमि भागका भूमि-कर ज्ञात करनेके लिए भूमि-कर वंचित भूमि की उत्पत्ति आवश्यक नहीं। उस भूमि भागपर श्रम और पूंजीके सीमान्त प्रयोग द्वारा प्राप्त उत्पत्ति भूमि-कर वंचित भूमिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम है। कुल उत्पादन व्यय मालूम करनेके लिए श्रम और पूंजीकी सीमान्त मात्रासे प्राप्त उत्पत्तिको सीमान्त मात्राके सम लगायीगयी कुल मात्राओंसे गुणा करदेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक मात्रापर कियागया व्यय सीमान्त मात्रासे प्राप्त उत्पत्तिके सम होता है। इस उत्पादन व्ययमें कृषककी मजूरीभी सम्मिलित है। उत्पत्तिकी कुल उपलब्ध मात्रा इस उत्पादन व्ययसे अवश्यही अधिक होगी क्योंकि सीमान्त मात्रासे पहिले प्रयोगकी जानेवाली श्रम और पूंजीकी मात्राओंसे क्रमशः अधिक उत्पत्ति प्राप्त होती है। उत्पत्तिकी कुल उपलब्ध मात्रा और कुल उत्पादन व्ययमें अन्तरकी मात्रा भूमिपति को भूमि-करके रूपमे दी जासकती है। कृषकको इसमें कोई आपत्ति न होगी क्योंकि वह श्रम और पूंजीके सीमान्त प्रयोगसे मिलनेवाली मजूरीसे सन्तुष्टहै और इसकारण वह सीमान्त प्रयोगसे पहिलेके प्रयोगोंके लिएभी उतनीही मजूरीपर श्रम करता रहेगा। इसके अतिरिक्त भूमिके वैकल्पिक प्रयोग होसकते हैं। एक प्रयोगके लिए वही भूमिभाग भूमि-कर वंचित भूमि होसकता है और दूसरे प्रयोगके लिए भूमि-कर प्राप्त करनेवाली भूमि। इसकारण यहभी होसकता है कि प्रत्येक भूमिभागको उस प्रयोगमें लाया जारहा हो जिसके कारण कि उससे भूमि-कर प्राप्त होता हो। इस सम्बन्धमें यह उल्लेखनीयहै कि एक कृषिफलके किए प्राप्त भूमि-कर दूसरे कृषिफलके

मूल्यपर प्रभाव डालसकता है। गेहूंकी मांग बढ़नेसे गेहूं उत्पन्न करनेवाली भूमि का भूमि-कर बढ़ने लगेगा और इसकारण गन्ना उत्पन्न करनेवाली भूमिका गेहूं उत्पन्न करनेमें प्रयोग किया जाने लगेगा। गन्नेकी पूर्तिको स्थित रखनेके लिए गन्ना उत्पन्न करनेके लिए कम उत्पादक भूमिभागोंको प्रयुक्त किया जायेगा और इसकारण गन्नेके मूल्यमें भी वृद्धि होगी। इसप्रकार गेहूं उत्पन्न करनेवाली भूमिके भूमि-करमें वृद्धिका गन्नेके मूल्यमें समावेश होता है। यही कारणहै कि भिन्न भिन्न फ़सलोंमें प्रतिस्पर्धाके कारण हरप्रकार की भूमिसे भूमि-कर प्राप्त होता रहता है।

भूमि-कर का आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि-कर का सापेक्ष लाभके रूपमें अस्तित्व मानतेहैं परन्तु उनका विचारहै कि सापेक्षताके सिद्धान्त द्वारा हम केवल इतना कहसकते हैं कि अधिक उत्पादक भूमिका कम उत्पादक भूमिसे भूमि-कर अधिक होना चाहिए। अर्थात् रिकार्डो का सिद्धान्त केवल इतना सिद्ध करताहै कि उत्तम वस्तुका मूल्य निम्न वस्तुसे अधिक होना चाहिए। मूल्य क्यों अधिक होना चाहिए इसका उत्तर इस सिद्धान्तसे नहीं मिलता क्योंकि यदि सब भूमि भागोंकी उत्पादन शक्ति समान ही होतीतो रिकार्डोके मतानुसार किसीभी भूमि भागके प्रयोगके लिए भूमि-कर न देना पड़ता। आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार भूमि भागोंके समान रूपमें उत्पादक होनेपर भी भूमि-कर का अस्तित्व सम्भवहै क्योंकि भूमि-कर अधिक उत्पादक भूमि भागोंकी सापेक्ष न्यूनताका नहीं बल्कि भूमिसे प्राप्त होनेवाली वस्तु विशेषकी सापेक्ष न्यूनताका परिणाम स्वरूप है। भूमि-कर तबतक सनातन रूपमें विद्यमान रहेगा जबतक कि भूमिसे उत्पन्न होनेवाली किसी वस्तुकी मांग उस वस्तुकी पूर्तिसे अधिकहै क्योंकि मांगमें आधिक्यके कारण वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होगी और भूमिपतियोंको मूल्यमें वृद्धिके कारण पहिलेसे अधिक आय भूमि-करके रूपमें प्राप्त होगी। मूल्यमें वृद्धिके कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें अप्रयुक्त भूमिभागों को प्रयोगमें लाकर या प्रयुक्त भूमिभागोंमें श्रम और पूंजीकी अधिक मात्रा लगाकर पूर्ति बढ़ाने की चेष्टा कीजायेगी और पूर्ति बढ़नेपर भूमि-करकी प्राप्ति बन्दहो जायेगी। इस सिद्धान्तमें कम उत्पादक भूमियोंको केवल इतना महत्व प्राप्तहै कि उनसे कम

उत्पत्ति मिलनेके कारण पूर्तिमें कमी आजाती है और इसकारण प्राप्त भूमि-कर की मात्रामें वृद्धि होजाती है।

भूमि-करको इस दृष्टिसे देखनेसे उसे केवल भूमि तथा अन्य प्राकृतिक देनसे सम्बन्धित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि इसप्रकार के अतिरिक्त लाभ अन्य उत्पत्तिके साधनोंको भी उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंकी पूर्तिमें सापेक्ष न्यूनताके कारण प्राप्त होते रहते हैं। मार्शलने ऐसे अतिरिक्त लाभको आभास करोंकी उपाधिदी थी। हम पहिले देखचुके हैं कि भूमि-करको इस दृष्टिसे देखने पर भूमिके वैकल्पिक प्रयोगोंके अस्तित्वके कारण भूमि-करके मूल्यमें समावेश होने की तनिकभी शंका नहीं रहती।

कहा जाता है कि भूमि-करका आधुनिक सिद्धान्त सामान्य उत्पादन-व्यय और अतिरिक्त लाभमें भेदभाव पर आधारित है। सामान्य उत्पादन-व्यय उत्पादनके साधनोंके उस सामान्य मूल्यपर निर्भरहै जो साधन विशेष की आवश्यक मात्रामें पूर्ति करदे। साधारणतया यह मूल्य उस साधनकी कार्यक्षमताको पूर्णरूपेण स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त होना चाहिए। उस साधन विशेष द्वारा उससे अधिक प्राप्त होनेवाली आयको अर्थशास्त्र की परिभाषामें 'कर' कहा जासकता है चाहे यह अधिक आय प्राकृतिक गुणों अथवा स्थितिके कारण प्राप्तहो, चाहे किसी आकस्मिक लाभ के रूपमें और चाहे एकाधिकारके लाभके रूप में।

भूमि-करको इस दृष्टिसे देखनेसे आभास-करों की कल्पनाभी व्यर्थही सिद्ध होती है। आभास-करका प्रयोग मार्शलने उत्पादनके साधनोंकी उस आयको दिखानेके लिए कियाथा जो उनको उनकी पूर्ति अस्थायी रूपमें सीमित होनेके कारण होती है। मार्शलका कहनाथा कि भूमिको प्राप्त होनेवाले अतिरिक्त लाभ तथा अन्य साधनोंको प्राप्त होनेवाले अतिरिक्त लाभमें भेदहै क्योंकि भूमिकी पूर्ति प्रकृतिकी देन होनेके कारण निश्चितहै और अन्य साधनोंकी पूर्ति मनुष्य द्वारा न्यूनाधिक की जासकती है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री भूमिकी पूर्तिको अन्य साधनोंकी पूर्तिसे अधिक सीमित नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार यदि किसी विशेष समय और स्थानपर अन्य साधनोंकी पूर्तिमें वृद्धि सुगम रीतिसे होसकती है तो अन्य समय और स्थानपर भूमि की। इस भेदभाव को मिटा देनेसे भूमि-कर तथा आभास करोंमें केवल इतना भेद है कि भूमि-कर अन्य करोंसे अधिक स्थायी है।

कृषि-सम्बन्धी समुन्नति और भूमि-कर

कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाली समुन्नतिका भूमि-कर पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका उत्तर रिकार्डोके सिद्धान्तके अनुसार दो प्रकारसे दिया जासकता है। यदि अधिक उत्पादक भूमिको औरभी उन्नत कियाजाये तो भूमि-करमें वृद्धि होगी और यदि निम्न कोटिकी भूमिको उन्नत कियाजाये तो भूमि-करमें कमी होगी। परन्तु आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार दोनों अवस्थाओंमें भूमि-करमें न्यूनताही रहेगी क्योंकि किसीभी प्रकारकी भूमिको उन्नत करनेका अर्थ उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि द्वारा पूर्तिको बढ़ाना होगा। पूर्ति बढ़नेसे मूल्य कम होंगे और मूल्य कम होनेसे भूमि-करभी कम होगा। केवल अधिक उत्पादक भूमियोंको उन्नत करनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें अधिक वृद्धि होगी और इसकारण भूमि-कर अधिक गिरेगा और कम उत्पादक भूमियोंको उन्नत करनेकी चेष्टासे उत्पत्तिकी मात्रामें कम वृद्धि होगी और इसकारण भूमि-करमें भी अधिक न्यूनता न होगी।

अबतक भूमि-करको भूमिके सम्बन्धमें ही प्रयुक्त किया जारहा था। इस शब्दका प्रयोग इमारतोंके सम्बन्धमें भी कियाजाता है। जिस भूमिपर इमारत खड़ीहै उसके कारण प्राप्त होनेवाला करतो पारिभाषिक भूमि-कर है जो उस भूमिकी भली बुरी स्थितिके कारण प्राप्त होता है। नगरोंके उस भागमें जहां कि व्यापार होता है, इन करोंकी मात्रा अधिक होतीहै परन्तु इमारतसे प्राप्त होनेवाला कर इमारत बनाने या खरीदनेके लिए व्यय कीगयी पूंजीका ब्याज है, भूमि-कर नहीं। इसीप्रकार खानोंसे प्राप्त कर में भूमि-कर के अतिरिक्त भी कुछ अंश होताहै कारण यह कि खनिज पदार्थको एकबार निकाल लेनेपर खानके मूल्यमें स्थायी रूपमें ह्रास होजाता है। इसकारण खानोंके करमें उनकी स्थिति तथा समृद्धिके लिए प्राप्त कर के अतिरिक्त खनिज पदार्थको निकाल लेनेके लिए भी कुछ भुगतान सम्मिलित होता है। कई भूमिभागोंसे एकही समयमें दो अथवा दो से अधिक प्रकारके कर प्राप्त होसकते हैं। होसकताहै कि कोई भूमिभाग अधिक उत्पादक भी हो, उसकी स्थिति भी सुन्दरहो और वहां जलशक्ति भी सहजमें उपलब्ध हो। इसप्रकार की भूमिसे उत्पादन शक्ति, स्थिति और जलशक्ति तीनोंके लिए तीन प्रकारके कर प्राप्त होते होंगे।

१६

मजूरी (पारिश्रमिक) और उसके सिद्धान्त

मजूरी की परिभाषा

मजूरी श्रमजीवी द्वारा कियेगये श्रमका मूल्यहै और इसकारण मजूरीका निर्धारणभी श्रमकी पूर्ति और मांगके सन्तुलनसे उसीप्रकार होताहै जैसे कि अन्य वस्तुओंके मूल्यका। केवल श्रमबाज़ारकी उन विशेषताओंको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है जिनका विवेचन हम बाज़ारके अध्यायमें करचुके हैं।

मजूरीके विभिन्न सिद्धान्तोंका उल्लेख करनेके पूर्व यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्री इस शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें करते हैं। मौद्रिक मजूरीसे उनका अभिप्राय द्रव्यकी उस मात्रासे है जो श्रमजीवीको किसी निश्चित समयतक श्रम करनेके पारिश्रमिकके रूपमें मिलतीहै और वास्तविक मजूरीसे वस्तुओं और सेवाओंकी उस मात्राका जो उस मिलेहुए द्रव्य द्वारा खरीदी जासकती है। इसके अतिरिक्त श्रमजीवीको किसी विशेष उद्योग धन्धेमें काम करनेसे कुछ ऐसी सुविधाएं और असुविधाएंभी प्राप्त होतीहैं जो केवल उसी उद्योग धन्धेसे सम्बन्धित होती हैं। श्रमजीवीकी वास्तविक आयको आंकते समय इन सुविधाओं और असुविधाओंकी गणनाभी अवश्य करलेनी चाहिए क्योंकि होसकताहै कि एक उद्योग धन्धेमें दैनिक मजूरी तो अधिक हो परन्तु काम वर्षमें केवल छैमासतक ही मिलता हो और दूसरेमें दैनिक मजूरी तो कमहो परन्तु काम वर्षभर मिलता रहता हो। इसकारण पहिले उद्योग धन्धेमें काम करनेवाले की वार्षिक आय दूसरे उद्योग धन्धेमें काम करनेवाले मजूरकी वार्षिक आयसे कम होसकती है। इसीप्रकार कुछ उद्योग-धन्धोंके स्वामी अपने श्रमजीवियोंके रहनेका तथा उनकी सन्तानके सुचारु शिक्षण इत्यादिका भी प्रबन्ध कर देते हैं। ऐसे उद्योग-धन्धोंमें मौद्रिक मजूरी कम होनेपर भी वास्तविक आय अधिक होसकती है।

मजूरी का लोह सिद्धान्त

मजूरीके लोह सिद्धान्तके जन्मदाता फ्रांसके अधिभूतवादी अर्थशास्त्री थे। तत्कालीन फ्रांसमें कृषक लोगोंकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उनके परिश्रम द्वारा उत्पन्न सम्पत्तिकी मात्रामें उतनी उनके पास शेष छोड़ी जातीथी जो केवल उनके जीवित रहनेके लिए पर्याप्त मात्र होतीथी बाकी मात्राको सरकार कर लगाकर लेलेती थी। अधिभूतवादी अर्थशास्त्रियोंने समझा कि प्रकृतिका नियमही है कि बेचारे कृषकों को जीवित मात्र रहनेके लिएही वृत्ति प्राप्त हो। यदि सरकार करभी न लगाये तोभी कृषकोंको प्राप्त उनकी उपजके भागमें वृद्धि तो अवश्य होगी परन्तु इसके फलस्वरूप उनकी जन्मदर में भी वृद्धि होगी। इसके कारण कृषकोंकी जन-संख्या बढ़ जायेगी और प्रत्येक कृषकको प्राप्त होनेवाला भाग फिर पहिलेके समानही होजायगा। जर्मनीके समाजवादी अर्थशास्त्रियोंने इस नियमकी क्रियान्विति को पूंजी मूलक आर्थिक पद्धतिमें भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। उनके मतानुसार जब तक मूल्य, मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित होतेरहेंगे, तबतक पूंजी तथा भूमिपति कुल उत्पत्तिकी मात्रामें श्रमजीवियोंको केवल क्षुधानिवारणके लिए देकर शेष मात्रा को स्वयं ग्रहण करते चलेजायेंगे। इनमें से कुछके मतानुसार मजूरीका केवल शारिरिक जीवनको मृत्युसे बचानेके लिए पर्याप्त मात्रामें होना आवश्यक है। उन्होंने अपने सिद्धान्तको लोह सिद्धान्तका नाम दिया। कुछका विचारथा कि मजूरी नैतिक अथवा रूढ़िसे सम्बन्ध रखनेवाली धारणाओं द्वारा जो लोगोंकी रुचियों तथा रीति रिवाजोंपर निर्भर है, निश्चित होती है। इन्होंने अपने सिद्धान्तको कांस्य-सिद्धान्त कहना उचित समझा। प्रसिद्ध अंग्रेज़ अर्थशास्त्री एडम स्मिथका मजूरीके लोह अथवा कांस्य-सिद्धान्तसे मतभेद था। उसके अनुसार मजूरीका केवल जीवित मात्र रहनेके लिए पर्याप्त होना आवश्यक नहीं है। वह अधिकभी होसकती है परन्तु स्थायी रूप में उसका जीवितमात्र रहनेके लिए अपर्याप्त होना सम्भव नहीं क्योंकि श्रमजीवी और उसके कुटुम्बका जीवित रखना श्रमकी पूर्तिके लिए आवश्यकही है। इसकारण वस्तुओं और सेवाओंकी उस मात्राको जिसके द्वारा श्रमजीवी केवल अपने आपको और अपने कुटुम्बको क्षुधा-मरणसे सुरक्षित रखसके, एक सीमा मानलेना चाहिए जिससे कम मजूरीका होना सदैवके लिए सम्भव नहीं।

मजूरी कोष सिद्धान्त

वास्तवमें मजूरी दो बातोंपर निर्भर है। एकतो श्रमजीवीकी उत्पादन-शक्तिपर और दूसरे उस कोषपर जो श्रमजीवियोंके पालनार्थ लभ्य है। हम देखचुके हैं कि पूंजी दो प्रकारकी होती है। एकतो स्थायी पूंजी और दूसरे प्रत्यावर्तनशील पूंजी। हम यह भी देखचुके हैं कि पूंजीकी सहायतासे उत्पादन करनेमें समय लगता है। श्रमजीवी के पास इतनी पूंजी तो होती नहीं कि वह वस्तुओंके तैयार होनेसे लेकर बिकनेके समय तक प्रतीक्षा करले। इसकारण व्यवस्थापकको उत्पादनके लिए केवल स्थायी पूंजीका ही प्रबन्ध नहीं करना पड़ताहै परन्तु श्रमजीवियोंको अपनी दिन प्रतिदिनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए भुगतानभी देना पड़ता है। यह भुगतान वह अपनी प्रत्यावर्तन शील पूंजीमें से करता है। इसकारण प्राचीन अर्थशास्त्रियोंने समझा कि मजूरी पूंजीकी उस मात्रासे सीमित है जो व्यवस्थापकको श्रमजीवियोंका भुगता करनेके लिए उपलब्ध है। इस उपलब्ध मात्राका नाम उन्होंने मजूरीकोष रखा। इस कोषकी मात्रामें परिवर्तन न होनेपर मजूरी श्रमकी पूर्तिपर निर्भर रहती है। यदि श्रमजीवियोंकी संख्यामें वृद्धि होजाये तो मजूरी कम होजायेगी और यदि उन की संख्यामें कमी होजाये तो अधिक। परन्तु मजूरी कोष सिद्धान्तके प्रतिपक्षियोंके मतमें भी मजूरीका जीवित मात्र रहनेसे अधिक होना तबतक सम्भव नहीं जबतक कि पूंजीकी वृद्धि जन-संख्या में वृद्धिसे अधिक न हो। परन्तु माल्थसके जन-संख्या सिद्धान्तके अनुसार पूंजीमें वृद्धिका जन-संख्यामें वृद्धिसे अधिक होना तो दूर रहा सदैव न्यून रहनाही निश्चित था। इसकारण श्रमजीवियोंकी मजूरीका केवल जीवित रहनेके लिए पर्याप्त मात्रासे अधिक होना प्रायः असम्भवसा ही मानाजाता था। अन्ततोगत्वा लोह-सिद्धान्त और मजूरी कोष सिद्धान्त दोनों मजूरीको श्रमजीवी और उसके कुटुम्बके पालन पोषणके व्ययसे सम्बन्धित करते थे।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त

एडम स्मिथने मजूरीके श्रमजीवी द्वारा उत्पत्तिपर निर्भर होनेकी ओरभी संकेत किया था। श्रमजीवीको मजूरी इसलिए मिलतीहै क्योंकि वह ऐसी वस्तुओंके उत्पा-

दनमें सहायता देताहै जिनका मौद्रिक मूल्य होता है। कोईभी व्यवस्थापक किसी विशेष श्रमजीवीको उसके नियोगके कारण प्राप्त उत्पत्तिसे अधिक मजूरी नहीं देता। हम यहभी जानतेहैं कि यदि अन्य उत्पादनके साधनोंमें परिवर्तन किये बिना श्रमजीवियोंका अधिकाधिक मात्रामें नियोग करते चलेजायेंगे तो उनके नियोग द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें क्रमशः ह्रास होता चलाजाता है। इसप्रकार व्यवस्थापक सीमान्त श्रमजीवीको उसके नियोगके कारण प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे अधिक मजूरी तो देगा नहीं। परन्तु हम यहभी जानतेहैं कि एकही बाज़ारमें एकही समय पर एकही वस्तुका एक मूल्य होनाभी आवश्यक है। इसकारण सब श्रमजीवियोंको वही मजूरी मिलेगी जो सीमान्त श्रमजीवी को। इसप्रकार सीमान्त श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे मजूरी निर्धारित करनेवाले सिद्धान्तको मजूरीका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त कहते हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें मजूरी सीमान्त श्रम द्वारा उत्पत्तिके मूल्यसे न अधिक होसकती है और न न्यून। यदि सीमान्त श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राका मूल्य मजूरीसे अधिकहो तो व्यवस्थापकके दृष्टिकोणसे एक और श्रमजीवीको नियुक्त करनेमें लाभ होगा। यदि मजूरी सीमान्त श्रमजीवीकी उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे अधिकहो तो एक श्रमजीवीकी उत्सृष्टिसे व्यवस्थापक उसके नियोगसे होनेवाली हानिको बचासकता है।

इन सब सिद्धान्तोंमें गुणभी हैं और दोषभी। मजूरीके केवल जीवित मात्र रहने के लिए पर्याप्त मात्र होनेका सिद्धान्त तभी पूर्णतया लागू होसकता है जब पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो, भूमिकी अत्यन्त न्यूनता हो और जनसंख्या पूरे वेगसे बढ़तीचली जा रही हो। परन्तु व्यवहारमें इन तीनोमें से एकभी पूर्णरूपेण अपना प्रभाव नहीं दिखला पाताहै परन्तु इस सिद्धान्तमें इतना सत्य अवश्यहै कि उत्पादन कार्यमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा जनसंख्याकी न्यूनताको मजूरी निर्धारित करनेमें विशेष महत्व प्राप्त है। मजूरी कोष सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्यकी ओर आकृष्ट करताहै कि वास्तविक मजूरी अर्थात् वह वस्तुएं और सेवाएं जिनका श्रमजीवियों द्वारा उपभोग होताहै वर्तमान कालमें कियेगये श्रम द्वाराही नहीं परन्तु भूतकालमें कियेगये श्रमसे भी उत्पन्न कीगयी थीं। इस सिद्धान्त द्वारा मजूरीके श्रमजीवियोंको प्राप्त होनेकी विधि से भी हम परिचित होजाते हैं। परन्तु वास्तविक मजूरीपर प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से प्रभाव डालनेवाले कारणोंका इस सिद्धान्तसे तनिकभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

इसीप्रकार मजूरी कोषको सदैवके लिए स्थिर माननाभी भूलहै। राष्ट्रीय आयमें परिवर्तन होनेसे इसमें परिवर्तन होतेरहते हैं। इसका समर्थन इस बातसे होताहै कि आर्थिक दृष्टिसे उन्नतिशील देशोंमें प्राय: मजूरी बढ़तीही रहतीहै क्योंकि श्रमजीवियोंके नियोगके लिए उपलब्ध पूंजीमें वृद्धि होती रहती हैं। बहुतसे अर्थशास्त्री तो सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त और मजूरी कोष सिद्धान्तमें एकता सिद्ध करनेका प्रयत्न करतेहैं क्योंकि दोनोंके अनुसार श्रमजीवियोंकी संख्यामें वृद्धि होनेके कारण उनकी मजूरीमें कमी होनेकी सम्भावना है। सीमान्त उत्पत्तिके सिद्धान्तका विवेचन हम अन्य स्थानपर करचुके हैं। इस स्थानपर केवल इतना कहदेना पर्याप्त होगा कि श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्ति केवल श्रमजीवीकी कुशलता परही नहीं परन्तु अन्य साधनोंके कुशल प्रयोग परभी निर्भर रहती है। इन साधनोंमें परिवर्तनके कारणभी श्रमजीवीकी उत्पादन शक्तिमें परिवर्तन होसकता है। कई एक अर्थशास्त्रियोंने श्रमजीवी वर्गको राष्ट्रीय उत्पत्तिका केवल शेषाधिकारी मात्र ठहराया है। उनके कथनानुसार अन्य साधनोंके अधिकार पहिलेसे ही निश्चित तथा अग्रिम हैं। उनका भुगतान दिये जानेके अनन्तर जो शेष रहताहै वह श्रमजीवी वर्गका भाग है और कुशलतामें वृद्धिका सम्पूर्ण लाभ इसी वर्गको मिलता है। इस सिद्धान्तको मजूरीका शेषाधिकार सिद्धान्त कहते है।

मजूरी का आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री श्रमकी पूर्ति, मांग तथा मूल्योंमें सन्तुलनके स्थापित होनेको ही मजूरी का पूर्ण सिद्धान्त मानते हैं। किसी विशेष समय पर अन्य साधनोंकी मात्राको परिवर्तनरहित रखनेसे किसी विशेष मूल्य पर श्रमकी सम्पूर्ण पूर्तिका नियोग सम्भव होसकता है। इस मूल्यको सन्तुलन मूल्य कहते हैं। इस मूल्यपर श्रमकी मांग और पूर्ति सम होजाती है। इस मांग और पूर्तिमें समय समय पर परिवर्तन होते रहतेहैं और इनके कारण नये नये सन्तुलन स्थापित होते रहते हैं।

पूर्तिकी दृष्टिसे किसी उद्योगधन्धेमें किये जानेवाले प्रयास तथा श्रमको और श्रमजीवीके जीवन स्तरको विशेष महत्व प्राप्त है। श्रम कार्य करने की अवधि, कार्यकी आकृष्टता तथा मात्रा, कार्यस्थानके वातावरण, शिक्षण-व्यय

और नौकरीके नैरन्तर्यसे न्यूनाधिक रोचक होसकता है। जीवन स्तर प्रचलित रूढ़ियोंसे निर्धारित होता है। इसीप्रकार मांगकी दृष्टिसे उत्पत्ति महत्वपूर्ण है और उत्पत्ति कार्य कौशल पर निर्भर है। इन सबका उचित स्थानपर विवेचन करदेने से पूर्व यह कह देना आवश्यकहै कि मांग और पूर्तिके द्वारा निर्धारित मूल्योंका एकसा होनाभी पीगूके मतानुसार आवश्यक नहीं। मजूरीकी प्रवृति किसी विशेष बिन्दुकी ओर नहीं होती। परन्तु वह दो बिन्दुओंके मध्यवर्ती प्रदेशमें अनिश्चित सी रहती है। सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निर्धारित व्यवस्थापकोंका बिन्दु उस अधिकतम मजूरीका द्योतकहै जो व्यवस्थापक देसकते हैं श्रमकी न्यूनाधिक रोचकता तथा जीवनस्तर श्रमिक द्वारा स्वीकृत न्यूनतम मजूरीकी बिन्दुके द्योतक हैं। सन्तुलनका बिन्दु इन दो बिन्दुओंके मध्यमें कहींपर होगा। उसका स्थान व्यवस्थापकों और श्रमजीवियों की सापेक्ष सौदा करनेकी शक्ति पर निर्भर रहता है। श्रमजीवियोंके अधिक शक्तिशाली होनेपर मजूरी उनकी सीमान्त उत्पत्तिके लगभग होगी और व्यवस्थापकोंके अधिक शक्तिशाली होनेपर उनके जीवन स्तरपर होनेवाले व्ययके आसपास। अल्पकालमें मजूरी ऊपर कहेगये प्रकारसे निश्चित होतीहै परन्तु दीर्घकाल में मांग और पूर्तिमें परिवर्तनोंके कारण श्रमकी कार्य कुशलतामें और फलस्वरूप मजूरीमें भी परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है।

प्राचीन अर्थशास्त्री विशेषकर रिकार्डो और उसके अनुयायी ऐसा विश्वास प्रकट करतेथे कि मजूरीमें स्थायी रूपसे वृद्धि होना असम्भवहै क्योंकि इस वृद्धिके कारण जनसंख्या और फलतः श्रमकी पूर्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरी फिर मौलिक स्तरको प्राप्त करलेती है। परन्तु श्रमजीवियों की कार्य-कुशलताके फलस्वरूप उनके मजूरी-स्तर में भी वृद्धि होसकती है। मजूरीमें वृद्धि होनेसे जीवन-स्तर में भी स्थायी रूपसे उत्कृष्टता आसकती है और इसके कारण कार्य कुशलतामें औरभी वृद्धि होसकती है। उनके मतसे ऊंची मजूरी द्वारा उपलब्ध मितव्ययिताके सिद्धान्तका आविष्कार हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार अधिक मजूरी देनेसे किसी वस्तुके उत्पादन-व्ययमें श्रमके व्ययको कम किया जासकता है क्योंकि अधिक मजूरी देनेसे श्रमजीवियोंकी कार्य-कुशलतामें सापेक्ष रूपमें अधिक उन्नति होनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी और इसकारण मजूरी अधिक होतेहुए भी वस्तुकी प्रत्येक इकाईपर होनेवाले व्यय में कमी होगी। मार्शलके विचारमें तो किसीभी व्यवसायमें मजूरी कौशल स्तरसे

उस समय तक कम होतीहै जबतक कि मजूरीमें वृद्धि करनेसे कार्य कौशल में सापेक्ष रूपसे अधिक उन्नति होती रहती है। यह उन्नति कम मजूरी पानेवाले श्रमजीवियों की मजूरीमें वृद्धि करनेसे तो अवश्यम्भावी है, क्योंकि उस वृद्धिका आहार, वस्त्र और निवासस्थान आदिको श्रेष्ठ बनानेके लिए प्रयोगम लायाजाना निश्चितसा ही है। परन्तु श्रमजीवियोंकी सामाजिक स्थितिमें उन्नति होनेके अनन्तर कीगयी मजूरीमें वृद्धि पूर्ववत् लाभदायक नहीं होती क्योंकि अब इस वृद्धिका अधिकांश भोगविलास पर खर्च होनेकी सम्भावना है। इसप्रकारका व्यय कमसे कम पहिलेके समान प्रत्यक्ष रूपमें उत्पादन शक्तिपर प्रभाव नहीं डालता। स्मरण रहे कि मजूरीमें वृद्धिसे हमारा अभिप्राय मौद्रिक मजूरीमें वृद्धिसे नहीं किन्तु श्रमिक की वास्तविक आयमें वृद्धिसे है और यह कई प्रकारसे की जासकती है, केवल मौद्रिक मजूरीमें वृद्धि करनेसे नहीं। मौद्रिक मजूरी पूर्ववत् रहने देकर भी श्रमजीवीके लिए अधिक अवकाश, श्रेष्ठ आहार तथा निवासस्थान, उत्तम शिक्षा और इसीप्रकारकी अन्य सुविधाओंका जो उसकी कार्य-क्षमता बढ़ानेमें सहायता दें, प्रबन्ध करदेनेका अर्थभी उस आयमें वृद्धि करदेना ही होगा।

इस स्थानपर हम यह उल्लेख करदेना आवश्यक समझते हैं कि पूर्तिकी दृष्टिसे मजूरी स्तरके उस समय उच्चतम होनेकी सम्भावनाहै जबकि किसी विशेष समय पर श्रमकी पूर्ति केवल उतनीहो जितनी उस समय उपलब्ध उत्पादनके अन्य साधनोंसे अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए आवश्यक है। जबतक श्रमकी पूर्ति इस मात्रासे कम होगी तो उसकी मात्रामें वृद्धि होनेपर भी मजूरीकी वृद्धि होनेकी सम्भावना है।

जीवन-स्तर और मजूरी

जीवन-स्तर और मजूरीमें परस्पर कार्य कारणके सम्बन्धको सभी अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं परन्तु इनमेंसे कौनसा कार्य और कौनसा कारण है उसपर मतैक्य नही। हम देखही चुकेहै कि जीवन-स्तर को कार्यकुशलैता का कारण भी माना जासकता है और फल भी। इसकारण मजूरी जो उत्पादन शक्तिपर निर्भर रहती है, किसी समयपर जीवन-स्तर का फल होसकती है और किसी अन्य समयपर

कारण। व्यवहारमें भी देखनेमें आताहै कि कई व्यवसायोंमें मजूरी इसकारण अधिक होतीहै कि उनमें काम करनेवाले श्रमजीवियों का जीवन-स्तर और फलस्वरूप कार्यक्षमता अधिक है। परन्तु अन्य व्यवसायोंमें विशेषकर सार्वजनिक पदाधिकारियों को मजूरी इसलिए अधिक दीजाती है कि उनका जीवन-स्तर उच्च हो। परन्तु वे विद्वान भी जो जीवन-स्तरको उत्पादन शक्ति फलत: मजूरीका फल मानते हैं, स्वीकार करतेहैं कि दीर्घकालमें जीवन-स्तर जनसंख्या पर प्रभाव डालकर श्रमकी पूर्तिमें परिवर्तनों द्वारा मजूरीके न्यूनाधिक होनेका कारण होसकता है। यदि जीवन-स्तरको सुरक्षित रखनेके लिए श्रमजीवी सन्तति निरोध आदि उपायोंसे श्रमकी पूर्तिमें न्यूनता उत्पन्न करनेमें सफल होसकें तो श्रमद्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरीमें भी वृद्धि होसकती है। पाश्चात्य देशोंके श्रमजीवियों ने कुटुम्बको सीमित रखकर जीवन-स्तर पतनकी प्रवृत्तिको रोकनेका प्रयत्न किया है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मजूरी

उपरिलिखित सिद्धान्तोंकी केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें क्रियान्विति सम्भवहै परन्तु श्रम-बाज़ारमें इस स्थितिको प्राप्त करनेके पथमें अनेक बाधाएं हैं। सबसे पहिले गतिशीलता को ही लेलीजिए। श्रमजीवीको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए, विशेषत: विवाहित श्रमजीवीको, प्राय: उसकी मजूरीमें आशातीत वृद्धिका प्रलोभनभी उद्यत करनेमें असमर्थ सिद्ध होता है। यातायातके साधनोंमें आश्चर्य-जनक उन्नतिके कारण गतिशीलता बढ़नेपर भी प्रतिस्पर्धाकी मजूरी समीकरण शक्ति पूर्णतया कार्य नहीं करपाती, एक व्यवसायको छोड़कर दूसरेको अपनाना तो और भी कठिन है। इसीकारण केरनस ने अप्रतिस्पर्धी यूथोंके सिद्धान्तकी रचना की थी। उसके मतानुसार उत्पादक वर्गको इसप्रकार यूथोंमें विभाजित किया जासकता है कि प्रत्येक यूथके सदस्योंमें परस्पर तो प्रतिस्पर्धा सम्भवहै परन्तु एक यूथ की दूसरे यूथसे नहीं। सत्यभी है कि अशिक्षित श्रमजीवीकी शिक्षित श्रमजीवीसे तभी प्रतिस्पर्धा होसकती है जब वह स्वयं शिक्षित होजाय। परन्तु शिक्षा प्राप्त करनेकी सुविधाएं बढ़ जानेपर भी यह कार्य इतना सहज नहीं।

एकही यूथके सदस्योंमें भी कार्यकौशल का एकसा ही होना सम्भव नहीं। कुछ

सदस्य दूसरोंसे अधिक कुशल होंगे। यदि सबको एकसी मजूरी दीजाय तो अधिक कुशल श्रमजीवियोंको उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी मिलेगी और कम कुशल श्रमजीवियोंको उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे अधिक। अधिक कुशल लोग कार्यत्यागकी धमकी देकर अपनी मजूरी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यके सम करवा लेंगे और कम कुशल लोगोंको व्यवस्थापक उत्सृष्टिका भय देकर मजूरी उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यके सम करदेगा और इसप्रकार एकही यूथके सदस्योंकी भिन्न भिन्न मजूरी होगी। इस भिन्नताकी व्याख्या अर्थशास्त्रियोंने इस प्रकार की है कि प्रतिस्पर्धाके कारण अकुशलतम श्रमजीवियों को तो एकसी मजूरी मिलती है। यदि इस मजूरीको प्रमाण मान लियाजाय तो अधिक कुशल श्रमजीवी अपनी अपनी कुशलताके अनुसार मजूरी प्राप्त करपातेहैं अथवा प्रतिस्पर्धा द्वारा समकुशल श्रमजीवियों की मजूरी एकसी होनेके अतिरिक्त उनका कुशलताके अनुसार वर्गीकरणभी होजाता है। यों तो फिर एकही यूथके सदस्योंमें क्या असम्बन्धित श्रम करनेवालोंमें परोक्षरूपमें प्रतिस्पर्धा विद्यमानही रहतीहै! क्योंकि व्यवस्थापक भी तो निश्चित नहीं करपाते कि उन्हें इसप्रकार का श्रम करनेवाले एक और श्रमजीवीकी नियुक्ति करनी चाहिए अथवा उसप्रकार का श्रम करनेवाले की। व्यवस्थापकों तथा श्रमजीवियोंमें संगठनके कारणभी श्रमबाजारोंमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा कार्यशील नहीं होपाती। व्यवस्थापक लोग व्यवस्थापक संघोंको स्थापित करके श्रमजीवियों को उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी देनेका प्रयत्न करतेहैं और यदि श्रमजीवी इस मजूरीपर काम करना स्वीकार न करके मजूरी बढ़ानेके लिए आग्रह करें तो व्यवस्थापक संघ द्वारताल की घोषणा करदेते हैं। व्यवस्थापकोंके पास तो बेकारी सहन करनेके लिए पर्याप्त मात्रामें पूंजी होतीहै परन्तु श्रमजीवियोंको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। उन्हें अन्तमें व्यवस्थापकोंके आगे झुकनाही पड़ता है। उनके इस दौर्बल्यको दूर करनेके लिए श्रमजीवियोंको श्रमजीवी संघों द्वारा संगठित करनेका प्रयत्न कियागया है। यदि व्यवस्थापक संघ श्रमजीवियोंको उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी देना निश्चित करतेहैं तो श्रमजीवी संघ हड़तालकी घोषणा करदेते हैं। मजूरी इसकारण व्यवस्थापक और श्रमजीवी संघोंके तुलनात्मक संघर्षसे निर्धारित होती है, पूर्ण प्रतिस्पर्धासे नहीं। श्रमजीवी संघ अपने व्यवसायमें नये लोगोंके प्रवेशपर प्रतिबन्ध लगाकरभी पूर्ण

प्रतिस्पर्धाके कारण होनेवाले पूर्ति परिवर्तनों का नियन्त्रण करनेमें सफलता प्राप्त करलेते हैं। सुशिक्षित और विशिष्ट श्रमजीवियोंके संघ विशेष रूपसे शक्तिशाली होते हैं।

इस स्थानपर यह कहदेना आवश्यक होगा कि व्यवस्थापक और श्रमजीवी संघों की सहायतासे प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित मजूरी-स्तरसे कम अथवा अधिक मजूरी देने लेनेकी शक्ति सीमित है। मान लीजिए कि व्यवस्थापक संघ अपने उद्देश्यकी पूर्ति करनेमें सफल होजाते हैं। मजूरी प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित स्तरसे कम होनेके कारण व्यवस्थापकों को अधिक लाभ प्राप्त होगा। नये व्यवस्थापक नयी संस्थाओं को स्थापित करदेंगे और श्रमकी मांगमें वृद्धि होनेसे मजूरी फिर बढ़जायेगी। यदि श्रमजीवी संघ प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित मजूरी स्तरसे अधिक मजूरी प्राप्त करलेते हैं तो व्यवस्थापकोंके लाभमें कमी होगी। इस कमीसे बचनेके लिए उनके पास तीन प्रतिकार हैं। पहिलातो यह कि वे श्रमके स्थानपर पूंजीकी प्रतिस्थापना करनेकी चेष्टा करेंगे। श्रमकी मांगमें कमी होनेके कारण मजूरी कम होजायेगी अथवा लाभ में कमी आनेसे बहुतसे व्यवस्थापक अधिक लाभप्रद धन्धोंमें पूंजीका परिवर्तन कर लेंगे। इसकारण भी श्रमकी मांगमें कमी होगी। ऐसाभी होसकता है कि व्यवस्थापक उत्पन्न वस्तुके मूल्यमें वृद्धि करके उच्च मजूरीके भारको उपभोक्ताओंके कन्धों पर डालनेका प्रयत्न करें, परन्तु यह तभी सम्भवहै जब वस्तु विशेषकी मांग लोच-रहित हो अन्यथा उच्च मजूरीके कारण श्रमजीवियोंकी बेकारीमें वृद्धि होनेकी ही सम्भावना है। इसकारण सरकार द्वारा निश्चित न्यूनतम मजूरी श्रमजीवियोंका हित करनेके स्थान हानिकर होसकती है। वे श्रमजीवी जिनकी सीमान्त उत्पत्तिकी मात्राका मूल्य इसप्रकार निश्चित न्यूनतम मजूरीसे कमहै, उत्सृष्ट करदिये जायेंगे और सदैवके लिए बेकार रहेंगे। परन्तु न्यूनतम मजूरी प्रायः स्वेदपूर्ण श्रम लेनेवाले उद्योग-धन्धोंमें काम करनेवालोंके लिएही निश्चित कीजाती है। ऐसे उद्योग धन्धों द्वारा निर्मित वस्तुओंके मूल्यमें वृद्धि करना प्रायः सम्भव होता है। इसकारण व्यवस्थापक मजूरीमें वृद्धिका बोझ उन वस्तुओंका उपभोग करनेवालोंके कन्धोंपर डालनेमें सफल होपाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि मजूरी श्रमजीवियोंके शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्यको उपयुक्त स्तरपर स्थित रखनेके लिए पर्याप्त न हो तो उसमें वृद्धिके कारण उत्पादन-शक्तिमें वृद्धि होनेसे वास्तविक उत्पादन-व्ययमें कमी हो

सकतीहै और यदि व्यवस्थापक असामान्य लाभ उठाकर श्रमजीवियोंका शोषण कर रहेहों तो भी मजूरी अधिक करदेने पर उनके द्वारा प्राप्त श्रमकी मांगमें कमी होनेकी सम्भावना नहीं है।

नये आविष्कार और मजूरी

नये नये आविष्कारों द्वारा उत्पादन विधिमें होनेवाले परिवर्तनोंका मजूरीपर मिश्रित सा प्रभाव पड़ता है। आविष्कृत यन्त्र या तो श्रमकी बचत करनेवाले होतेहैं या पूंजी की। श्रमकी बचत करनेवाले यन्त्रोंके प्रचलित होनेसे प्राप्त श्रमकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक होजाती है और पूंजीकी बचत करनेवाले यन्त्रोंके प्रचलित होनेसे पूंजीकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक होजाती है। पहिली अवस्थामें मजूरी कम होगी और दूसरीमें ब्याज। अधिकतर यन्त्र, श्रम और पूंजी दोनोंकी बचत करते हैं। मजूरीपर उन यन्त्रोंकी प्रतिक्रिया प्रतिकूल होगी, जो पूंजीसे श्रमकी अधिक बचत करतेहों। दीर्घकालमें आर्थिक प्रगति श्रमजीवियोंकी वास्तविक मजूरीमें वृद्धिका ही कारण होगी, क्योंकि अधिक उत्पादनकारी यन्त्रोंके आविष्कृत होनेपर राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और इसकारण श्रमजीवियोंको मिलनेवाले राष्ट्रीय आयके भागमें निरपेक्ष रूपमें तो अवश्य ही वृद्धि होगी। सापेक्ष रूपमें उनका भाग पहिलेसे भी कम होसकता है क्योंकि यदि उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिका अधिकांश पूंजीपति ही हड़प करलें तो श्रमजीवियोंको थोड़ाही अंश प्राप्त होगा।

मजूरी-भुगतान

मजूरीका भुगतान दो प्रकारसे कियाजाता है। एकतो समयके अनुसार और दूसरे उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार। पहिली अवस्थामें श्रमजीवीको प्रतिघंटे अथवा प्रतिदिनके श्रमकी निश्चित मजूरी दीजाती है और दूसरी अवस्थामें एक ऐसे श्रमजीवी की मजूरी जो न अत्यन्त कुशल हो न अत्यन्त अकुशल, उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राकी सहायतासे निश्चित करली जातीहै और उसे प्रामाणिक मानकर अधिक उत्पादन करनेवालों को अधिक और न्यून उत्पादन करनेवालों को कम मजूरी दी

जाती है। भुगतानके इन दोनों ढंगोंको एकत्रितभी किया जासकता है। न्यूनतम मजूरी तो समयके अनुसार निश्चित की जासकती है और फिर उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार मजूरी पूरकके रूपमें दी जासकती है। कभी कभी श्रमजीवियों को प्राप्त लाभका कुछ भाग बांट दियाजाता है। यह सब ढंग श्रमजीवियोंको प्रोत्साहन देने के हैं। श्रमजीवियोंको उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार मजूरी भुगतानका ढंग प्राय: प्रिय नहीं होता; क्योंकि उनके मतानुसार व्यवस्थापक उन्हें अधिक मजूरी कमाते कर प्रामाणिक मजूरी कम करदेते हैं।

हड़ताल अथवा द्वारतालसे होनेवाली हानिको रोकनेके लिए श्रमजीवियों और पूंजीपतियोंके आपसी झगड़ोंको निपटानेका कार्य सौमनस्य स्थापन सभाओं और पंचोंको सौंपा जाता है। पंचनिर्णय उसी दशामें सफल होसकता है जबकि पंच स्वयं दोनों दलोंके विश्वासका पात्र हो।

२०

ब्याज और उसके सिद्धान्त

शुद्ध तथा मिश्रित ब्याज

पाश्चात्य देशोंमें जब औद्योगिक क्रान्ति हुई तो उद्योगधन्धोंके व्यवस्थापक तथा प्रबन्धक प्रायः पूंजीपतिही थे। इसकारण तत्कालीन अर्थशास्त्रियों ने ब्याज और लाभको एकही समझकर लाभको पूंजीसे सम्बन्धित करनाही उचित समझा। परन्तु सन् १८५० में सीमित दायित्व विधानके पास होनेके अनन्तर संयुक्त पूंजी कम्पनियों का प्रादुर्भाव हुआ और पूंजी उधार लेकर उद्योगधन्धोंको स्थापित करना अथवा व्यापार चलाना सम्भव होगया। पहिले व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिका पूंजीपति होना आवश्यक था। अब वह पूंजी ऋणके रूपमें प्राप्तकर अपना कार्य चला सकता था। इसकारण ब्याज और लाभमें भेद करनेकी आवश्यकता हुई। शुद्ध ब्याजका तात्पर्य उस भुगतानसे है, जो उद्योगपति द्वारा पूंजीकी उत्पादनके साधनके रूपमें सेवा प्राप्त करनेके लिए पूंजीपतिको दियाजाता है। वास्तवमें पूंजीपतिको किये जानेवाले भुगतानमें शुद्ध ब्याजके अतिरिक्त उसके द्वारा प्राप्त कई अन्य सेवाओंके परितोषणका अंश भी सम्मिलित होता है। पूंजी ऋणपर देनेके लिए ऋणदाताको कई प्रकारके कष्ट तथा आपत्तियां उठानी पड़ती हैं। ऋणका हिसाब किताब रखनेके लिए बहीखाते रखने पड़ते हैं। दियेहुए ऋणकी उद्योग धन्धेके सफल न होनेपर अथवा ऋणीके छलकपट के कारणभी न मिल सकनेकी सम्भावना रहती है। इन सब कारणोंसे मिश्रित ब्याजकी दर बहुत अधिक होनेपर ऐसाभी होसकता है कि शुद्ध ब्याजकी दर बहुत अधिक न हो। ऋणदाता इसप्रकार की आपत्तियोंसे अपने आपको बीमा कम्पनियों द्वारा सुरक्षित करसकते हैं; परन्तु बीमा कम्पनियोंको दिया जानेवाला अधिक शुल्क शुद्ध ब्याजमें सम्मिलित करना आवश्यक होजाता है। यही कारणहै कि उस ऋणके ब्याजकी दरमें जिसमें कि परिश्रम आपत्ति इत्यादिके अंश सम्मि-

लित होते हैं, भिन्न भिन्न स्थानोंपर ही नहीं परन्तु एकही स्थानपर भिन्न भिन्न व्यवसायों और भिन्न भिन्न पुरुषोंके लिए उनकी जोखिम तथा साखके अनुसार भिन्नता होती है। परिश्रम और जोखिमके लिए प्राप्त अंशको निकाल देनेके बाद शुद्ध ब्याजका पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाकी दशामें एकही बाजारमें एकही होना न्याययुक्त है। कठिनता यहहै कि परिश्रम और जोखिमके लिए प्राप्त अंशका पृथक करना इतना सरल नहीं, जितना कि प्रतीत होता है।

ब्याज की दर

समय समय पर शुद्ध ब्याजकी दरमें भी मांग तथा पूर्तिमें परिवर्तनोंके कारण परिवर्तन होते रहते है। अल्पकालमें इस दरमें परिवर्तन ऋण लेनेवाले व्यवस्थापक इत्यादि लोगोंकी आवश्यकताओं और ऋण देनेवाले बैंकों इत्यादिके सामर्थ्यमें दिन प्रतिदिनके परिवर्तनों पर निर्भर रहते हैं। परन्तु दीर्घकालमें इनका सम्बन्ध उद्योग धन्धों द्वारा मांग और वास्तविक बचतकी पूर्तिसे होता है। मांगमें वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि होनेके कारणभी होसकती है और पूर्तिमें वृद्धि जनसंख्या की चिरकाल तक जीवित रहनेकी आशामें वृद्धि होनेके कारण भी। क्योंकि इस दशामें लोग भविष्यके लिए अधिक बचत करनाही उचित समझेंगे। ऐसाभी विचार प्रकट किया जाताहै कि दीर्घकालमें शुद्ध ब्याजकी दरकी गिरनेकी ओरही प्रवृत्तिहै क्योंकि पूंजी की पूर्तिमें उसकी मांगसे अधिक वृद्धि होती रहती है। प्राचीन अर्थशास्त्रियोंकी भविष्यवाणीके अनुसार यद्यपि इस प्रवृत्तिका युद्ध तथा व्यापारकी मन्दी इत्यादिसे निरोध होताहै, फिरभी एकसमय ऐसा आनेवाला है जबकि शुद्ध ब्याजकी दर न्यूनतम होजायेगी। यों तो शुद्ध ब्याजके दरका शून्यावस्थाको प्राप्त करनाभी असम्भव नहीं यदि प्रत्येक व्यक्ति बचत करनेकी ही ठानले और लोगोंकी आवश्यकताओं में उस वेगसे वृद्धि न हो जिससे कि पूंजीमें, तो होसकता है कि उद्योगपति बिना ब्याजकी पूंजीभी स्वीकार करनेसे इन्कार करदें परन्तु व्यवहारमें कभी ऐसा हुआ नहीं। न्यून दरके कारण बचतकी मात्रामें कमी होजाती है और मांग बढ़ने लगती है। पूंजीका बाहुल्य होनेपर लोग इसके लिए अधिक उत्पत्तिप्रद प्रयोग निकाल लेते हैं। नये नये आविष्कारों द्वारा होनेवाले उत्पादन-विधिके परिवर्तनों

द्वारा ब्याजकी दरपर प्रभाव पड़ताहै इन आविष्कारोंके प्रयोगके लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। इसकारण पूंजीकी मांगमें वृद्धि होनेसे ब्याजकी दरमें भी वृद्धि होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु नवीनताओं का प्रयुक्त कियाजाना उसी दशामें सम्भवहै, जबकि उनसे अधिक उत्पत्ति प्राप्त होनेकी आशाहो। दीर्घ कालमें उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण लोगोंकी पूंजी संचय करनेकी शक्ति बढ़ती है और फलस्वरूप उसकी पूर्तिमें मांगसे अधिक वृद्धि होती है। इसलिए होसकताहै कि अन्तमें उत्पादन विधिमें उन्नति ब्याजकी दरके गिरनेका कारण बने।

ब्याजकी दरका हमारे आर्थिक अथवा सामाजिक जीवनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। हम देखचुके हैं कि हमारा भौतिक कल्याण हमारी राष्ट्रीय आय तथा हमारी उत्पत्ति की मात्रापर निर्भर है। ब्याजकी दर कम होनेसे उद्योगपतिको उत्पादन कार्यमें अधिकाधिक पूंजीका प्रयोग करनेकी प्रेरणा मिलती है और पूंजीका अधिक प्रयोग होनेके कारण उत्पत्तिकी मात्रामें भी वृद्धि होती है। उत्पादक पुरानी उत्पादन विधियोंको तिलाञ्जलि देकर नयी नयी उत्पादन विधियोंको अपनाते है। इसके अतिरिक्त पुरानी संस्थाओंकी उत्पत्ति बढ़नेके साथ साथ नयी संस्थाएंभी स्थापित होने लगती हैं। ब्याजभी वस्तुओंके उत्पादन-व्ययका एक अंश है। इसमें कमी होने से उत्पादन-व्ययमें कमी होतीहै और उत्पादन-व्ययमें कमी होनेसे वस्तुओंके मूल्यमें कमी। फलस्वरूप उनकी मांग बढ़तीहै और उसे पूरा करनेके लिए नयी संस्थाओंका स्थापित करना अनिवार्य होजाता है। हम भलीप्रकार जानतेहैं कि उद्योग धन्धोंमें काम करनेवाले श्रमजीवियोंको ऐसी बस्तियोंमें रहना पड़ताहै जो मनुष्य तो मनुष्य पशुओंके भी रहनेके योग्य नहीं। ब्याजकी दर गिरनेसे उनके लिए अच्छे मकान बनाये जानेकी सम्भावना है। जहांतक राष्ट्रीय आयके वितरणका सम्बन्धहै, ब्याज की दरके अधिक होनेसे राष्ट्रीय आयका अधिकांश पूंजीपतियोंको प्राप्त होताहै परन्तु इसके न्यून होनेसे श्रमिकों को। क्योंकि प्राय: ऐसा देखनेमें आताहै कि जिन कारणोंसे ब्याजकी दरमें वृद्धि होतीहै उन्हीं कारणोंसे श्रमजीवियोंकी जीविकामें ह्रास होता है। इसकारण ब्याजकी दर बढ़नेपर राष्ट्रीय सम्पत्तिका अन्यायपूर्ण वितरण होनेकी सम्भावना है।

शुद्ध ब्याजकी सामान्य दर किसप्रकार निर्धारित होतीहै इसकेलिए आजतक विभिन्न सिद्धान्त निर्मित कियें जाचुके हैं। हम देखचुके हैं कि शुद्ध ब्याज पूंजीका

मूल्यहै और अन्य मूल्योंकी भांति पूंजीकी मांग और पूर्तिके सन्तुलनसे निर्धारित होता है। प्रस्तुत सिद्धान्तोंमें से कुछ मांगको महत्त्व प्रदान करते हैं और कुछ पूर्ति को।

पूंजी की उत्पादनशीलता और ब्याज

शुद्ध ब्याज इसलिए दियाजाता है क्योंकि पूंजीकी सहायतासे श्रमकी उत्पादन शक्ति में यन्त्र उपकरण इत्यादि उत्पादन सामग्री द्वारा वृद्धि होतीहै क्योंकि इन उपकरणों की सहायतासे श्रमिक द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा उस समयसे अधिक होतीहै जब कि उसे यह उपकरण अलभ्य थे। कार्ल मेंगर ने उत्पादन कार्यमें प्राप्त पूंजीकी सेवाओंका औरभी गम्भीर विश्लेषण किया है। उनका कथनहै कि अन्तमें उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेके लिए कच्ची सामग्रीको कई एक मध्यवर्ती अवस्थाओंमें से होकर जाना पड़ता है। उदाहरणके लिए कपासको ही लेलीजिए। पहिले इसे कातकर सूत बनाया जाताहै, फिर सूतसे कपड़ा और अन्तमें कपड़ेसे वस्त्र जिनका उपभोग कियाजाता है, पूंजीकी सहायतासे उत्पादक लोग इन मध्यवर्ती वस्तुओंको उत्पन्न करनेके लिए लगनेवाले समयकी अवधि तक उनको उत्पन्न करनेके लिए श्रमिकोंको प्रयुक्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करतेहै और शुद्ध ब्याज पूंजी से प्राप्त इस सेवाका शुल्क रूप है। बाहमबावर्क ने भी ब्याज दिये जानेके कारण बतलाते हुए मेंगर का समर्थन किया है। उनका मतहै कि पूंजीकी सहायता लेकर किसी वस्तुको मध्यवर्ती अवस्थाओंमें से निकालकर उत्पन्न करनेसे उस वस्तुकी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होजाती है। इन सिद्धान्तोंकी विशेषता यहहै कि ये उत्पादन कार्यमें समयके अंशका भी समावेश करदेते हैं। पूंजीकी सहायतासे वस्तुओंके उत्पादनको विलम्बित किया जासकता है और श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण द्वारा कुल उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि की जासकतीहै और यही वृद्धि ब्याजका आधार है। यदि ब्याजका कारण पूंजीसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राको मान लियाजाय तो ब्याजका माप पूंजीके सीमान्त प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्ति होगी। इस प्रकार इन सिद्धान्तोंको ब्याजका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त कहना अनुचित न होगा। अतः इनमें वही गुण और दोष विद्यमान हैं, जिनका विवेचन हम अन्य स्थानपर करचुके हैं।

उपभोग-व्याक्षेप, बट्टा और ब्याज

पूर्तिकी दृष्टिसे ब्याजका उपभोग-व्याक्षेप तथा बट्टा सिद्धान्त प्रसिद्ध है। सीनियरका मतथा कि ब्याज पूंजीपतिको उपभोग-व्याक्षेप द्वारा उपभोगकी तृष्णा तृप्त न करनेके प्रयत्नका पुरस्कार मात्र है। उपभोग-व्याक्षेप द्वारा बचत करनेके लिए पूंजीपतिको कष्ट सहन करना पड़ताहै जिसकेलिए उसको ब्याजका प्रलोभन दियाजाना आवश्यक है। सीनियरसे पहिले मिल इत्यादिने उपभोग-व्याक्षेप करनेके लिए कियेगये प्रयत्न को श्रम मानकर इसी सिद्धान्तको श्रम सिद्धान्त का नाम दिया था। उपभोग-व्याक्षेप में कष्टका समावेश होनेके कारण यह आलोचनाकी जानेलगी कि इस शब्दका प्रयोग उचित नहीं; क्योंकि बचतका अधिकांश ऐसे धनीलोगों द्वारा कियाजाता है जो अपनी आयको उपभोग्य सामग्री पर खर्च करही नहीं पाते और इसकारण उन्हें बचत करनेके लिए तनिकभी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। मार्शलने उपभोग-व्याक्षेपके स्थान पर प्रतीक्षा शब्दको और कैनन ने संचय को प्रयुक्त करनेकी सम्मतिदी है। बाहम बावर्कके बट्टा सिद्धान्तका संकेत वर्तमानकाल और भविष्यकाल में परस्पर बट्टेसे है। मनोवैज्ञानिकों का कथनहै कि प्रत्येक प्राणी किसी वस्तुका वर्तमानमें ही उसके पास होना उस वस्तुके भविष्यमें उसे मिलनेसे अधिक श्रेयस्कर समझताहै क्योंकि मनुष्य स्वभावत: वर्तमानमें उपभोगको भविष्यमें उपभोगसे वरीयता देता है। पूंजीपति वे लोगहै जिनके पास वर्तमानमें बेचनेके लिए वस्तुएंहैं क्योंकि उन्हें उनकी वर्तमानमें आवश्यकता नहीं है। मानलीजिए उन वस्तुओं का वर्तमानमें मौद्रिक मूल्य १०५ रुपये और वर्ष भरके अनन्तर भविष्यमें केवल १०० रुपये अनुमान कियाजाता है। उस पूंजीपतिको ऐसेभी मनुष्य मिल जांयगे जिन्हें उन वस्तुओंकी वर्तमानमें ही आवश्यकताहै और जो साल भरके अनन्तर १०५ रुपये देनेका बचन देकर उन वस्तुओंको प्रसन्नता से वर्तमानमें ही ग्रहण करलेंगे पूंजीपति को भी देनेमें बाधा न होगी क्योंकि जिन वस्तुओंके मूल्य वह सालभरके अनन्तर १०० रुपये अनुमान करता है उसके उसे १०५ रुपये दियेजाने का बचन दिया जारहा है। अथवा इसप्रकार कह लीजिए कि वर्ष भरके अनन्तर भविष्य उसके लिए वर्तमान होजायेगा परन्तु तबभी देनेमें उसकी हानि नहीं क्योंकि वर्तमानमें भी तो उसके लिए उन वस्तुओं का मूल्य १०५ रुपये ही है।

इस सिद्धान्तकी इसप्रकार भी व्याख्या की जासकती है। वर्तमानमें पूंजीपति से १०० रुपये लेनेके लिए हमें साल भरके अनन्तर उसे १०० रुपयेसे अधिक लौटा देनेका बचन देना होगा क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार हाथमें १०० रुपये भविष्यमें मिलनेवाले १०० रुपयोंसे अधिक मूल्यवान हैं। उसके अनुमानसे वर्तमानके ९५ रुपये भविष्यके १०० रुपयोंके समहों तो ऋण लेनेवालेको ९५ रुपये लेकरही भविष्यमें १०० रुपये देनेका बचन देना होगा अन्यथा पूंजीपति ऋण देनेके लिए उद्यत न होगा।

बाहमबावर्क के सिद्धान्तसे मिलता जुलता फिशरका समयवरीयता सिद्धान्त है। इसके अनुसार संसारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते हैं। एक तो वे जो वृद्धावस्थामें पारिवारिक उत्तरदायित्व बढ़ने तथा उपार्जन शक्तिमें ह्रास होनेके कारण भविष्य में मिलनेवाली आयको अधिक वांछनीय समझते हैं। ऋणों की पूर्ति और उनका पूर्तिमूल्य इन लोगोंकी समयवरीयतासे निर्धारित होगा। कुछ ऐसेभी लोग होंगे जो भविष्यमें अपनी आयको बढ़ानेके लिए अथवा अपनी संस्थाओं इत्यादि को विस्तृत करनेके लिए वर्तमानमें ऋण लेनेके इच्छुक होंगे। येलोग ऋणोंकी मांग और उनका मांगमूल्य निर्धारित करते हैं।

इसप्रकार पूर्तिकी ओरसे ब्याजकी दर लोगोंकी संचय करनेकी इच्छा तथा शक्ति पर निर्भर है। जितनीही लोगोंमें यह इच्छा तथा शक्ति प्रबल होगी, उतनीही उस ब्याजकी दरभी कम होगी जो लोगों को बचत करनेका प्रलोभन देनेके लिए आवश्यक होगी। दर उतनी होनी चाहिए जो सीमान्त बचत करनेवाले को प्रलोभन देनेके लिए पर्याप्त हो।

मांगकी ओरसे यह दर पूंजीकी उत्पादनशक्ति पर निर्भर है। उत्पादक लोग अन्य साधनोंके स्थानपर पूंजीकी प्रतिस्थापना उस समय तक करते रहते हैं, जबतक कि पूंजीकी सीमान्त उत्पत्ति अन्य साधनोंकी सीमान्त उत्पत्तिके सम नहीं हो जाती। परन्तु पूंजीका अधिकाधिक प्रयोग होनेके कारण उसकी सीमान्त उत्पत्ति में ह्रास होता चला जाताहै और इसकारण ब्याजकी दर उतनी होना आवश्यक है जो सीमान्त लेनेवालेको पूंजीके न्यूनतम उत्पत्ति करनेवाले भागको ऋणके रूपमें लेनेका प्रलोभन दे सके। सन्तुलन उस दरपर स्थापित होजाता है जिसपर कि पूंजी की मांग और पूर्ति दोनों सम होजाती हैं।

ब्याज और द्रव्य-वरीयता

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर एक शुद्ध द्रव्यात्मक घटनाहै और द्रव्यकी पूर्ति और मांगसे निर्धारित होती है। द्रव्यकी पूर्तिसे उसका तात्पर्य द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रासे है जिसमें सरकारी द्रव्यके अतिरिक्त बैंकोंका साख द्रव्यभी सम्मिलित है। द्रव्यकी मांग जन-समुदायके उस स्वभावसे निश्चित होतीहै जिसे उन्होंने द्रव्य-वरीयताका नाम दिया है। प्रत्येक प्राणी अपनी सम्पत्तिके कुछ अंशको यातो द्रव्यके रूपमें रखनेका इच्छुक होताहै या कमसे कम इस रूपमें कि वह स्वेच्छानुसार तुरन्तही उसे द्रव्यके रूपमें परिणत कर सके, इसके उसने चार कारण बताये हैं:

(१) आय—उद्देश्य, प्राय: मनुष्यकी आय तो निश्चित तिथियोंपर प्राप्त होती है परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन करना पड़ता है। इसकारण कुछ द्रव्य सदैव उसे अपने पास रखना पड़ता है। (२) व्यापार—उद्देश्य, व्यापार में द्रव्यका व्यय तो पहिले करना पड़ताहै और प्राप्ति शनै: शनै: बिक्री होनेके अनन्तर होती रहती है। इस कारण व्यापारी लोगोंको कुछ सम्पत्ति द्रव्यके रूपमें रखना आवश्यक होजाता है। (३) पूर्वाधारणा—उद्देश्य, कई व्यय अकस्मात् करने पड़जाते हैं। कभी कभी व्यापारी लोगोंको अकस्मात् लाभ प्राप्त करनेके अवसर मिलजाते हैं। द्रव्यका अभाव होनेपर ऐसे अवसरोंपर हानिकी सम्भावना रहा करती है। (४) सट्टेका उद्देश्य—सट्टा करनेके लिए भी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिका रखना अनिवार्य सा ही है।

इन उद्देश्योंकी शक्ति आयकी मात्रा परही निर्भर नहीं वरन् इस बातपर भी निर्भर है कि वह आय कितने कितने समयके अनन्तर प्राप्त होती है। आर्थिक व्यवस्थाकी प्रगति मन्दी अथवा चढ़ाईकी ओर होनेका भी इस शक्तिसे घनिष्ट सम्बन्ध है।

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर पूंजीका वह मौद्रिक मूल्य नहींहै जो पूंजीकी उत्पादन-शक्ति द्वारा निर्धारित मांग और उपभोग-व्याक्षेप द्वारा कृत बचत अर्थात् पूर्तिमें सन्तुलन स्थापित करताहै परन्तु वह मौद्रिक मूल्यहै जो सन्तुलन तो स्थापित करता है परन्तु यह सन्तुलन लोगोंकी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिको अपने आधीन रखनेकी इच्छाके कारण द्रव्यकी मांग और द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रामें होता है। इसका अर्थ

यह हुआ कि यदि ब्याजकी दर कम होजाये तो लोगोंको अपनी सम्पत्तिका द्रव्यके रूप में रखनेकी इच्छा को पूरा करनेके लिए कम हानि उठानी पड़ेगी। अथवा सम्पत्ति को द्रव्यके रूपमें न रखकर उद्योगपतियोंको ऋण पर देनेसे अपनी इच्छा को दबाने के लिए उन्हें ब्याजके रूपमें कम पुरस्कार मिलेगा। इसकारण के द्रव्यके रूपमें अपनी सम्पत्ति रखना उचित समझेंगे। फलत: द्रव्यकी मांग द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा से अधिक होगी। इसके विपरीत यदि ब्याजकी दर बढ़जाय तो उपलब्ध द्रव्यकी कुछ मात्रा ऐसी शेष रहेगी जो कोईभी अपने पास द्रव्यके ही रूपमें रखनेके लिए उद्यत न होगा। इससे स्पष्टहै कि कीन्सके अनुसार द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा द्रव्यकी पूर्तिहै और सम्पत्तिकी वह मात्रा जोलोग द्रव्यके रूपमें रखनेके इच्छुक हों, द्रव्यकीमांगहै और इन दोनोंमें ब्याजकी दरसे सन्तुलन स्थापित होता है।

ब्याज और पूंजी की उत्पादनशीलता

इस स्थानपर यह उल्लेख आवश्यक होगा कि कीन्सके सम्पत्तिको द्रव्यके रूपमें रखनेके पहिले उद्देश्यकी सहायतासे कीन्ससे पहिलेही वेकस्टीडने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कियाथा कि ब्याज प्राप्त करनेके लिए पूंजीका उत्पादक होना आवश्यक नहीं है अर्थात् पूंजी उत्पादन-शक्तिसे वंचितभी होती तोभी उसे ऋणपर देनेके लिए ब्याज प्राप्तही होता। इस संसारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते हैं। एकतो वे जिन्हें आय तो निश्चित समयपर प्राप्त होतीहै परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन अथवा अनियमित ढंगसे भिन्न भिन्न अवसरोंपर करना पड़ता है। दूसरे वे जिनको जीवनभर अपने व्ययको चलानेकी सामग्री आरम्भसे ही द्रव्यके रूपमें लभ्य होती है। पहिले प्रकारके मनुष्योंकी जीवनभर में उपार्जित आय जीवनभर किये जानेवाले व्ययके सम होसकती है परन्तु अल्पकालमें व्यय आयसे अधिकभी होसकता है। इसकारण अल्पकालमें उन्हें ऋण लेनेकी आवश्यकता रहती है। दूसरे प्रकारके मनुष्य जीवन भरकी आवश्यकताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए वस्तुओंको तो खरीद नहीं सकते इस कारण उनके पास कुछ द्रव्य बेकारही पड़ा रहता है। पहिले प्रकारके मनुष्यों को ऋण लेनेमें लाभहै और दूसरे प्रकारके मनुष्योंको ऋण देनेमें यदि लाभ नहीं तो कमसे कम हानिभी नहीं है। यही कारणहै कि प्राय: ऋण देनेवालों की देनेकी इच्छा

उतनी तीव्र नहीं होतीहै जितनी कि ऋण लेनेवालोंकी लेनेकी इच्छा। इन दोनों इच्छाओंकी तीव्रताको सम करनेके लिए लेनेंवाले देनेवालोंको कुछ प्रलोभन देतेहैं। इसी प्रलोभनका नाम ब्याज है।

ब्याज इसलिए दियाजाता है क्योंकि पूंजीकी मांग पूंजीकी पूर्ति से सदैव अधिक रहती है। ब्याज पूंजीका मूल्य होनेके कारण उपलब्ध पूर्तिको क्रयशक्ति युक्त मांग के सम करदेता है। पूर्तिकी तुलनात्मक न्यूनताके कारण पूंजीका किसी विशेष उद्देश्यके लिए नियोग करनेसे उस पूंजीका अन्य उद्देश्योंके लिए नियोग असम्भव हो जाता है। इसकारण ब्याज द्वारा यह निर्णय करनेमें सहायता मिलतीहै कि पूंजीका किन उद्देश्योंके लिए नियोग कियाजाना चाहिए। आर्थिक दृष्टिसे प्रतिस्पर्धी नियोगों में से वह नियोग श्रेष्ठतम समझा जायगा जिसमें पूंजी लगानेसे अधिकतम लाभ प्राप्त होनेकी आशा हो। सामाजिक दृष्टिसे भी वह नियोग श्रेष्ठतमहै या नहीं यह निर्णय करना अर्थशास्त्रका नहीं वरन् समाजशास्त्र इत्यादि अन्य शास्त्रोंका विषय है।

२१

लाभ

शुद्ध और मिश्रित लाभ

उत्पादन कार्यको सुचारु रूपसे चलानेके लिए व्यवस्थापकों अथवा उद्योगपतियों की आवश्यकता होती है। ये लोग अन्य उत्पादनके साधनोंको एकत्रित करके उत्पादन कार्यमें संलग्न करते हैं। उत्पत्तिकी भविष्यमें होनेवाली मांगका अनुमान लगाकर उसके आधारपर उत्पत्तिकी मात्रा निश्चित करते है। आर्थिक क्षेत्रमें अगुओंका रूप धारण करके नित नयी उत्पादन-विधियोंका प्रयोग करतेहैं और नयी नयी वस्तुएं उत्पन्न करते हैं। इन सब कारणोसे उन्हें ऋणपर पूंजी देनेवालोंसे अधिक जोखिम उठानी पड़तीहै जिसके पुरस्कारके रूपमें उन्हें लाभ प्राप्त होता है। अर्थ-शास्त्री शुद्ध लाभ और मिश्रित लाभमें भेद करते हैं। मिश्रित लाभमें शुद्ध लाभ के अतिरिक्त ब्याज तथा मजूरीके अंशभी सम्मिलित होते है। कई एक उद्योगपति अपने उद्यममें निजी पूंजीका भी प्रयोग करते है। इस पूंजीको यदि वे ऋणमें देदेते तो उन्हें ब्याज प्राप्त होता। इसकारण उद्योगपतियोंको प्राप्त कुल लाभमें से इस ब्याजकी मात्राको निकाल देना आवश्यक है। इसीप्रकार प्रत्येक उद्योगपतिको उद्यमके निरीक्षण आदिका कार्य करनाही पड़ता है। यदि उसका अपना उद्यम न होता तो वह प्रबन्धकके रूपमें इस कार्यके लिए वेतन पाता। इसकारण कुल प्राप्त लाभमें से उद्योगपतिको प्रबन्धकके रूपमें मिल सकनेवाले वेतनको भी निकाल देना चाहिए। शेष बची हुई मात्रा उद्योगपतिके जोखिम उठाने तथा उद्योग-साहस करने का पुरस्कार है और उसे शुद्ध लाभ कहाजाता है।

लाभ का भूमि-कर सिद्धान्त

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकरका मतथा कि लाभकी मात्रा ठीक उसीप्रकार

निश्चित होतीहै जैसे भूमि-कर की। किसी विशेष उद्योग धन्धेमें होनेवाला उत्पादन-व्यय उस उद्योग धन्धेकी सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययसे निश्चित किया जाताहै और इस उत्पादन-व्ययके सम मूल्यपर उत्पन्न वस्तु बाज़ारमें बिकती है क्योंकि सीमान्त संस्था सीमान्त भूमिके समान केवल अपने उत्पादन-व्ययको ही पूरा कर पाती है। सीमान्त संस्थासे ऊपरकी संस्थाओंकी उनके व्यवस्थापकों में अधिक योग्यता के कारण उत्तम व्यवस्था होतीहै और उनके उत्पादन-व्यय प्रत्येक व्यवस्थापकके कार्यकौशलके अनुसार कम होते हैं। वे सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित मूल्यपर भी वस्तु बेचकर उत्पादककी बचतके रूपमें लाभ प्राप्त करते हैं। अपने मतकी पुष्टिके लिए वाकरने एक ऐसे व्यवस्थापककी कल्पनाकी है जिसे तनिकभी लाभ प्राप्त न होता हो। ऐसे लोग व्यर्थही उत्पादन कार्यमें संलग्न होने का कष्ट लेते हैं। परन्तु उनकी संस्थाओंका आर्थिक दृष्टिसे महत्त्वहै क्योंकि उस उद्योग धंधे द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका मूल्य इसी प्रकारकी संस्थाओंके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इसीकारण वाकरने इन संस्थाओंको सीमान्त संस्था माना है। इनसे ऊपर वे संस्थाएंहैं जिनको मार्शल ने प्रतिनिधि संस्था कहा है। यह संस्था नतो वाकरकी सीमान्त संस्थाके समान ऐसीही होतीहै कि इसके व्यवस्थापकको कुछ लाभही प्राप्त नहो और न बड़ी बड़ी समृद्ध संस्थाओंके समान ऐसी कि इसके व्यवस्थापक बहुत लाभ प्राप्त कररहे हों बल्कि ऐसी जो दीर्घकालसे तो स्थापित हो, सामान्य योग्यतासे उसका प्रबन्ध होरहा हो, सामान्य उत्पादन-विधि को प्रयुक्त कर रहीहो और अधिक मात्रामें उत्पन्न करनेकी सामान्य मितव्ययिता इसे प्राप्त हो रही हो। ऐसी संस्थाओंसे ऊपर वे संस्थाएं होतीहैं जिनके व्यवस्थापक अत्यन्त योग्य होते हैं और अपनी योग्यताकी सहायतासे बड़े बड़े लाभ प्राप्त करते हों और इनसे भी ऊपर उन दिग्गजोंकी संस्थाएं होतीहैं जिनके लाभकी सीमा बांधनाही असम्भव है।

हम देखचुकेहैं कि बाज़ारभाव तो निश्चित होताहै सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययसे। इसकारण सीमान्त संस्थासे ऊपरकी संस्थाएं उन व्यवस्थापकोंकी योग्यता के अनुसार ठीक उसी प्रकार लाभ उठाती हैं जिस प्रकार सीमान्त भूमिसे ऊपर की भूमियोंको उनकी उत्पादनशक्तिके अनुसार भूमि-कर प्राप्त होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार लाभको योग्यताका कर कहना अत्युक्ति न होगी।

इस सिद्धान्तके अनुसार वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करनेमें भूमिकरके समानही लाभका तनिकभी हाथ नहीं क्योंकि मूल्य निर्धारित करनेवाली सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययमें लाभका अभाव होता है। इसके विपरीत लाभ स्वयं मूल्यसे निर्धारित होता है, क्योंकि मूल्य गिरनेसे सीमान्त संस्थाएं तो बन्द होजाती हैं और उनका स्थान थोड़ा बहुत लाभ प्राप्त करनेवाली संस्थाएं ग्रहण कर लेती हैं। परोक्ष रूप में भलेही लाभका मूल्योंपर प्रभाव पड़ सकना सम्भव होसकता हो। क्योंकि अपनी योग्यताके कारण अधिक लाभ उठानेवाले व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करके उत्पादन-व्ययमें क्रमशः ह्रास होनेकी सम्भावनाका लाभ उठानेके उद्देश्यसे अपनी बिक्री बढ़ानेके लिए सीमान्त संस्थाके उत्पादन-व्ययसे कम मूल्यपर वस्तु बेच सकते है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार वाकरकी लाभसे वञ्चित संस्थाका अस्तित्व असम्भव था क्योंकि कोई भी व्यवस्थापक तबतक व्यर्थही अपनी योग्यता एवं श्रम का व्यय करनेके लिए उद्यत न होगा जबतक कि उसे किसी विशेष उद्योग धंधेमें प्राप्त होनेवाले औसत लाभके मिलनेकी आशा न हो। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वासथा कि किसीभी, व्यवस्थापकको किसीभी उद्योग धन्धेमें उसमें प्राप्त होनेवाले औसत लाभसे अधिक लाभ प्राप्त नही होसकता। अल्पकालमें भलेही कोई व्यवस्थापक इस औसत लाभसे न्यून अथवा अधिक लाभ प्राप्त करले परन्तु दीर्घकालमें औसत लाभसे कम लाभ प्राप्त करनेवाली संस्थाएं स्वयंही बन्द हो जायेंगी और यदि प्राप्त लाभ औसत लाभसे अधिक होगा तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें नयी संस्थाएं उस उद्योग धन्धे की ओर आकर्षित होंगी जिनकी स्थापनासे लाभ पुनः अपने प्राकृतिक स्तरपर आजायेगा। इसप्रकार नयी संस्थाओंकी स्थापना अथवा पुरानी संस्थाओंका लोप होनेसे प्रत्येक उद्योग धन्धेमें मिलनेवाले औसत लाभ में एक सन्तुलन सा स्थापित होजायेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक उद्योग धन्धेमें कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होनेकी आशा से प्रेरित होकर व्यवस्थापक उस धंधेकी ओर आकृष्ट होंगे परन्तु यहभी सत्य नहीं कि उस उद्योगधन्धेमें मिलनेवाले औसत-लाभका स्तर इतना स्थिर होगा जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री मानते थे। और भिन्न भिन्न संस्थाओंके लाभमें उतार चढ़ाव तो स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त सामान्य अथवा औसत लाभ

का निश्चित करना इतना सरल नहीं जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री समझते थे। व्यवस्थापकों की बुद्धि एवं योग्यता में अन्तर होनेके कारण भिन्न भिन्न संस्थाओंके लाभोंमें अन्तर होना आवश्यक सा है। इस कठिनाई को मार्शल ने प्रतिनिधि संस्थाकी कल्पना द्वारा दूर करनेकी चेष्टाकी थी। इस संस्थाको प्राप्त होनेवाले लाभको उस उद्योग धन्धेमें मिलनेवाला सामान्य लाभ मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहदेना अनुचित न होगा कि वाकरकी लाभ-वंचित संस्थाका अस्तित्त्व भी इतना असम्भव नहीं जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री और उनके अर्वाचीन अनुयायी मानते हैं। किसी संस्थामें एकबार नियुक्त पूंजीका, विशेषकर स्थायी रूपमें नियुक्त पूंजीका किसी अन्य उद्योग धन्धेमें परिवर्तन कठिन होजाता है। इसकारण लाभ के अभावकी स्थितिमें भी कई संस्थाएं उत्पादन कार्य बन्द नहीं करतीं। इसी प्रकार कई व्यवस्थापक केवल अपनी नियुक्त पूंजीपर ब्याज प्राप्त करकेही सन्तुष्ट होजाते हैं। इसके अतिरिक्त यहभी आवश्यक नहीं कि कोई संस्था सदैवके लिए लाभ-वंचित संस्थाही रहे। प्रत्येक उद्योग धन्धमें नित नयी संस्थाएं स्थापित होती रहती हैं। बहुतसी अस्थायी संकटों से ग्रस्त होजाती हैं, बहुतसी पतनोन्मुख होती हैं। ऐसी संस्थाओंको लाभ प्राप्त नहीं होता परन्तु कालान्तरमें इनमें से बहुतसी कुछ लाभ उपार्जन करने योग्य होजायेंगी और अन्य अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगी और उनका स्थान अन्य संस्थाएं ग्रहण करलेंगी।

किन्तु मार्शलके अनुसार किसी उद्योग धन्धेमें पूंजीका विनियोग उस उद्योग धन्धे की प्रतिनिधि-संस्थाके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इस उत्पादन-व्यय मे उस प्रतिनिधि संस्थाको प्राप्त होनेवाला सामान्य लाभभी सम्मिलित होता है और मूल्यभी इसी प्रतिनिधि संस्थाके उत्पादन-व्यय द्वाराही निर्धारित होता है। इसकारण सामान्य लाभभी मूल्य में शामिल होता है। प्रतिनिधि संस्थासे अधिक कुशल संस्थाओंको प्राप्त अतिरिक्त लाभका मूल्यमें समावेश सम्भव नहीं।

जोखिम और लाभ

एक और सिद्धान्तके अनुसार शुद्ध लाभ केवल वह पुरस्कार है जो उद्योगपतिको संस्था स्थापित करनेकी जोखिम उठानेके लिए प्राप्त होता है। नाइट ने जोखिम

भी दो प्रकारकी बताई है। एकतो वह जोखिम जिसके कारण होनेवाली हानिकी गणना गणितशास्त्रके नियमों द्वारा निश्चित रूपसे की जासकती है और इस कारण उससे बचनेके लिए बीमा इत्यादि साधनोंका उपयोग किया जासकता है। बीमाके कार्यके लिए विशेष संस्थाएं होतीहैं और उनको दियागया अधिक शुल्क व्यवस्थापकके उत्पादन-व्ययमें सम्मिलित करलिया जाता है। परन्तु दूसरी जोखिम इस प्रकारकी होती है कि उसके कारण होनेवाली हानिकी गणना असम्भव होतीहै क्योंकि मनुष्य त्रिकालदर्शी तो है नहीं कि भविष्यमें होनेवाली सब घटनाओं का पूर्णरूपसे वर्तमान में ही ज्ञान प्राप्त करले। इस प्रकारकी जोखिमसे होनेवाली हानि की गणना करनेमें गणितशास्त्रभी असमर्थ है और इसकारण उससे बचाव का कोईभी साधन नहीं। नाइटने इस प्रकारकी जोखिमको अनिश्चतताका नाम दियाहै और उसका मतहै कि शुद्ध लाभ व्यवस्थापकको इस अनिश्चितता रूपी जोखिम उठानेका पुरस्कार मात्र है। यदि अनिश्चितता न होती तो लाभका अभाव होता।

ब्याज का प्रगतिशील सिद्धान्त

इस सिद्धान्तका जन्मदाता प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री क्लार्क था। उसने अर्थ व्यवस्थाके दो भेद किये हैं। एकतो स्थिर और दूसरा प्रगतिशील। स्थिर अर्थ-व्यवस्था वहहै जिसमें जनसंख्या और पूंजीमें किसीभी प्रकारकी वृद्धि नहीं होती; नये आविष्कारोंका अभाव रहता है; उत्पादन रीतियां ज्यों की त्यों रहती हैं। संक्षेपमें स्थिर अर्थ-व्यवस्थामें परिवर्तनोंका अभाव रहता है। यद्यपि ऐसी व्यवस्था मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितिमें उत्पादनके साधन गतिशील होतेहैं फिरभी गतिका अभाव रहताहै क्योंकि प्रत्येक व्यवसायमें श्रम और पूंजीकी उत्पादन-शीलता सम होती है। इस प्रकार की स्थिर अर्थ-व्यवस्था में क्लार्कके मतानुसार शुद्ध लाभका अस्तित्व असम्भव है और सम्पूर्ण उत्पत्ति श्रम और पूंजी द्वाराही होतीहै और श्रमजीवियों एवं पूंजीपतियोंमें उसका वितरण होजाता है। ऐसी स्थितिमें लाभ का प्रश्नही नहीं उठता। पूर्ण प्रतिस्पर्धाके कारण मजूरी और ब्याज श्रम और पूंजी द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके बराबर होते हैं। श्रमजीवियों और पूंजीपतियों

में वितरित होनेके अनन्तर राष्ट्रीय आयका कोईभी अतिरिक्त भाग शेष नहीं रहता जिसका कि लाभके रूपमें वितरण किया जासके। परन्तु क्लार्कका मतथा कि कोईभी अर्थव्यवस्था स्थिर नहीं होती। जनसंख्या और पूंजीमें वृद्धि, उत्पादन रीतियोंमें उन्नति, औद्योगिक व्यवस्थाके रूपोंमें और उपभोक्ताओंकी आवश्यकताओंमें परिवर्तन प्रत्येक अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील बनाये रखनेके मुख्य कारण हैं। उद्योगपति का कर्तव्य अर्थ-व्यवस्था में होनेवाले इन्हीं परिवर्तनोंसे सम्बन्धित है। उसे अपने कर्तव्य-पालनके लिए साधारण श्रमिकोंके समान श्रम नहीं करना पड़ता वरन् उसका अस्तित्व श्रम और पूंजीको उत्पादनशील बनानेके लिए आवश्यक होता है। श्रम और पूंजीको उचित अनुपातमें संयोजित करनेसे ही उनकी उत्पादनशीलतामें वृद्धि होजाती है और यही बढ़ीहुई उत्पत्ति उद्योगपति को उसके साहसके बदले लाभके रूपमें प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए नये नये आविष्कारों को उत्पादन कार्यमें प्रयुक्त करनेके लिए साहसकी आवश्यकता होती है। जो उद्योगपति किसी नवीनताका सर्वप्रथम प्रयोग करनेके लिए उद्यत होजाता है वह उस प्रयोग द्वारा प्राप्त अधिक उत्पत्तिकी मात्राको लाभके रूपमें पाता है। शनैः शनैः अन्य लोगभी उस नवीनताका प्रयोग करने लगतेहैं और उसे प्राप्त होनेवाला लाभ न्यून अथवा शून्य होजाता है।

२२

द्रव्य

द्रव्य की आवश्यकता

आधुनिक आर्थिक व्यवस्थामें द्रव्यका एक विशेष स्थान है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि यदि हमारे बीचसे द्रव्यको उठालिया जाय तो हमको अपने आर्थिक कार्योंके सम्पादनमें बहुत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा और आर्थिक व्यवस्थाभी अव्यवस्थित होजायगी। कुछ साधारण उदाहरणोंसे हम इस स्थितिको समझा सकतेहैं। अनेक लोग अपनी आजीविकाके लिए वृत्ति करते हैं और उनको द्रव्यके रूपमें आय मिलतीहै। यदि द्रव्यका प्रयोग समाजमें न होता तो यह आय वस्तुओंके रूपमें दी और लीजाती। इससे लेनेवाले और देनेवाले दोनोंको परेशानी उठानी पड़ती। यदि कोई मजदूर कपड़ेके कारखानेमें कार्य करताहै तो कारखानेका मालिक उसकी मज़दूरी कपड़ेके रूपमें देसकता है। परन्तु मज़दूरोंको कपड़ेके अतिरिक्त भोजन की सामग्री, रहनेका स्थान इत्यादि अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता है। अतएव उसको अतिरिक्त कपड़ेके बदले इन वस्तुओंको प्राप्त करना पड़ेगा। स्थिति औरभी विषम होजाती है जबकि हम एक अध्यापकका मामला लेते हैं। विश्व विद्यालय का अध्यापक कारखानेके मज़दूरकी तरह कोई ऐसी वस्तु तो बनाता नहीं जो उसको पारिश्रमिकके रूपमें दी जासके। तब फिर रजिस्ट्रार अथवा कोषाध्यक्ष किस प्रकार उसको पारिश्रमिक दे। यही होसकता है कि विद्यार्थियोंसे कहाजाय और सरकारसे भी प्रार्थना कीजाय कि वह भिन्न भिन्न वस्तुओंके रूपमें फ़ीस और आर्थिक सहायता विश्वविद्यालय को दें और इन्हींका किसी प्रकार अध्यापकोंमें तथा विश्व विद्यालयके अन्य कार्यकर्ताओंमें वितरण हो। द्रव्यके प्रयोगसे इसप्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न नहीं होती हैं। इसीप्रकार उत्पत्तिके कार्यके लिए अनेक आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। यदि उत्पत्ति का क्षेत्र बड़ाहो तो इन साधनोंकी बड़ी मात्रा

में आवश्यकता होती है। द्रव्यके द्वारा इन साधनोंके इकट्ठा करनेमें बहुत सुगमता होती है। यदि द्रव्य नहो तो उत्पादकों को कच्चा माल, मशीन, मज़दूर इत्यादि साधनोंको उपयुक्त मात्रामें कारखानोंमें एकत्र करनेमें बहुत असुविधा होगी। जब हम बाज़ार जातेहैं तो अपने साथ द्रव्य लेजाते हैं और भिन्न वस्तुओंको भिन्न भिन्न परिमाणमें मोल लेते हैं। यदि द्रव्य न हो तो इस कार्यमें बड़ी रुकावट पैदा होजाय। इसप्रकार हम आजकल अपनी बचतभी द्रव्यके रूपमें करतेहैं और भविष्यमें इसके बदले आवश्यक वस्तुएं लेलेते हैं। द्रव्यके अभावमें हमको इसप्रकार की वस्तुओंका ही संचय करना पड़ता। इनको रखनेका प्रबन्ध करना पड़ता, टूट, फूट, सड़ने-गलने और बिगड़नेसे बचाना पड़ता अर्थात् बड़ी झंझट और उलझनमें फंसना पड़ता। हमलोग आजकल द्रव्यके प्रयोगके इतने अभ्यस्त होगये है कि हम अनुमानही नहीं करसकते हैं कि द्रव्यके बिना हमको कितनी असुविधाएं होतीं। आर्थिक विकासमें एक समयथा, जबकि समाजमें द्रव्य नहींथा और आर्थिक कार्य बिना इसकी सहायता के होते थे।

वस्तु विनिमय की प्रथा

हम इसप्रकार की आर्थिक व्यवस्थाकी कल्पना करसकते हैं जिसमें द्रव्यकी आवश्यकता ही न पड़े। यदि किसी कुटुम्बके लोग स्वयंही अपनी आवश्यकताओंकी वस्तुओं को उत्पन्न करलें तो उनको द्रव्यकी आवश्यकता नहीं जान पड़ेगी। इसीप्रकार यदि समाजकी इस प्रकारकी व्यवस्था होजाय कि समाजके प्राणी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार राज्यके अन्तर्गत उद्योग करें और राज्यके द्वाराही उनकी आवश्यकतानुसार वितरणहो तोभी शायद द्रव्यकी आवश्यकता न जानपड़े। वास्तवमें इस प्रकारकी आर्थिक व्यवस्थाओंके उदाहरण बहुत कम पायेजाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अथवा कुटुम्ब अपनी आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए कम या अधिक मात्रा में दूसरोंपर निर्भर रहता है। उसको अपनी वृत्ति अथवा वस्तुओंके बदले दूसरोंकी वृत्ति और वस्तुएं प्राप्त करनी पड़ती हैं। इसप्रकार के आदान-प्रदानको हम विनिमय कहते हैं। द्रव्यके बिना जो विनिमय होताहै उसको अदल-बदलकी प्रथा कहते हैं। प्राचीनकाल में इसी प्रथा द्वारा लोग एक दूसरेसे वस्तुओं अथवा सेवाओंका

विनिमय करके अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करलेते थे। आजभी अनेक असभ्य जातियां हैं जिनमें द्रव्यका चलन नहींहै और जो कुछभी विनिमयका कार्य उनमें पायाजाता है वह अदल-बदलकी प्रथा परही निर्भर है। खेतीके कार्यमें कहीं कहीं अभीतक मज़दूरको अनाजके रूपमें पारिश्रमिक दियाजाता है। विदेशी व्यापारमें भी राज्योंके बीच आपसमें इसप्रकार की स्वीकृतियां होतीहैं जिनके अनुसार एक राज्यकी कुछ वस्तुएं किसी निश्चित परिमाणमें दूसरे राज्यकी अन्य वस्तुओंके निर्धारित परिमाणमें बदल लीजाती हैं।

विनिमय का माध्यम

यदि हम अदल-बदलकी प्रथाका विश्लेषण करें तो हमको इसमें अनेक कठिनाइयां और असुविधाएं दिखलाई देती हैं। एक कठिनाई यहहै कि अदल-बदलकी क्रियाके चरितार्थ होनेसे पहिले इस प्रकारके दो व्यक्तियोंका मिलनहो जिनको एक दूसरेकी वस्तुओंकी आवश्यकता हो। उदाहरणार्थ मानलीजिए कि किसी किसानके पास गेहूंहै और वह उसके बदलेमें कपड़ा चाहता है। अब उसको एक ऐसे व्यक्तिको ढूंढना पड़ेगा जिसको गेहूंकी आवश्यकता हो और जिसके पास देनेके लिए अतिरिक्त कपड़ा हो। इस कार्यमें समयकी बरबादी होतीहै और परेशानीभी होती है। प्राचीनकालमें बड़े बड़े मेलोंके लगनेका शायद एककारण यहभी रहाहो कि मेलेमें सभी तरहकी वस्तुएं एक स्थानपर इकट्ठा होतीहै और इससे अदल-बदलके कार्यमें सुविधा होजाती है। अबहम यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि द्रव्यके प्रयोगसे किस प्रकार इस असुविधाको दूर कियागया है। पूर्वलिखित उदाहरणका विस्तार करतेहुए कल्पना कीजिए कि जिस जुलाहेके पास कपड़ाहै उसको किसानके गेहूंकी आवश्यकता नहींहै परन्तु उसको तेल चाहिए। यहभी मानलीजिए कि तेलीको गेहूं चाहिए। स्पष्टहै कि यदि किसान अपने गेहूंके बदले तेलीसे तेल प्राप्त करले तो वह तेलको पुनः जुलाहेको देकर कपड़ा प्राप्त करसकता है। यह एक गेहूंके बदले तेल प्राप्त करनेकी बीचकी विनिमयकी क्रिया बड़े महत्त्वकी है। गेहूं और कपड़ेका एक दूसरेसे प्रत्यक्ष विनिमय न होकर तेलके माध्यम द्वारा हुआ। किसानको तेलकी सहायता से कपड़ा प्राप्त करनेमें सुविधा प्राप्त हुई। विनिमयके यहांपर दो भाग

होजाते हैं। पहिला गहूंका तेलमें विनिमय और दूसरा तेलका कपड़ेमें विनिमय। तेल यहांपर विनिमयके माध्यमका काम कररहा है। किसानको तो तेलकी आवश्यकता नहींहै परन्तु वह उसको कपड़ा प्राप्त करलेनेके लिएही लेता है। यही क्रिया आजकल द्रव्य द्वारा होती है। इसको क्रय-विक्रय कहाजाता है। किसान अपने गेहूं को द्रव्यमें विनिमय (विक्रय) करता और द्रव्यको पुनः कपड़ेमें विनिमय (क्रय) करता है। आजकल हम द्रव्यको मुद्रा नोट और बैंक-धरोहरके रूपमें पाते हैं। परन्तु एक व्यापक अर्थमें कहा जासकता है कि पूर्वोक्त उदाहरणमें तेलसे भी द्रव्य का ही काम लिया जारहा है। अतः जिससमय समाजने किसी माध्यम द्वारा विनिमय करना आरम्भ किया उसी समयसे द्रव्यका सूत्रपात होगया। बादमें द्रव्य कई रूपमें भिन्न भिन्न समाजोंमें प्रयोगमें आया और विकसित होकर आजकल मुद्रा, नोट और बैंक धरोहरके रूपको प्राप्त हुआ। इस विकासकी कथाको हम आगे लिखेंगे।

मूल्य का माप-दंड

वस्तु-विनिमयकी प्रथामें एक कठिनाई औरभी है। कितने तेलके लिए कितना गेहूं दियाजाय और कितने तेलके बदले कितना वस्त्र मिल सकताहै इस हिसाबके बिना अदलबदलकी क्रिया सम्पादित नहीं होसकती है। एक वस्तुके एक इकाईके परिमाण के विनिमयमें जितनी परिमाणमें दूसरी वस्तु मिल सकतीहै उसको हम पहिली वस्तुका अर्थ कहेंगे। यदि एकसेर गेहूंके बदले आधासेर तेर मिलसकता है तो गेहूंका अर्थ आधासेर तेल हुआ और यदि एकसेर तेलके विनिमयसे दो गज़ कपड़ा मिल सकताहै तो तेलका अर्थ दो गज़ कपड़ा हुआ इत्यादि। स्पष्टहै जितनी भी वस्तुएं विनिमयके निमित्तहैं उन सबके सम्बन्धमें प्रत्येक वस्तुका अर्थ स्थापित कियेबिना अदलबदलका कार्य पूरा नहीं होसकता है। हम इस कठिनाईके गुरुत्वका आजकल की व्यवस्थामें अनुमानही नहीं करसकते हैं क्योंकि आजकल प्रत्येक वस्तुके अर्थको हम द्रव्यके रूपमें प्रकट करतेहैं जिसको हम उस वस्तुका मूल्य कहते हैं। जैसे एक सेर गेहूंका मूल्य आठआना, एकसेर तेलका मूल्य दोरुपया, एकगज़ कपड़ेका मूल्य एकरुपया इत्यादि। परन्तु जिस समाजमें द्रव्यका प्रयोग न होताहो उसमें तो

प्रत्येक वस्तुका अर्थ अन्य सभी वस्तुओंमें निर्धारित करना पड़ता है। इससे विनिमयके कार्यमें असुविधा होजाती है। यह असुविधा दूर होसकती है यदि समाजके लोग किसी एक वस्तुको प्रामाणिक मानकर अन्य वस्तुओंका अर्थ उसी एक प्रामाणिक वस्तुके परिमाणमें प्रकट करें। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए किसी समाजने गेहूंको प्रमाण-वस्तु मानलिया और अन्य वस्तुओंके अर्थको गेहूंके रूपमें प्रकट करने की प्रथाको स्वीकार करलिया। किसीसमय विशेषमें मान लीजिए एकसेर तेलका अर्थ दोसेर गेहूं और एक गज़ कपड़ेका अर्थ एकसेर गेहूंहै तो हम कह सकतेहैं कि एकसेर गेहूंके बदले दोसेर तेल मिलसकता है अथवा एकसेर तेलके बदले आधागज़ कपड़ा मिलसकता है। इसीप्रकार यदि सभी वस्तुओंका अर्थ गेहूंके रूपमें ज्ञातहै तो बड़ी सुगमतासे एक वस्तुका अर्थ दूसरी वस्तुके परिमाणमें जाना जासकता है और वस्तु-विनिमयके कार्य अधिक सुविधाके साथ होसकते हैं। यह आवश्यक नहींहै कि गेहूं विनिमयका माध्यम हो। विनिमयकी प्रथा अदलबदलकी हीरहे परन्तु वस्तुओंका अर्थ गेहूं द्वारा निर्धारित हो। यहांपर गेहूंसे मूल्य-दंडका कार्य लिया जारहा है। आजकल भी द्रव्यसे यह कार्य लियाजाता है अतएव हम कहसकते हैं कि जब लोग एक वस्तुका अर्थ सीधे दूसरे वस्तुके परिमाणमें प्रकट न कर किसी अन्य प्रामाणिक वस्तुके व्यवधानसे निर्धारित करने लगतेहैं यह प्रमाणिक वस्तु द्रव्यका कार्य करने लगती है। यह कहना कठिनहै कि समाजमें द्रव्यका आगमन विनिमयके माध्यमके रूपमें हुआ अथवा मूल्यके माप-दण्डका कार्य सम्पादित करने के निमित्त हुआ। द्रव्यके दोनों धर्म बडे महत्त्वके हैं। ऐसाभी होसकता है कि किसी समाजमें द्रव्यका प्रयोग प्रारम्भमें विनिमयके माध्यमके लिए और किसीमें मापदण्ड के लिए हुआ हो। आधुनिक समाजमें द्रव्यके द्वारा दोनों कार्य साथ साथ सम्पादित होते हैं। द्रव्यके रूपमें किसीभी वस्तुका मूल्य प्रकट किया जाताहै और उसके माध्यमसे विनिमयका कार्यभी होता है। प्राचीन कालमेंभी तत्कालीन द्रव्यसे सम्भवहै दोनों कार्य एक साथही सम्पादित करनेकी प्रथा चल पड़ीहो उदाहरणार्थ गेहूंके रूपमें मूल्य प्रकट कियाजाय और उसीके माध्यमसे वस्तु-विनिमयका कार्य हो।

जब किसी प्रामाणिक वस्तुके द्वारा अन्य वस्तुओंका मूल्य प्रकटकिया जाने लगता है तो इनका हिसाब-किताब उस प्रामाणिक वस्तुके रूपमें करने और रखनेसे बहुत सुविधा होती है। इस अर्थमें द्रव्य द्वारा वस्तुओंका मूल्यांकन होताहै, हिसाब रखा

जाताहै और चुकता कियाजाता है। उपभोक्ताके सामने जब भिन्न भिन्न वस्तुओं का मूल्य द्रव्यके रूपमें रहताहै और द्रव्यके रूपमें ही उसको आय मिलतीहै तो उसको भिन्न भिन्न वस्तुओंके मूल्योंकी तुलना करके उनको भिन्न भिन्न मात्रामें मोल लेनेकी सुगमता रहती है। इसीप्रकार से यदि उत्पादकोंको उत्पत्तिके साधनोंका मूल्य मालूम हो और उनकी सहायतासे बनायीहुई वस्तुओंका मूल्यभी, तो वह इनके आधारपर अपने उद्योग धन्धोंकी उत्पत्तिकी मात्रा और उत्पादनकी रीतिको इसप्रकार से निश्चित करनेका प्रयत्न करेगा जिससे उसको अधिकतम लाभ हो। द्रव्यकी सहायताके बिना इसप्रकारके गणित करनेमें बहुत असुविधा होजाती है।

कालयापन माप-दण्ड

मूल्यके माप-दंडका कार्य करनेके कारण द्रव्य द्वारा ऋण और उधार सम्बन्धी कार्य भी सुगम होजाते हैं, आजकल की आर्थिक व्यवस्थामें ऋण और उधारके बिना काम नही चलता है। द्रव्यके रूपमें ऋण लेनेसे बड़ी सुविधा होती है। मानलीजिए किसी किसानको बैल खरीदना है। द्रव्यके रूपमें ऋण पानेसे वह बैल खरीदसकता है और उसकी सहायतासे उसको जो आय होतीहै उससे ऋण चुकता करसकता है। यदि द्रव्यका प्रयोग न रहता तो किसी बैलवालेसे उसको बैल उधार मोल लेनापड़ता और यहभी निश्चय करनापड़ता कि भविष्यमें किस वस्तुको कितने परिमाणमें देकर वह उऋण होसकता है। यह झंझटका काम है। अतएव द्रव्यहीन समाजमें लेनदेन का काम सीमित मात्रामें ही होसकता है। द्रव्यके रूपमें ऋण लेने और वापस करनेमें सुभीता रहता है। इसीप्रकार हम दुकानदारोंसे अनेक वस्तुएं उधार लेतेहैं और भविष्यमें द्रव्य द्वारा उसका भुगतान करते है। दुकानदारोंको भी भरोसा रहताहै कि उनको जो द्रव्य मिलेगा उससे वह बिक्रीकी अथवा अपनी उपभोगकी वस्तुएं प्राप्त करसकेंगे। इसप्रकार द्रव्यके द्वारा भविष्यके लेनदेन सम्बंन्धी कार्य सुगमतासे सम्पादित होतेरहते हैं। लोग समझतेहैं कि अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा द्रव्यके अर्थमें परिवर्तन कम होता है। अतएव द्रव्यसे कालयापन माप-दंडका कामभी लिया जासकता है। यहांपर हम यहभी कहदेना चाहतेहैं कि द्रव्यके अर्थमें सदैव स्थिरता नहीं रहती है। समय समयपर परिवर्तन होनेसे भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको आर्थिक

लाभ अथवा हानि होती रहती है। इस विषयपर हम आगे के अध्यायों में अधिक प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

द्रव्य और बचत

हमलोग अपनी आयका कुछ भाग विविध प्रयोजनोंके निमित्त बचाना चाहते हैं। इस बचतका भूमि, मकान, आभूषण, शेयर और उपकरणोंके रूपमें भी परिवर्तन किया जासकता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अथवा संस्थाको बचतका कुछ न कुछ भाग अवश्यही द्रव्य-रूपमें रखना पड़ता है। इसका प्रधान कारण द्रव्यकी सुलभ क्रय-शक्ति है। बचतको द्रव्यके रूपमें रखनेसे उसको किसीभी मदमें सुगमतासे व्यय किया जासकता है। यदि बचतको अन्य किसी रूपमें रखाजाय तो उसको सुगमता से अन्य कार्योंमें नहीं लगाया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि मनुष्यने अपनी बचतसे भूमि मोल लेली। अब यदि तीर्थयात्रा करनेके लिए रुपयोंकी आवश्यकता पड़े तो उसको भूमि बेचनी पड़ेगी और सम्भवहै कि जिस कालमें उसको भूमि बेचनी पड़े उस अवसरपर भूमिका मूल्य गिर गयाहो और उसको हानि उठानी पड़े। यदि वह अपनी बचतको द्रव्यके रूपमें बैंकमें रखे होता तो उसको अधिक सुविधा होती। भिन्न भिन्न प्रकारकी सम्पत्तियोंमें भिन्न भिन्न मात्रामें सुलभ क्रय-शक्ति होती है। द्रव्य ही एक ऐसी सम्पत्तिहै जिसमें यह गुण सबसे अधिक मात्रामें पायाजाता है। इसको हम द्रव्यही का द्रवत्वगुण भी कहसकते हैं।

द्रव्य के प्रकार

आर्थिक इतिहाससे ज्ञात होताहै कि भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न समयोंपर भिन्न भिन्न वस्तुएं द्रव्यका काम करचुकी हैं। गाय, बकरी, खाल-तम्बाकू, चाय, कौड़ियां, सोना और चांदी इत्यादि अनेक पदार्थोंका प्रयोग द्रव्यके लिए हुआ है। जिस समाजमें जो वस्तुएं अधिक लोकप्रिय हुई होंगी, उन्हींसे द्रव्यका कार्य लेनेकी प्रवृति हुई होगी। कारण स्पष्ट है। यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु बनाताहै जिसकी मांग सीमितहो तो उसको वस्तुके विनिमय कार्यमें कठिनता होगी। परन्तु यदि

वह पहिले उस वस्तुको किसी लोकप्रिय वस्तुसे विनिमय करले तो लोकप्रिय वस्तु की सहायतासे उसको अपनी आवश्यकताकी वस्तुओंको प्राप्त करनेमें सुविधा होगी और यह लोकप्रिय वस्तु विनिमयके माध्यम अर्थात् द्रव्यका कार्य करने लगेगी।

शनैः शनैः कुछ वस्तुएं अनुभवसे द्रव्यके कार्योंके लिए अधिक उपयुक्त ज्ञात होने लगीं। यदि अन्नको द्रव्य मानागया तो अनावृष्टिके वर्ष द्रव्यके परिमाणमें कमी होजाती है और सुवृष्टिके वर्ष प्रचुरता। इसप्रकार द्रव्यके परिमाणमें अधिक मात्रामें परिवर्तन होने लगताहै जोकि वांछनीय नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्न द्रव्यको सुरक्षित रखनेका प्रबन्ध करनाभी एक समस्या होजाती है। इसीप्रकार यदि गाय, बकरी इत्यादि पशुओंसे द्रव्यका कार्य लियाजाय तबभी अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। यदि किसी संक्रामक रोगके कारण पशु मरने लगें तो द्रव्यके परिमाणमें भी क्षति होती जायगी। इसके अतिरिक्त गाय अथवा बकरी भिन्न आकार प्रकार और रूपरंग की होती हैं। किसप्रकार को प्रामाणिक माना जाय? इसीप्रकार अन्य वस्तुओंमें भी द्रव्यके रूपमें काममें लानेके लिए कुछ न कुछ त्रुटियां ज्ञात होने लगीं। अनुभवके आधार पर धातुएं उनमें भी सोना और चांदी द्रव्यके कार्यके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुईं। अतएव अन्ततोगत्त्वा सभी समाजोंमें इन्हीं वस्तुओंसे द्रव्यका काम लियाजाने लगा।

धातु-द्रव्य

सोने और चांदीमें अनेक गुणहैं जिनके कारण इन धातुओंका प्रयोग द्रव्यके लिए होता आया है। इनमें एक प्रधान गुण यहहै कि ये सभीको प्रिय पदार्थ हैं। हम पहिले ही बताचुके हैं कि जो पदार्थ लोकप्रिय होगा उससे द्रव्यका कार्य लेनेमें सुगमता होगी। सोने और चांदीमें एक गुण यहभी है कि ये बहुमूल्य धातुएं हैं अतएव इनके छोटे परिमाणमें अधिक मूल्य निहित रहता है। इससे यह लाभ होता है कि अधिक परिमाणमें द्रव्य संचय करनेके लिए अधिक स्थानकी आवश्यकता नहीं होतीहै और एक स्थानसे दूसरे स्थानको द्रव्य भेजनेमें भी सुगमता होती है। सोना और चांदी बहुत टिकाऊ पदार्थ हैं। ये बहुत धीरे धीरे घिसते हैं और युगों तक रखे रहनेपर भी इनमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है। अतएव भविष्य

के लिए इनके रूपमें बेखटके मूल्य संचित रखा जासकता है। सोने चांदीके छोटे छोटे टुकड़े किये जासकते हैं। सभी टुकड़ोंमें सादृश्य होताहै और छोटे छोटे टुकड़ों का कुल मूल्य उस बड़े टुकड़ेके बराबर होताहै जिसके वे टुकड़े हैं। यह गुण प्रत्येक वस्तुमें नहीं पायाजाता है। उदाहरणके लिए यदि बकरीको द्रव्य-मानाजाय तो उसके अलग अलग हिस्सोंमें अर्थात् टांग, पूंछ, सिर, इत्यादिमें बहुत असमानता पायीजाती है। सोने और चांदीको पिघलाकर मुद्राके रूपमें परिवर्तित किया जासकता है, सोने चांदीमें एक गुण यहभी है कि ये न तो इतने बड़े परिमाणमें पाये जातेहैं कि इनके बड़े मूल्यकी मुद्रा इतनी बड़ीहो कि उसको लेजानेमें असुविधाहो और न इतने कम परिमाणमें पायेजाते हैं कि कम मूल्यकी मुद्रा इतनी छोटीहो कि उसको जेबमें ढूंढ़नाभी एक समस्या होजाय। अधिक टिकाऊ होनेके कारण सोने चांदीकी किसी समय विशेषकी, उत्पत्तिकी मात्रा उनके कुल संचित परिमाणका एक छोटा सा भाग होती है। अतएव यदि किसी वर्ष खानोंसे अधिक और किसी वर्ष कम सोना चांदी प्राप्तहो तो इसके कारण सोने चांदीके कुल परिमाणमें अधिक अन्तर नहीं पड़ता है। कुछ अर्थशास्त्रियोंके विचारमें इस गुणके कारण इन धातुओंके और इन धातुओंसे बनी मुद्राओंके मूल्यमें कम अस्थिरता रहती है।

मुद्रा

प्रारम्भ में समाजमें सोने चांदी सभी प्रकारके छोटे बड़े टुकड़ोंसे विनिमयका कार्य कियाजाता था। इनमें धातुकी शुद्धता और टुकड़ोंके तौलको ज्ञात करनेकी समस्या होती थी। इस समस्याका समाधान राज्यकी ओरसे हुआ। राज्य द्वारा इस बात का निश्चय हुआ कि किन किन धातुओंसे द्रव्यका कार्य लियाजाना चाहिए। तत्पश्चात् राज्य की ओरसे टकसालें खोलीगयीं जहां इन धातुओंकी निर्धारित तोलों की मुद्रायें ढाली जाने लगीं। इनमें धातुकी शुद्धता और तौलको प्रमाणित करनेके लिए राज्यकी मोहर लगायीगयी और बनावटी नकली मुद्रासे लोगोंको सावधान करनेके लिए वास्तविक मुद्राओं को विशेष आकार-प्रकारसे बनानेकी चेष्टा कीगयी।

दो प्रकारकी मुद्राओंका प्रयोग हुआ जिनको हम प्रामाणिक और सांकेतिक मुद्रा कहेंगे। प्रामाणिक मुद्रा वहहै जिसका अर्थ उस मुद्रामें (वर्तमान) स्थित धातुके परि-

माणके अर्घके बराबर हो। यदि मुद्राको गला दियाजाय तो धातुके टुकड़ेका उतना ही अर्घ होगा जितना कि उस मुद्राका था अर्थात् दोनोंकी क्रयशक्ति समान होगी। इसका प्रधान कारण यहहै कि प्रामाणिक मुद्राके सम्बन्धमें लोगोंको स्वतन्त्रता रहती है कि वह किसी परिमाणमें प्रामाणिक धातुको टकसालमें लेजाकर उसकी प्रामाणिक मुद्राएं ढलवा सकतेहैं और उनको गलाकर फिरसे अमुद्रित रूपमें परिवर्तन कर सकते हैं। अब यदि प्रामाणिक मुद्राकी क्रय शक्ति उसमें स्थित धातुकी क्रय शक्ति से अधिक हो तो लोग उस धातुको मुद्राके रूपमें रखना चाहेंगे और यदि मुद्राकी अपेक्षा धातुका अर्घ अधिकहो तो मुद्राको गला डालेंगे। इसप्रकारके अदलाव-बदलाव से दोनोंका मूल्य समान रहेगा।

इसके प्रतिकूल सांकेतिक मुद्राका अर्घ उसमें स्थिति धातुके अर्घसे कहीं अधिक होता है। यदि हम सांकेतिक मुद्राको गलाडालें तो उससे जो अमुद्रित धातु प्राप्त होगी उसका अर्घ उतना नहीं होगा जितना कि उसका मुद्राके रूपमें था। सांकेतिक मुद्राका प्रयोग अधिकतर छोटे मूल्यके विनिमय कार्योंके लिए होता है। अतएव इन मुद्राओंको तांबा, गिलट जैसे अल्पार्थ धातुसे बनाते हैं। इसप्रकार की मुद्राओंकी ढलाई राज्य स्वयं करताहै जिससे कि इनके परिमाणपर नियन्त्रण रहे और मुद्राका अर्घ धातुके अर्घसे अधिक बना रहे।

राज्य द्वारा निर्मित और अंकित मुद्राको चलनमें एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। इस द्रव्यको लेनेसे इन्कार नहीं किया जासकता। इसप्रकार के द्रव्यको हम राज-प्रामाणिक ग्राह्य द्रव्य कहेंगे अर्थात् ऐसा द्रव्य जोकि राज्यसे प्रमाणित होने के कारण सभीको ग्राह्य होजाता है। यदि हमें किसी महाजन या दुकानदारको ऋण अथवा मूल्य चुकानाहै तो हम इस प्रकारके द्रव्य द्वारा चुका सकतेहैं और दुकानदार अथवा महाजन उसको अंगीकार करनेको न्यायतः बाध्य किया जासकता है, हाँ, एकबात यहहै कि प्रामाणिक मुद्राएं किसीभी परिमाणमें दी जासकती हैं और सांकेतिक मुद्राएं एक सीमित परिमाण तक। भारतमें रुपया प्रारम्भमें प्रामाणिक मुद्राथा अतएव यह अपरिमित मात्रामें ग्राह्य था। सन् १८९३ के पश्चात इसका पद सांकेतिक मुद्रा होगया परन्तु यह अभीतक अपरिमित मात्रामें ग्राह्य है। अठन्नी से नीचेकी जितनीभी मुद्राएंहैं वे एक रुपयेकी सीमा तकही वैध रूपमें ग्राह्य हैं। सांकेतिक मुद्राको सीमित मात्रामें ग्राह्य करनेका कारण यहहै कि अधिक मल्यके

लिए सांकेतिक मुद्रा देने और लेनेमें असुविधा होती है।

प्रामाणिक मुद्रा द्रव्यके सम्बन्धमें इस बातकी स्वतन्त्रता रहतीहै कि कोईभी व्यक्ति किसीभी परिमाणमें सोना अथवा चांदी राज्यकी टकसालमें लेजाकर उनको प्रामाणिक मुद्राओंमें ढलवा सकता है। अतएव चलनमें प्रामाणिक मुद्राका परिमाण प्रधानत: देशवासियों द्वाराही निश्चित होता है। परन्तु सांकेतिक मुद्राओंके सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता है। इनका टंकन राज्य द्वाराही होता है। इसका कारण यहहै कि सांकेतिक मुद्राका मूल्य उसमें स्थित धातुके मूल्यसे अधिक होताहै और इस सम्बन्धको बनाये रखनेके लिए इसके परिमाणको सीमित रखनेकी आवश्यकता होती है। यदि लोगोंको इस बातकी स्वतन्त्रता देदी जाये कि वे जिस परिमाणमें चाहें उस परिमाणमें सांकेतिक मुद्राभी ढलवा सकतेहैं तो इन मुद्राओंके अंकित मूल्य और धातु-मूल्यकी विषमताके अन्तर्गत लाभको प्राप्त करनेके लिए लोग बहुत बड़े परिमाणमें इस प्रकारकी मुद्राओंको ढलवाते जिससे इनकी क्रय शक्ति गिरने लगती। सांकेतिक मुद्राओंकी आवश्यकता कम मूल्यवाले व्यापारोंके सम्बन्धमें ही होती है। अतएव इनको एक बड़े परिमाणमें टंकन करना अपव्यय मात्रही है। चूंकि राज्य द्वारा सांकेतिक मुद्राओंका टंकन होताहै अतएव इस कार्यसे जो लाभ होताहै वह राज्यकोषमें ही जाता है।

मुद्रा-टंकनमें लागत लगती है। इस व्ययको जिसे मुद्राटंकन शुल्क कहतेहैं, किन्हीं देशोंमें राज्यके कोषसे ही पूरा किया जाताहै अर्थात् जो व्यक्ति सोना अथवा चांदी मुद्रांकनके निमित्त लाताहै उससे कोई शुल्क नहीं लियाजाता है। किन्हीं देशोंमें मुद्रांकन-शुल्क लियाजाता है। यदि राज्य मुद्रांकन-व्ययसे अधिक मात्रामें शुल्क लगाये तो इससे उसको जो प्राप्ति होतीहै उसको मुद्रांकन लाभ कहसकते हैं। प्राचीनकालमें राजा लोग कभी कभी मुद्रामें नियमित परिमाणसे कम धातु रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे। इस प्रकारकी मुद्राका पद प्रामाणिक मुद्रासे घटकर सांकेतिक मुद्राके समानही होजाता है। यह अवैध कार्य है।

एक बड़े कालतक मुद्रा रूपमें ही द्रव्य चलनमें रहा। परन्तु आधुनिक कालमें कुल द्रव्यकी तुलनामें मुद्रा-द्रव्यका परिमाण बहुतही कम रहगया है। प्रामाणिक मुद्रा तो अब किसीभी देशमें चलनमें नहीं पायीजाती है। धातुका बना द्रव्य केवल सांकेतिक मुद्राके रूपमें ही चलनमें है और इसका परिमाण कुल द्रव्यके परिमाणके

सामने बहुत कम है। आधुनिक कालमें द्रव्य अधिकतर नोट और साख-द्रव्यके रूप में अधिक मात्रामें चलनमें पायाजाता है। अतएव अब हम इनका विवेचन करेंगे।

नोट

कागजपर छपेहुए द्रव्यको हम नोट कहते हैं। आधुनिक कालमें नोट छापनेका कार्य राज्य स्वयं करताहै अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा करवाता है। नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका पदभी प्राप्त है। नोटका इस पदतक पहुंचनेका एक बड़ा इतिहास है। संक्षेपमें प्रारम्भमें नोट धात्विक द्रव्यके स्थानापन्नके रूपमें काममें लायागया। धात्विक द्रव्यको बड़े परिमाणमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको लेजानेमें व्यय, असुविधा और भय रहता है। अतएव धात्विक द्रव्यको किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा संस्था के पास धरोहरके रूपमें रखकर उसके स्थानमें कागजकी रसीदों द्वारा विनिमयके माध्यमका कार्य लेनेकी प्रथा चलपड़ी। जिस व्यक्ति अथवा संस्थाके पास धात्विक द्रव्य रखा जाताथा वह धरोहर रखनेवालोंको एक लिखित पत्र देतेथे जिसके अनुसार वह पत्र-वाहकोंको उसपर लिखित धातु-द्रव्य देनेकी प्रतिज्ञा करते थे। आधुनिक नोटोंमें भी इसं प्रकारका वाक्य लिखा रहताहै 'मैं वाहकको...रुपये देनेकी प्रतिज्ञा करता हूं' और उसमें रिज़र्व बैंक (जो भारतका केन्द्रीय बैंकहै) के गवर्नरके हस्ताक्षर रहते हैं। इस प्रकारके लिखित प्रतिज्ञा-पत्र व्यापार और लेनेदेने की सुविधा के लिए भिन्न भिन्न मूल्योंवाले बनाये जानेलगे। आजकल भी एक रुपया, दो रुपये पांच रुपये, दस रुपये और सौ रुपयेके नोट चलनमें हैं। आधुनिक नोटोंके इतिहास का यही श्रीगणेश है।

जो व्यक्ति अथवा संस्था इस कार्यको करने लगी उसको अनुभवसे ज्ञात हुआ कि जो धात्विक द्रव्य उनके पास धरोहरके रूपमें रखा रहताथा उसका कुछ हिस्सा उनके पास निश्चेष्ट पड़ा रहताहै क्योंकि उनके दियेगये सभी प्रतिज्ञा-पत्र धात्विक द्रव्यमें परिवर्तन कराये जानेके लिए एक साथही नहीं समर्पित किये जातेथे। अर्थात् कुछ नोट (इन प्रतिज्ञा-पत्रोंको अब हम नोटके नामसे ही सम्बोधित करेंगे) बराबर चलनमें रहते थे। उदाहरणके लिए यदि किसी संस्थाने दस लाख रुपये (धात्विक) की धरोहरके स्थानपर दस लाख रुपयेके नोट चलनमें डालदिये तो इन नोटोंका

कुछ भाग तो चलनमें रहताथा और कुछ भाग धात्विक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए इस संस्थाके पास आताथा। यदि नोटोंका आधा भाग चलनमें रहे और आधा परिवर्तनके लिए लायाजाये तो संस्थाको पांच लाख रुपया तो परिवर्तनके कार्यके लिए अपने पास रखना पड़ेगा और दूसरे पांच लाख रुपये उसके पास निश्चेष्ट और निरर्थक पड़े रहेंगे। इस बेकार पड़ेहुए द्रव्यसे संस्थाने (जिसको अब हम बैंक के नामसे सम्बोधित करेंगे क्योंकि जैसा आगे चलकर बताया जायगा कि इस प्रकारके कार्य करनेवाली संस्थायें बैंक बनगयीं) अपना लाभ बनानेकी युक्ति ढूंढ़ निकाली। हम जानतेहैं कि अनेक ऐसे व्यक्ति होतेहैं जिनकी चालू-आय चालू-व्यय को पूरा करनेमें पर्याप्त नहीं होती है। ऐसे व्यक्ति ऋण लेकर अपना काम चलाने का प्रयत्न करतेहैं और ब्याज देनेको भी उद्यत रहते हैं। यदि इस प्रकारका कोई व्यक्ति बैंकके पास ऋण लेनेके लिए पहुंचगया और बैंकने उसको ऋण देना स्वीकार करलिया तो उस व्यक्तिको व्यय करनेके लिए रुपया मिलगया और बैंकको भी ब्याजके रूपमें आमदनी होगयी। अब हमको यह देखनाहै कि इसऋण लेन-देन के कार्यसे द्रव्यके परिमाणपर क्या प्रभाव पड़ा? मान लीजिए इस व्यक्तिको बैंकने १० हज़ार रुपया ऋण दिया। इस ऋणको दो प्रकारसे दिया जासकता है। एक रीति यहहै कि जो पांच लाख रुपया बैंकके पास निश्चेष्ट पड़ा हुआहै उसमें से १० हज़ार रुपया निकालकर देदिया जाय। ऐसा करनेसे यह रुपया चलनमें आजायगा और जो दसलाख रुपयेके नोट पहिलेसे ही चलनमें हैं, उनका धात्विक द्रव्यका आधार बैंकके पास १० लाख रुपयेसे कम होकर ९ लाख ९० हज़ार रुपया रहजायेगा अर्थात् नोटके परिमाणसे बैंकमें स्थित धात्विक द्रव्यका परिमाण कम होजायेगा। दूसरी रीति यहहै कि बैंक दसहज़ार रुपयोंकी नोटोंकी गड्डी उस व्यक्तिको दे। ऐसा करनेपर १० हज़ार रुपयोंके अतिरिक्त नोट चलनमें आजायेंगे जिनके आधारके लिए उस परिमाणका धात्विक द्रव्य बैंकके कोषमें नहींहै अर्थात् चलनमें इस बैंक द्वारा प्रचलित १० लाख १० हज़ार रुपयेके नोट होंगे और बैंकके पास धात्विक द्रव्य केवल १० लाख रुपया होगा। दोनों रीतियोंके अन्तर्गत मुख्यबात यहहै कि ऋण देने के फलस्वरूप चलनमें १० हज़ार रुपयेकी वृद्धि होजाती है और नोटोंका आधार धात्विक कोषशत प्रतिशतके अनुपातसे कम होजाता है। यहांपर हमको बैंककी एक शक्तिका पता चलताहै कि वह अपनी ऋण नीतिसे द्रव्यके परिमाणमें परिवर्तन कर

सकता है। अनेक बैंकोंने अपनी इस शक्तिका दुरुपयोग किया। उन्होंने अपने लाभ के लिए इतनी प्रचुरतासे नोट चलनमें डालदिया कि उनको बदलनेके लिए उनके पास धात्विक द्रव्य बहुत अपर्याप्त मात्रामें रहगया। नोटोंके बदले धात्विक द्रव्य न देसकने के कारण अनेक बैंक फेल होगये और उनको अपना व्यवसाय बंद करना पड़ा। बैंकोंके फेल होनेसे आर्थिक कार्योंमें भी गड़बड़ी आजाती है। समाजको इस गड़बड़ीसे बचानेके लिए नोट छापने और प्रचलित करनेका काम राज्यने अपने हाथमें लेलिया अथवा केन्द्रीय बैंकको सौंप दिया। इन नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका पदभी मिलगया।

विनिमय साध्य नोट

प्रारम्भमें नोट विनिमय साध्य थे अर्थात् उनको प्रचलित करनेवाले बैंकोंको मांगने पर उनके बदले धात्विक द्रव्य देने को बाध्य रहना पड़ता था। इन बैंकों द्वारा प्रचलित नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका स्थान तो प्राप्त था नहीं। अतएव इन नोटोंको विनिमय-साध्य बनाये रखनेके लिए इनको पर्याप्त मात्रामें मुद्राकोष रखना पड़ता था। जब राज्य अथवा केन्दीय बैंकों द्वारा नोटोंका प्रचलन होनेलगा और इन नोटोंको राजप्रमाणित ग्राह्यताका पदभी प्राप्त होगया इसपरभी प्रारम्भमें ये नोट प्रामाणिक मुद्रा अथवा धातुमें एक निश्चित दरपर विनिमय साध्य बने रहे। राज्य अथवा केन्द्रीय बैंकोंको अपने मुद्रा अथवा धातुकोष को इतने परिमाणमें रखना पड़ता था जिससे नोटोंको इनमें विनिमय करनेकी मांग को वे पूरा कर सकें।

नोटोंके पीछे कितना कोष रखाजाय इस सम्बन्धमें दो प्रधान मत रहे हैं। एक मतको करेंसी सिद्धान्त और दूसरेको बैंकिंग सिद्धान्त कहते हैं। करेंसी सिद्धान्त के अनुसार नोटोंके पीछे शत-प्रतिशत प्रामाणिक द्रव्यका कोष रहना चाहिए जिससे नोटोंपर जनताका विश्वास बनारहे और प्रत्येक अवस्थामें नोटोंके बदले प्रामाणिक द्रव्य दिया जासके। बैंकिंग सिद्धान्तके अनुसार प्रामाणिक-द्रव्य कोषका परिमाण संचित नोटोंके परिमाणके बराबर होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी नोट एकबारगी ही प्रामाणिक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए नहीं लायेजाते

हैं। इसके अतिरिक्त आंशिक कोष रखनेसे द्रव्यके परिमाणमें लोच रहती है। व्यवहारमें नोटोंके प्रचलनका आधार बैंकिंग सिद्धान्त ही है।

नोटोंके परिमाणका कुछ भाग प्रामाणिक द्रव्यके आधारपर स्थित रहता है। कितना भाग किसके आधारपर रहे इस सम्बन्धमें दो मुख्य रीतियां व्यवहारमें लायीजाती हैं। एक रीति जिसका प्रमुख उदाहरण इंगलैंड रहाहै, यहहै कि साख द्रव्यके आधारपर जितने नोट प्रचलित कियेजायं, उनका परिमाण राजनियमसे निश्चित करदिया जाय। उसके ऊपर जितनेभी नोटहों उतनेही परिमाणमें प्रामाणिक मुद्रा अथवा धातु रखा जाय। इस नियमके अनुसार बर्तने से जबतक साखपत्र के आधार पर प्रचलित नोटोंका परिमाण निर्धारित सीमातक न पहुंचजाय तबतक इसका परिमाण बड़ी सुगमताके साथ बढ़ाया और घटाया जासकता है। परन्तु जब इसका परिमाण निर्धारित सीमापर पंहुच जाताहै तो उसके पश्चात नोट-द्रव्य के परिमाणको बढ़ानेकी आवश्यकता होनेपर उसी परिमाणमें प्रामाणिक धातु-द्रव्य की आवश्यकता होजाती है जिसके फलस्वरूप द्रव्यमें लोच कम होजाती है। दूसरी रीति प्रधानत: संयुक्त राज्य अमेरिकामें बर्ती गयी है। इसके अनुसार जितनाभी नोट-द्रव्य संचालित कियागया है उसके एक निर्धारित भागसे कम अनुपातमें प्रामाणिक द्रव्य-कोष न रहे और शेषभाग साख-पत्रके आधारपर रहसकता है। इसको आनुपातिक-कोष-पद्धति कहते है। उदाहरणके लिए यदि २५ प्रतिशत नोट द्रव्यके पीछे प्रामाणिक द्रव्य-कोष रखना अनिवार्यहो तो ७५ प्रतिशत साख-पत्रके आधार पर संचालित किया जासकता है। इस पद्धतिके अनुसार नोट संचालित करनेसे नोटोंके परिमाणमें अधिक सुगमतासे वृद्धिकी जासकती है। प्रामाणिक द्रव्यकी एक इकाई कोषमें आनेपर चार इकाई तक नोट संचालित किये जासकते हैं परन्तु साथ ही साथ उस आधारपर कोषसे एक इकाई प्रामाणिक द्रव्यके ह्रास होनेपर चार इकाई नोटोंको चलनसे वापिस लेना पड़ेगा।

अविनिमय-साध्य नोट

आधुनिक कालमें नोट अविनिमय-साध्य होगया है अर्थात् इसके बदलेमें राज्य प्रामाणिक धात्विक द्रव्य देनेको बाध्य नहीं है। प्रारम्भमें जब नोट चलनमें आया

उस समय नोटमें जनताका विश्वास उत्पन्न करने और बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक प्रतीत होता था कि उनको संचालित करनेवाली संस्था उसके बदले एक निर्धारित मात्रा सोने अथवा चांदीकी प्रामाणिक मुद्राओं अथवा अमुद्रित रूपमेंही सोना चांदी देनेको बाध्य हो। सोने-चांदीका, द्रव्य सम्बन्धी मूल्यके साथ साथ स्वाभाविक मूल्यभी होता है। अतएव लोगोंकी ऐसी धारणा होगयी थी कि नोटकी क्रय शक्ति उस प्रामाणिक मुद्राके अन्तर्गतहै जो उसके बदलेमें प्राप्त होसकती है। इसी धारणाके अनुसार प्रारम्भमें नोट विनिमय-साध्य बनाये गये। कभी कभी युद्धकाल में नोटोंकी इसप्रकारकी विनिमय साध्यता हटाभी लीजाती थी परन्तु अनुकूल अवस्था लौट आनेपर विनिमय साध्यता पुनः स्थापित करदी जाती थी। शनैः शनैः लोगोंकी यह धारणा बदलने लगी कि नोट की क्रय-शक्ति सोने-चांदीके अधीन है जब उन्होंने देखाकि धात्विक द्रव्यमें अविनिमय साध्य नोटसे भी वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त की जासकती हैं तो उनकी समझमें आनेलगा कि नोटमें विश्वास बनाये रखनेके लिए मूल बात यहहै कि वह अन्य वस्तुओंमें विनिमय साध्य बना रहे अर्थात् उसके विनिमयसे अन्य वस्तुएं प्राप्त होती रहें। द्रव्यसे हम यही चाहतेहैं कि उसकी सहायतासे हमको वांछित वस्तुओंको प्राप्त करनेमें सुविधा हो। जबतक द्रव्य से यह कार्य होता रहताहै तबतक द्रव्य किस पदार्थ का बना हुआहै इसका विशेष महत्व नहीं है। वह चाहे सोने का, चाहे चमड़ेका और चाहे काग़जका ही बना हुआ क्यों नहो, यदि उसके बदलेमें हमको अन्य वस्तुएं मिल सकतीहैं तो द्रव्यका कार्य चलता रहता है। इस विवेचनाके आधारपर हम एक महत्त्वपूर्ण निर्णयपर पहुंचते हैं। वह यहकि द्रव्यकी क्रय-शक्ति अर्थात् अन्य वस्तुओंको प्राप्त करनेकी शक्ति उस पदार्थपर अवलम्बित नहींहै जिससे उसका निर्माण हुआ है। दस रुपये का नोट जिस काग़जपर छापा गयाहै उसकी निजी क्रय-शक्ति लगभग कुछभी नहींहै परन्तु नोटकी क्रय-शक्ति तो बहुत है। काग़ज का नोट जिसकी स्वयंकी कोई क्रय शक्ति नहीं और जिसके बदलेमें द्रव्याधिकारी सोना-चांदी देनेको उद्यत नहीं किस कारणसे क्रय-शक्तिशाली होजाता है; उसका विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक कारण यहहै कि हम द्रव्यको अपने आर्थिक कार्योंमें लानेके इतने अभ्यस्त होगये हैं और हमारी आर्थिक पद्धति इतनी द्रव्यमयी होगयी है कि बिना द्रव्यके हम एक पगभी आगेको नहीं बढ़सकते हैं। अतएव किसी प्रकारकाभी द्रव्य क्यों नहो

हमको उसका प्रयोजन है, उसका मूल्य और उसकी क्रय-शक्ति इस प्रयोजनसे उत्पन्न होजाती है। इसके अतिरिक्त राज्य-नियमोंके द्वारा प्रमाणित होनेके कारण हम इसको अस्वीकार नहीं करसकते हैं। अतएव जबतक राज्यकी प्रतिष्ठाहै और उसका दबदबा है तबतक उसके द्वारा प्रमाणित द्रव्य मूल्यवान रहेगा। यह दूसरी बातहै कि उसका क्या मूल्य होगा परन्तु कुछ न कुछ मूल्य अवश्यही रहेगा। इस प्रसंगमें यह बातभी समझमें आजाती है कि द्रव्यमें विश्वास बनाये रखनेके लिए आवश्यकता इस बातकी है कि उसकी क्रय-शक्ति बनीरहे और उसमें स्थिरताभी रहे। यदि नोट द्रव्यमें इनदोनों बातोंका समावेश रहे तो इससे अधिक नोटसे प्राप्त करनेके लिए कुछ और बाक़ी नहीं रहजाता है। द्रव्यके मूल्यमें स्थिरताका महत्त्व और अस्थिरताके उत्पन्न होजानेके कारणोंकी विवेचना हम द्रव्यके अर्थके अध्यायमें करेंगे। यहांपर इतना लिखदेना पर्याप्तहै कि अविनिमय-साध्य नोट द्रव्यकी क्रय-शक्तिको बनाये रखनेके लिए द्रव्याधिकारियों को विशेष प्रबन्ध और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता होती है।

विनिमय-साध्य नोट पद्धतिमें द्रव्याधिकारियोंको आर्थिक स्थितिके अनुसार द्रव्यके परिमाणको व्यवस्थित करनेमें कठिनता पड़ती है, अविनिमय-साध्य नोट पद्धतिमें द्रव्यके परिमाण को उत्पत्ति, व्यापार इत्यादिके अनुकूल बनानेमें सुविधा रहती है। परन्तु इस पद्धतिमें एक आशंका यहहै कि सोने चांदीकी शृंखलासे मुक्त होकर द्रव्य का परिमाण इतनी प्रचुरतासे बढ़ादिया जाय जिससे द्रव्य स्फीतिकी अवस्था उत्पन्न होजाय। आर्थिक इतिहाससे पता चलताहै कि युद्धकालमें और अन्य आर्थिक संकटोंके अवसरोंपर प्रायः राज्य बहुत बड़े परिमाणमें अविनिमय साध्य नोट छापकर चलनमें डालदेते हैं जिससे द्रव्यकी क्रय-शक्ति का ह्रास हो जाता है और आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न होजाती है। इससे इस निर्णय पर नहीं पहुंचना चाहिए कि यह पद्धति ही दोषयुक्त है। आवश्यकता इस बातकी है कि बहुत सोच समझकर इस द्रव्य-पद्धतिको व्यवहारमें लाया जाय।

साख-द्रव्य

साख-द्रव्यसे हमारा अभिप्राय उस द्रव्यसे है जिसको चेकके द्वारा हस्तान्तरित किया

जाता है। इस द्रव्यका सम्बन्ध बैंकोंसे है। हम बैंकमें रुपया जमा करते हैं। वह हमारी धरोहर है जिसको हम बैंकसे वापस लेसकते है। एक धरोहर चालू-हिसाब वाली है तीहै जिसको कभी भी बिना पूर्वसूचनाके वापस लिया जासकता है। दूसरी प्रकारकी धरोहर एक निर्धारित समयके लिए बैंकके पास जमाकी जातीहै जिसको साधारणत; उस समयके बीतने परही वापस मांगाजा सकता है। इस धरोहरको द्रव्यके रूपमें काममें लानेकी क्रिया चेक द्वारा होती है। चेकके द्वारा धरोहर रखने वाला बैंकको आदेश देताहै कि वह उसके धरोहरमें से चेकमें लिखी रक़म नामांकित व्यक्तिको अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्तिको दे दे। चेकके द्वारा धरोहरके अन्तर्गत कोईभी रकम सुविधापूर्वक दी जासकती है। इस प्रबन्धमें धनको खोनेकी आशंकाभी नहीं रहतीहै क्योंकि वहतो बैंकमें सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त चेकबुक सरलतासे जेबमें लेजायी जासकती है। यदि कोई व्यक्ति चेकके रूपमें अपना पावना स्वीकार करताहै तो उसके मूलमें साख और विश्वास रहता है। चेक तो राज-प्रमाणित द्रव्य नहीं है। यहभी होसकताहै कि जिस व्यक्तिने चेक दियाहै उसके नामपर बैंकमें धरोहर जमा न हो अथवा उपयुक्त मात्रामें नहो। अतएव जब हम चेक स्वीकार करतेहैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम चेक देनेवालेकी साखपर विश्वास रखते हैं। इसी कारणसे हमने इस द्रव्यको साख-द्रव्यका नाम दिया है।

साख-द्रव्य का सृजन

हम चेक द्वारा केवल उतनेही द्रव्यके परिमाणको हस्तान्तरित नहीं करसकते हैं जितना हमने धरोहरके रूपमें रखा है। यदि हम बैंकोंके लेनीदेनी के लेखोंको देखें तो हमको पता लगताहै कि इनमें दीगयी धरोहरका कुल परिमाण राज्यद्वारा प्रचलित द्रव्यके परिमाणसे कईगुना अधिक पाया जाताहै जबकि उस द्रव्यका एक बड़ा हिस्सा बैंकोंमें जमा नहीं कियाजाता है। इससे यह ज्ञात होताहै कि बैंक स्वयं भी साख-द्रव्यका सृजन करते हैं। यह कार्य दोप्रकार से होता है। जब बैंक ऋण देतेहैं तो ऋण लेनेवालेको अधिकार देदेते हैं कि वह बैंकपर ऋणके परिमाण तक चेक लिख सकताहै और बैंक उन चेकोंका भुगतान करदेगा। जिसप्रकार बैंकमें धरोहर रखनेवाला अपनी धरोहरको बैंक द्वारा वापस लेसकता है अथवा हस्तान्तरित

करसकता है उसीप्रकार ऋण लेनेवाला भी ऋणकी मात्रा तक चेक द्वारा रुपया प्राप्त करसकता है। कल्पना कीजिए मोहनको इलाहाबाद बैंकने ५०००, रुपया ऋण देना स्वीकार किया। अब मोहन ५००० रुपया तकका भुगतान चेकके रूपमें करसकता है। इस द्रव्यसे भी विनिमयके माध्यमका कार्य उसीप्रकार सम्पादित होताहै जिसप्रकार धात्विक अथवा नोट-द्रव्य द्वारा होता है। ऋण देनेसे बैंकने ५००० रुपयेके परिमाणका साख-द्रव्य चलनमें डालदिया और जब इस ऋणका भुगतान होजायगा तो यह द्रव्य चलनसे हट जायगा। ऋण देनेसे बैंकको ब्याज मिलताहै अतएव बैंक ऋण देकर अपने ऊपर देनीका भार बढ़ाते हैं। इसप्रकार हम देखतेहै कि जब जब बैंक नया ऋण देतेहैं तब तब साख-द्रव्यकी सृष्टि होती है। यदि पुराने ऋणके भुगतानसे नये ऋणका परिमाण अधिकहो तो चलनमें साख-द्रव्य की वृद्धि होगी। इसके प्रतिकूल यदि नये ऋणसे पुराने ऋणकी भुगतानकी मात्रा अधिकहो तो साख-द्रव्यका संकुचन होगा।

सिक्यूरिटियां मोल लेकरभी बैंक, साख-द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करसकते हैं। जिस मूल्यकी सिक्यूरिटियां हों उतनाही हिसाब सिक्यूरिटियां बेचनेवाले व्यक्तियों अथवा संस्थाओंके नाम अपने खातेमें जमाकर बैंक उनको अधिकार देतेहैं कि वे उस परिमाण तक बैंकपर चेक लिख सकते है। इसीप्रकार अन्यकी सम्पत्ति मोल लेकर भी बैंक सम्पत्तिके बेचनेवालोंके नाम बैंकमें धरोहर जमा करदेते है जिसको चेक द्वारा हस्तान्तरित किया जासकता है। जब जब बैंक सिक्यूरिटियां अथवा अन्य प्रकारकी सम्पत्तिका संग्रह करते हैं तब तब साख-द्रव्यकी सृष्टि होती है।

अब प्रश्न यह होताहै कि जितना धात्विक और नोट-द्रव्य बैंकके पास जमा किया जाताहै उससे अधिक मात्रामें बैंक किसप्रकार साख-द्रव्यको अवलम्बन देसकते हैं। हम पहिलेही लिखआये हैं कि साख-द्रव्य राज-प्रामाणित द्रव्य नहींहै और बैंकोंको सदैव इसके बदले राज-प्रामाणित द्रव्य देनेको प्रस्तुत रहना पड़ता है। वास्तवमें बात यहहै कि बैंकोंके द्वारा जिस परिमाणमें साख-द्रव्यका सृजन होताहै वह सबका सब एक साथही राज-प्रामाणिक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए नहीं लायाजाता है। बैंकोंमें जो धरोहर रखा जाताहै उसका साधारणत: केवल कुछही भाग राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें वापस कियाजाता है शेष भाग बैंकोंमें ही पड़ा रहता है। इसीप्रकार ऋण देकर और सिक्यूरिटियां मोल लेकर जिस साख-द्रव्यकी सृष्टि होतीहै उसका

भी कुछ भाग तो राज-प्रामाणित द्रव्यमें मांगा जाताहै और शेष भाग बैंकोंमें ही एक आसामीसे दूसरे आसामियोंके नामपर जमाहोता है। उदाहरणके लिए मोहनने ये जो ५००० रुपये इलाहाबाद बैंकसे ऋण लियाथा उसमेंसे यदि वह चेक द्वारा ५०० रुपये रामको हस्तान्तरित करताहै और राम उस चेकको अपने नामपर बैंकमें जमा करताहै तो रामके नाममें ५०० रुपयेकी धरोहर जमा होजाती हैं। अब यदि इस धरोहरमें से राम ५० रुपयेका चेक श्यामको देताहै और श्याम उस चेकको बैंकमें जमा करनेके लिए भेज देताहै तो बैंकके खातेमें रामकी धरोहरमें ५० रुपये को घटाकर श्यामकी धरोहरमें ५० रुपये जोड़ दियाजाता है। इसप्रकार राज-प्रामाणित द्रव्यको बैंकोंके कोषसे निकाले बिनाही लेन-देन का काम चलता रहता है।

इस विवेचनसे यह नहीं समझलेना चाहिए कि कुल साख-द्रव्य इसीप्रकार एक व्यक्ति अथवा संस्थाके नामसे अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओंके नामपर बैंकोंके खातों में विचरता रहता है। इसका कुछ अंशतो अवश्यही राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें मांगा जाता है। अनेक व्यक्तियोंका बैंकोंमें हिसाब नहीं रहता है। अतएव इनको जो चेक मिलतेहैं उनको येलोग भुनालेते हैं। इसके अतिरिक्त सभीलोग चेक लेना स्वीकार नहीं करते हैं। जैसे धोबी, नाई, सेवक, दूधवाला। इस प्रकारके लोगोंको धात्विक अथवा नोटके रूपमें ही इनका पावना देना पड़ता है। इन कार्योंके लिए बैंकोंसे राज-प्रामाणित द्रव्य लेना पड़ता है।

अनुभवके द्वारा बैंकोंको पता चलजाता है कि समय समयपर कुल साख-द्रव्यका कितना भाग राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें मांगाजाता है। यदि पांचवां भाग मांगा जाय तो बैंकोंको कुल साख-द्रव्यका २० प्रतिशत राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें रखना पड़ेगा और यदि दसवां भाग मांगाजाय तो बैंकोंको केवल १० प्रतिशत इस रूपमें रखना होगा। इस विवेचनसे हमको यहभी ज्ञात होजाता है कि बैंक किस सीमातक साख-द्रव्यकी सृष्टि करसकते हैं। बैंक जिस परिमाणमें साख-द्रव्यकी वृद्धि करतेहैं उसी परिमाणमें वे अपने को राज-प्रामाणित द्रव्य देनेका देनदार बनाते रहते हैं। अब चूंकि बैंकोंके पास राज-प्रामाणित द्रव्य सीमित परिमाणमें रहता है अतएव वे अपरिमित परिमाणमें साख-द्रव्य चलनमें नहीं डालसकते हैं। यदि साख-द्रव्यके स्वामी उसका दसवां भाग राज-प्रामाणित द्रव्यमें मांगतेहैं तो जितना राज-प्रामाणित

द्रव्य बैंकोंके पासहै उसके दसगुने तक साख-द्रव्यके सृजनकी सीमा होजायगी। इससे अधिक सृजन करनेपर बैंक राज-प्रामाणित द्रव्य देनेमें असमर्थ होजायंगे। इससे यह परिणाम निकलताहै कि बैंकोंकी साख-द्रव्य सृजनकी शक्ति दो मुख्य बातोंपर निर्भर रहती है। एकतो यहहै कि उनके पास राज-प्रामाणित द्रव्यका कोष कितनाहै और दूसरा इस द्रव्यका साख-द्रव्यसे क्या अनुपात आवश्यक है।

किसी समयविशेषमें साख-द्रव्य किस परिमाणमें होगा यह केवल पूर्वोक्त दो बातोंपर ही निर्भर नहीं करता है। यदि आर्थिक अवस्थामें मन्दी छायीहो तो ऋणकी मांग घटजाती है अतएव साख-द्रव्यका परिमाणभी घटजाता है, आर्थिक संकटकाल में बैंकभी ऋणदेना पसन्द नहीं करते हैं। केन्द्रीय बैंकभी अपने उपकरणोंके प्रयोग से साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रित करते रहते हैं।

२३

द्रव्य पद्धतियां

द्रव्य पद्धतियों के प्रकार

भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न समयोंमें भिन्न भिन्न द्रव्य-पद्धतियोंका चलन रहा है। इनको हम दो मुख्य विभागोंमें बांट सकते हैं। पहिले विभागमें धात्विक द्रव्य-पद्धतियां हैं और दूसरे विभागमें अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतियां। धातु-पद्धति में केवल एकधातु सोना अथवा चांदी प्रामाणिक माना जासकता है अथवा दोनों धातु साथ साथ प्रामाणिक माने जासकते हैं। पहिलको एक धातु-पद्धति और दूसरेको द्विधातु-पद्धति कहते हैं। एक धातु-पद्धतिमें सोना अथवा चांदी प्रामाणिक द्रव्यके काममें लायेजाते हैं। इनमेंसे स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वयं तीन रूपमें रही है:

१. स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति।
२. अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धति।
३. स्वर्ण-विनिमय-पद्धति।

चांदीवाली द्रव्य-पद्धतिके भी इसीप्रकार तीनरूप होसकते हैं। परन्तु व्यवहारमें यह मुद्रा-पद्धतिके रूपमें ही रही है। भारतमें १८३५ से १८९२ तक यही पद्धति रही है। द्विधातु-पद्धतिके भी दोभाग किये जासकते हैं। एक स्थिति तो शुद्ध द्विधातु-पद्धतिकी है जिसमें सोना और चांदी दोनोंकी मुद्राओंको प्रामाणिक मानाजाता है और दोनोंकी ढलाई अमर्यादित परिमाणमें होती है, दूसरी अवस्था वहहै जिसमें दोनों धातुओंकी मुद्रायें चलनमें तो रहतीहैं किन्तु केवल सोनेकी मुद्राओंको अमर्यादित परिमाणमें ढलवाया जासकता है। चांदीकी मुद्राओंका स्वतन्त्र रूपसे ढलवाना बन्द करदिया जाता है। इस प्रकारकी द्विधातु-पद्धतिको हम अपूर्ण द्विधातु-पद्धति कहेंगे।

द्विधातु-पद्धति

किसी समय यूरोप और संयुक्तराज्य अमेरिकामें द्विधातु-पद्धतिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। परन्तु अब इसका द्रव्य सम्बन्धी विवेचनमें नामभी नहीं लियाजाता। अतएव हम इस पद्धतिका विवेचन संक्षेपमें ही करेंगे। इस पद्धतिमें राज्यकी ओर से दोनों धातुओंकी प्रामाणिक मुद्राओंको अमर्यादित रूपमें ढलवानेका प्रबन्ध रहता है और दोनोंकी टकसाली दरभी राज्यद्वारा निर्धारित रहती है। द्विधातुवादी लोगोंके अनुसार सोने और चांदीकी सम्मिलित वार्षिक उत्पत्तिमें इतनी घटबढ़ नहीं होती जितनीकि केवल चांदी अथवा सोनेकी उत्पत्ति में। अतएव द्विधातु द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यके परिमाणमें और उसके विनिमय-मूल्यमें भी इतनी अस्थिरता नहीं होनेपावेगी जितनीकि एकधातु-द्रव्य पद्धतिमें। यह तर्क ठीक नहीं है। पहिलेतो सोनेचांदी की उत्पत्तिमें एकही दिशामें परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त द्रव्यके मूल्यमें परिवर्तन केवल सोने अथवा चांदीके परिमाण परही अवलम्बित नहीं रहता और जैसा हम 'द्रव्यका विनिमय-मूल्य' नामक अध्यायमें बतायेंगे, द्रव्यके विनिमय-मूल्यका आधार केवल उसका परिमाण ही नहीं होता।

कहाजाता है कि द्विधातु-पद्धतिमें सोनेचांदीके पारस्परिक मूल्यमें स्थिरता लानेकी सम्भावना रहतीहै जिसके फलस्वरूप सोनेवाली द्रव्य-पद्धतिके देशों और चांदीवाले द्रव्य-पद्धतिके देशोंकी विदेशी विनिमयकी दरमें स्थिरता आनेकी सम्भावना होजाती है। इस प्रभावको द्विधातुवादी क्षतिपूरक सिद्धान्त द्वारा सिद्ध करते हैं। मानलीजिए द्विधातु-पद्धतिके अन्तर्गत किसी कालमें सोने और चांदीकी पारस्परिक दर इस प्रकारकी है कि सोनेकी एक मुद्राका मूल्य उसी तोलकी २० चांदी की मुद्राओंके बराबर है, और यहभी मानलीजिए कि उस कालमें बाज़ारमें भी यही दर है। अब यदि बाज़ारमें चांदीके प्रचुर मात्रामें आजानेके कारण सोने और चांदीके मूल्यका अनुपात १:२० से घटकर १:२१ होगया तो क्षतिपूरक सिद्धान्तके अनुसार यह बदलाव टिकाऊ नहीं होगा। चूंकि चांदी अमुद्रित रूपकी अपेक्षा मुद्रित रूपमें अधिक मूल्यवान होगयी है और सोना मुद्रित रूपकी अपेक्षा अमुद्रित रूपमें अधिक मूल्य रखता है, अतएव लोग चांदीको तो मुद्राओंके रूपमें परिवर्तित करने लगेंगे और सोनेकी मुद्राओंको पिघलाकर अमुद्रित रूपमें रखेंगे। इसका परिणाम

यह होगा कि बाज़ारमें चांदीका परिमाण कम और सोनेका अधिक होनेसे उनमें १: २० का अनुपात पुन: स्थापित होने लगेगा। इस तर्कमें कुछ सार अवश्यहै परन्तु सोने और चांदीके पारस्परिक मूल्यको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि अनेक देशोंमें द्विधातु-पद्धति चलनमें हो और ये देश सहकारितासे सोने और चांदीकी टकसाली दर नियत करें और उसको बनाये रखनेके लिए चेष्टा करें। यदि विशेष कारणसे किसी एक धातुका मूल्य और उसकी मांग गिरती जारही है, तो टकसाली दरमें भी परिवर्तन करना आवश्यक होजायेगा।

द्विधातुवादमें एक विशेष त्रुटि यहहै कि जब जब सोने और चांदीके टकसाली और बाज़ार दरमें भिन्नता आजाती है तब तब उस धातुकी मुद्रा जिसका बाज़ारमें अधिक मूल्य रहता है, चलनसे लुप्त होनेलगती है और चलनमें वही मुद्रा रहजाती है जिसका बाज़ारभाव गिरगया हो। इसप्रकारकी परिस्थितिमें चलनमें कभी केवल चांदीकी ही और कभी केवल सोनेकी ही मुद्रायें पायीजाती हैं।

ग्रेशम-नियम

इंगलैंडके एक वाणिज्य-मंत्री सर टौमस ग्रेशमने इस सम्बन्धमें एक सिद्धान्त प्रतिपादित कियाहै जिसको ग्रेशम-नियम कहते हैं। इसके अनुसार जब अच्छी और बुरी दोनों प्रकारकी मुद्राओंका चलन हो, तो अच्छी मुद्राएं चलनसे लुप्त होने लगतीहैं और बुरी मुद्राएं चलन में रहजाती हैं। यहबात प्रत्यक्ष देखीगयी है कि लोग पूरी तौलवाली नयी मुद्राओंका संग्रह करतेहैं, उनको पिघलातेहैं अथवा दूसर देशोंमें भेजते हैं जहां उनमें स्थित धातुका मूल्यही मान्य होता है और चलनमें पुरानी, घिसी अथवा कटीहुई मुद्राएं रहजाती हैं। द्विधातुवादमें जिस धातुकी बाज़ार दर गिरजाती है उस धातुकी मुद्रातो चलनमें रहतीहै और जिस धातुकी दर टकसाली धातुसे अधिक रहतीहै उसकी मुद्राएं चलनसे लुप्त होने लगती हैं।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति

एक धातु-पद्धतिमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। २० वर्ष

पहिले तक यह पद्धति प्राय: सभी उन्नतिशील देशोंमें किसी न किसी रूपमें व्यवहार में रही है। आजभी अनेक व्यक्ति इसके समर्थक हैं। अतएव हम इस पद्धतिकी विवेचना कुछ विस्तारसे करेंगे। वैसेतो सोनेकी मुद्राएं प्राचीन कालमें भी अनेक देशोंमें रहीहैं परन्तु पद्धतिके रूपमें इसका विकास इंगलैंडमें १९वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुआ और इस शताब्दीके समाप्त होते होते संसारके अनेक देशोंने इसे अपना लिया।

स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति

प्रारम्भमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-मुद्रा-पद्धतिके रूपमें चलनमें रही। ऐसी पद्धति में राज्य द्वारा निर्धारित तौलकी सोनेकी मुद्रा प्रामाणिक निश्चित करदी जातीहै और जनसाधारण को स्वाधीनता रहतीहै कि वे किसीभी परिमाणमें राज्यकी टकसालमें अमुद्रित सोनेकी प्रामाणिक मुद्राएं ढलवा सकते हैं। इन मुद्राओंको पिघला कर अमुद्रित रूपमें रखनेकी और सोनेके आयात-निर्यातकी स्वतन्त्रता रहती है। चलनमें जो अन्य प्रकारका राज्य प्रमाणित द्रव्य, सांकेतिक मुद्रा अथवा नोटके रूपमें रहताहै, इसके बदलेमें राज्य एक पूर्वनिर्धारित दरसे स्वर्णमुद्रा देनेको बाध्य रहता है जिसके लिए उसे स्वर्णमुद्राकोष रखना पड़ता है।

इस प्रकारकी पद्धतिका काल प्रथम महायुद्धके पहिलेका मानाजाता है। युद्ध कालमें संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त प्राय: सभी राज्योंने स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति के चलनको स्थगित करदिया था। नोट और सांकेतिक मुद्राएं अविनिमय-साध्य होगयीं। युद्धकालमें और युद्धके पश्चात् अनेक देशोंकी द्रव्य-पद्धतियां भिन्न भिन्न होगयी थीं। अतएव इनके पुनर्निर्माण कार्यकी आवश्यकता पड़ी। दो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्मेलन सन् १९२० और सन् १९२२ में ब्रुसेल्स और जिनेवामें हुए जिनमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति का पुनरुद्धार करना निश्चित हुआ।

अमुद्रित-स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति

युद्धकालकी एवं युद्धपूर्वकी स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें कुछ त्रुटियां पायीगयी थीं। एकतो यहकि सोनेकी मुद्राओंको ढलवानेमें व्यय होता है। आर्थिक साधनोंको इस कार्यमें

लगाना पड़ता है। दूसरे, चलनमें रहनेके कारण, घिसनेसे भी धातुकी हानि होती है। तीसरे, यहकि इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणको आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनानेमें कठिनाई होती है। अनुभवसे यहभी ज्ञात हुआ कि देशके भीतर चलनके कार्यके लिए स्वर्ण-मुद्राकी कोई आवश्यकता नहीं होती, विनिमयके कार्यके लिए काग़ज़की बनी मुद्रा अर्थात् नोटसे भी काम चलसकता है जैसाकि युद्धकालमें हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन की विषमता दूर करनेके लिए धातुकी मुद्राकी कोई आवश्यकता नहीं होती। अतएव युद्धकालके बाद जो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रचलित हुई उसको अमुद्रित स्वर्ण-पद्धतिका नाम दिया गया। इसके अन्तर्गत चलनमें तो नोट और सांकेतिक मुद्राएं रहीं, परन्तु इनके बदलेमें द्रव्याधिकारी स्वर्ण-मुद्राएं देनेको बाध्य नहीं थे। स्वर्ण मुद्राके स्थानपर अमुद्रित स्वर्ण एक निर्धारित दरसे दियाजाता था। किसी किसी देशमें इसप्रकार का प्रबन्ध हुआ कि स्वर्ण एक विशेष परिमाणसे कम परिमाणमें नहीं दियाजाता था। इसका यह उद्देश्य था कि द्रव्याधिकारियोंके पासजो स्वर्णकोष जमा रहताथा उसका प्रयोग देशके भीतरके कार्योंके लिए नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्योंके लिए कियाजाये। अमुद्रित स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति से कम व्ययवाली हुई। परन्तु स्वर्णकोष की आवश्यकतातो इसमेंभी बनी रहती है और द्रव्यका परिमाणभी इस कोषसे संलग्न रहता है।

स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति

युद्धकालके बाद कुछ देशोंने स्वर्ण-विनिमय-पद्धतिको ग्रहण किया। इस पद्धतिवाले देशोंको न तो स्वर्ण मुद्राओंको चलनमें लाना पड़ता है और न अन्य प्रकारके द्रव्यके बदलेमें अमुद्रित सोना देना पड़ता है। देशके द्रव्यके बदलेमें राज्य किसी ऐसे देशके द्रव्यको देनेकी प्रतिज्ञा करताहै जिसमें स्वर्ण-मुद्रा अथवा अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धतिका चलन हो। भारतमें प्रथम महायुद्धके पूर्व एक प्रकारसे स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति थी। रुपयेके बदले भारत सरकार १ शि० ४ पे० की दरसे स्टर्लिंग (इंगलैडका द्रव्य) देनेको उद्यत रहतीथी और स्टर्लिंग सोनेकी मुद्रामें परिवर्तनशील था। इसप्रकार की द्रव्य-पद्धतिमें अप्रत्यक्ष रूपसे स्थानीय द्रव्यके बदलेमें एक निर्धारित दरपर सोना मिल सकताथा। इस पद्धतिको कार्यान्वित करनेके लिए राज्यको स्वर्ण-पद्धति

वाले देशके द्रव्यका कोष उस देशमें जमा करना पड़ताहै जिसमेंसे अपने देशवासियों को स्थानीय द्रव्यके बदलेमें विदेशी द्रव्य दिया जासके। भारत सरकार इस कार्यके लिए इंगलैंडमें एक स्टर्लिग-कोष रखती थी।

स्वर्ण-विनिमय द्रव्य-पद्धति अन्य दोप्रकार की स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतियोंसे कम व्यय वालीहै क्योंकि इसमें सोनेकी मुद्राओंके ढ़लवानेका व्यय नहीं होता और मुद्राके घिसनेसे धातुकी हानिभी नहीं होती। अतएव इस पद्धतिको पिछड़ेहुए अथवा हारे हुए देशोंने ग्रहण किया। मितव्ययिता ही इसका एकमात्र गुण है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक त्रुटियां एवं आपत्तियां है। पहिले तो, जबतक कोईभी देश स्वर्ण-द्रव्य अथवा समुचित स्वर्ण-पद्धतिवाला न हो, तबतक स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य पद्धतिको चलनमें लायाही नहीं जासकता। इसीसे पता चलजाताहै कि यह पद्धति स्वतन्त्र नहीं होसकती। इसकी पराधीनता उस द्रव्यसे होजाती है जिसको इसके द्रव्याधिकारी देनेका वचन देते हैं। यदि विदेशी पद्धति स्वर्ण-पद्धतिसे अलग करदी गयी तो स्वर्ण-विनिमय द्रव्य-पद्धतिका स्वयमेव अन्त होजाता है। इसके अतिरिक्त यदि विदेशी द्रव्य-पद्धतिके स्वर्णाधारको छोड़नेके कारण उसके द्रव्यके मूल्यमें ह्रास होजाये, तो स्वर्ण-विनिमय-मुद्रा-पद्धतिवाले देशमें जो विदेशी द्रव्यका कोष रहताहै, उसके मूल्य में भी ह्रास होजाता है। सन् १९३१ में जब इंगलैंडने अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धतिका त्याग किया उसी समयसे भारतकी द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धतिसे बदल कर केवल स्टर्लिग-विनिमय-द्रव्य-पद्धति रहगयी और स्टर्लिगके मूल्यमें ह्रास होने के कारण हमारे स्टर्लिग कोषको भी भारी क्षति पहुंची।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के गुण और दोष

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका एकगुण यह बताया जाताहै कि चूंकि इस पद्धतिमें द्रव्य या तो सोनेका बनाया जाताहै अथवा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपमें सोनेमें एक निर्धारित दर पर विनिमय शील रहताहै। अतएव जनताका इस पद्धतिपर विश्वास बनारहता है। पूर्वकालमें जबकि किसी मूल्यवान पदार्थसे बनेहुए द्रव्यको ही अच्छा द्रव्य समझा जाताथा इस तर्कमें कुछ सार रहाहोगा परन्तु आधुनिककालमें तो हम देखतेहैं कि द्रव्यके कार्यको सम्पादित करनेके लिए यह आवश्यक नहींहै कि द्रव्य सोने जैसी बहु-

मूल्य धातुका बनाहो। जहांतक विश्वासका प्रश्नहै, जबतक द्रव्यके बदलमें अन्य वस्तुएं और सेवाएं मिलती रहेंगी, तबतक उस द्रव्यमें विश्वास बनारहेगा। अतएव विश्वास बनाये रखनेके लिए द्रव्यकी क्रय-शक्तिको बनाये रखनाहै न कि उसको सोनेका बनाना।

यहभी कहा जाताहै कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्य-स्फीतिका भय नहीं रहता और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें भी अधिक परिवर्तन नहीं होता। चूंकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यका परिमाण सोनेके परिमाणसे संलग्न रहताहै और सोनेका परिमाण सहसा प्रचुरतासे बढ़ाया नहीं जासकता, अतएव यह ठीक प्रतीत होताहै कि इस पद्धतिमें एकबारगी द्रव्य-स्फीतिकी आशंका नहीं रहती। परन्तु यदि सभी स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देश सोनेका भाव बढ़ादें तो उतनेही परिमाणके स्वर्ण-कोष के आधारपर वह अधिक नोट प्रचलितकर द्रव्य-स्फीतिकी अवस्था उत्पन्न करसकते हैं। जहांतक इस पद्धतिमें द्रव्य-मूल्यकी स्थिरताका प्रश्नहै उसका खंडन हम १९२९-१९३२ के विश्वव्यापी आर्थिक संकटके उदाहरणसे करसकते हैं। सन् १९२९ के बाद मूल्य-स्तर गिरनेलगा और द्रव्यका विनिमय-मूल्य बढ़नेलगा जबकि संसारके सभी राज्योंमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रचलित थी। इससे हम इस परिणामपर पहुंचतेहैं कि द्रव्यका विनिमय मूल्य केवल द्रव्यके परिमाणपर ही अवलम्बित नहीं रहता बल्कि इसको निर्धारित करनेमें अन्य कारणोंका भी हाथ रहताहै जिनका विवेचन हम 'द्रव्य का विनिमय-मूल्य' वाले अध्यायमें करेंगे।

इस पद्धतिमें एक बड़ा लाभ यहहै कि विदेशी-विनिमयकी दरमें स्थिरता आजाती है। यदि अनेक राज्य अपने अपने द्रव्यमें सोनेका भाव निर्धारित करदें और इस भावपर बेरोकटोक सोना बेचने और मोल लेनेको बद्ध हों और सोनेके आयात-निर्यातपर कोई प्रतिबन्ध न लगायें, तो ऐसी स्थितिमें स्वर्ण-द्रव्यवाले देशोंके द्रव्यमें विदेशी विनिमयकी दर स्वयमेव निर्धारित होजायेगी और उसमें बहुत कम परिवर्तनकी आशंका रहेगी। उदाहरणके लिए मान लीजिए भारत और इंगलैंडमें स्वर्ण द्रव्य-पद्धतिका चलनहै और भारत सरकार एकतोले सोनेका मूल्य १०० रुपया निर्धारित करतीहै और इंगलैंडकी सरकार एकतोले सोनेका मूल्य १५० शि०। ऐसी अवस्थामें स्वयमेव भारत और इंगलैंडकी विदेशी विनिमय-दर १ रु० = १ शि० ६ पे० हुई। इस दरको 'टकसाली विनिमय-दर' कहते हैं। जबतक भारत और

इंगलैंडकी सरकार सोनके इस निर्धारित भावको बनाये रखेंगी, तबतक विदेशी विनिमय-दर १ रु० = १ शि० ६ पे० के आसपास रहेगी। आसपास इसलिए कहा गयाहै कि व्यवहारमें एक संकुचित सीमाके अन्तर्गत जिसको स्वर्ण-आयात और स्वर्ण-निर्यात मर्यादा कहतेहैं, इस दरमें परिवर्तन होसकता है। सोनेको एक देशसे दूसरे देश भेजनेमें जो व्यय होताहै और उस अवधिमें जो ब्याजकी हानि होती है, उससे इस मर्यादाकी सीमा निर्धारित हाती है। उदाहरणके लिए यदि १ रु० के मूल्यके सोनेको भारतसे इंगलैंड भेजनेमे १/४ पे० व्यय होताहै तो स्वर्ण-आयात और निर्यातकी मर्यादा १ शि० ६ १/४ पे० और १ शि० ५ ३/४ पे० हुई और इन दो देशोंमें विनिमयकी दर इस मर्यादाके बाहर नहीं जासकती।

विदेशी विनिमयके प्रकरणमें स्वर्ण-पद्धतिको अन्तर्राष्ट्रीय कहाजाता है क्योंकि जो जो राष्ट्र इस पद्धतिको ग्रहण करतेहैं उनमें वस्तुत: एकही प्रकारका द्रव्य हो जाता है, चाहे विभिन्न देशोंमें उस द्रव्यके भिन्न भिन्न नाम हों (सावरिन, फ्रांक, डालर आदि)। अब हम यह बतानका प्रयत्न करेंगे कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशोंके द्रव्योंकी विनिमय-दर स्वर्ण-आयात और निर्यातकी मर्यादाके अन्दरही क्यों रहती है। मान लीजिए इस द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीके सम्बन्ध में भारत इंगलैंडका ऋणी बनजाता है और तदनुसार भारतवासियों की इंगलैंडके द्रव्य स्टर्लिंगकी मांग बढ़जाती है। यदि मांग इतनी बढ़ीहुई है कि १ शि० ६ पे० प्रति रु० के हिसाबसे उसकी पूर्ति नहीं होपाती तो विदेशी-विनिमयके विक्रेता एक रु० के बदलेमें १ शि० ६ पे० से कम परिमाणमें स्टर्लिंग देने लगेंगे। जब यह दर गिरते गिरते १ शि० ५ २/४ पे० पर पहुच जातीहै तो इससे नीचे जानेपर भारत से सोनेका निर्यात प्रारम्भ होजायेगा। इसका कारण यहहै कि भारत-सरकार एक रु० के बदलेमें इतने परिमागमें सोना देनेको बाध्यहै कि जिसमें से भारतसे इंगलैंड भेजनेका व्यय निकालकर इंगलैंडमें १ शि० ५ ३/४ पे० मिलसकते हैं। अब यदि विदेशी विनिमयके विक्रेता एक रु० के बदलेमें उक्त स्टर्लिगसे कमदें तो यहांके ऋणी वर्गको सरकारसे सोना लेकर इंगलैंड भेजनेमें अधिक लाभ होगा। अतएव १ शि० ५ ३/४ पे० से नीची विदेशी-विनिमय-दर नहीं होने पायेगी।

इसके प्रतिकूल यदि लेनी देनीके मदोंके सम्बन्धमें इंगलैंडका भारतके प्रति दायित्व अधिकहै तो रु० की मांग अधिक होने लगेगी और रु० की विदेशी-विनिमय दर

१ शि० ६ पे० से ऊंची उठने लगेगी। परन्तु १ शि० ६ १/४ पे० पर पहुंचनेपर यह वृद्धि रुकजायेगी, क्योंकि इससे ऊंचीदर होनेपर इंगलैंडसे भारतको सोना भेजना सस्ता पड़ेगा इसका कारण यहहै कि इंगलैंडसे भारतको सोना भेजनेका व्यय जोड़कर १ शि० ६ १/४ पे० में इतना सोना इंगलैंड वासियोंको अपनी सरकारसे मिलजाता हैं जिससे उनको भारतमें १ रु० प्राप्त होजाता है। अतएव वे एक रु० प्राप्त करने के लिए १ शि० ६ १/४ पे० से अधिक स्टर्लिग नहीं देंगे। १ शि० ६ १/४ पे० की मर्यादा भारतके लिए स्वर्ण-आयात मर्यादा हुई।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के व्यावहारिक नियम

उपरोक्त व्याख्यासे यह सिद्ध होजाता है कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशोंकी विदेशी विनिमय-दर स्वर्ण-आयात-निर्यात मर्यादाके अन्तर्गत रहती है। इस पद्धतिके अनुयायी यहभी बतातेहैं कि सोनेके आयात और निर्यातसे अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीका सन्तुलनभी यथार्थ होजाता है। इस सन्तुलनको पुनः प्राप्त करनेके लिए जो आर्थिक क्रियाएं इन देशोंमें चरितार्थ होती हैं, उनके आधारपर स्वर्ण द्रव्य पद्धति के व्यावहारिक नियम बनायेगये है जिनका पालन करना इन देशोंका धर्म होजाता है। मान लीजिये भारतको लेनीदेनी की विषमताके कारण इंगलैंडको पर्याप्त मात्रा में सोना भेजना पड़ा। चूंकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यका परिमाण सोनेके कोष से सम्बद्ध रहताहै, अतएव सोनेके आधारकी क्षति होनेके कारण चलनमें द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। यह कमी निर्यात किये सोनेके मूल्यसे कहीं अधिक होगी क्योंकि प्रचलित द्रव्यका आंशिक मूल्यही स्वर्णके रूपमें कोषमें रहता है। यदि कोषमें एक स्वर्ण मुद्राके आधारपर चलनमें पांच नोट प्रचलितहैं तो कोषसे एक मुद्राकी क्षति होनेपर सोना और चलनमें स्थित द्रव्यका अनुपात बनाये रखनेके लिए पांच नोटोंको चलनसे निकालना पड़ेगा। (यहांपर हमने यह मानलिया है कि कोषमें अतिरिक्त सोना नहीं है) अब यदि भारतसे इंगलैंडको सोना निर्यात होने लगा तो यहां चलनमें द्रव्यका संकुचन होने लगेगा। इसके फलस्वरूप यहांके आय-स्तर और मूल्य-स्तर गिरने लगेंगे। आयका स्तर गिरनेसे यहांके लोग इंगलैंडसे उतने परिमाणमें सामान नहीं मोल लेसकेंगे जितना पहिले लिया करते थे। अतएव भारतमें

इंगलैंड की वस्तुओंका आयात कम होजायेगा। इसके अतिरिक्त मूल्य-स्तरमें कमी आनेके कारण भारतकी वस्तुओंकी मांग इंगलैंडमें बढ़ने लगेगी। भारत अधिक मात्रा में स्टर्लिग उपार्जन करने लगेगा और उसकी स्टर्लिगकी मांगमें कमी आने लगेगी। इसप्रकार भारत और इंगलैंडके बीच लेनीदेनी का सन्तुलन ठीक होने लगेगा। इस सन्तुलनको वापस लानेकी क्रियाके विवरणको पूरा करनेके लिए हमको, इंगलैंडमें सोनेके आयातका क्या आर्थिक प्रभाव पड़ा इसका भी विश्लेषण करना पड़ेगा। इंगलैंडमें जो सोना पहुंचा उसके आधारपर चलनमें द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि आ जायेगी। इसके परिणामस्वरूप वहांके आय-स्तर और मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगेगी। आय-स्तरमें वृद्धि होनेसे इंगलैंड वाले भारतसे अधिक मात्रामें सामान मोल लेने लगेंगे और मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेके कारण इंगलैंडकी वस्तुओंका निर्यात भारत को कम मात्रामें होगा। इससेभी भारत और इंगलैंडके बीच लेनीदेनीके सन्तुलनको पुन: प्राप्त होनेमें सहायता मिलेगी।

अब हम स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके व्यावहारिक नियमोंका प्रतिपादन करसकते हैं। पहिला नियम यहहै कि जिस देशसे द्रव्य-सम्बन्धी सोनेका निर्यात होताहै, उस देश के द्रव्य-प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणको संकुचित करनेकी नीतिका अवलम्बन करें और जिस देशमें इस सोनेका आयात होताहै वहांके द्रव्य-प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणका विस्तार करें। दूसरा नियम यहहै कि जिस देशसे सोना बाहर गयाहो, उस देशमें लागत आय और मूल्य-स्तरोंमें कमी आने दीजाये और जिस देशमें सोना आयाहै उस देशमें लागत, आय और मूल्य-स्तरोंमें वृद्धि होने दीजाये। इस प्रवृत्तिको कार्यान्वित करनेके लिए स्वर्ण निर्यातवाले केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दर बढ़ा देते हैं और स्वर्ण-आयात वाले देशके केन्द्रीय बैंक ब्याजकी दर कम करदेते हैं।

उपरोक्त विवेचनसे एकबात तो स्पष्ट होजाती है कि स्वर्ण द्रव्यवाले देशोंको विदेशी विनिमयकी दरकी स्थिरता को बनाये रखनेके लिए और लेनीदेनीके सन्तुलनको प्राप्त करनेके लिए अपनी आर्थिक व्यवस्थाम द्रव्य-संकुचन और द्रव्य स्फीति का प्रादुर्भाव और उससे उत्पन्न आर्थिक अस्थिरता को स्वीकार करना पड़ता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके गुणोंकी विवेचना करनेपर पता चलताहै कि इन गुणोंमें अपवादभी विद्यमान हैं। इन अपवादोंके अतिरिक्त इस पद्धतिमें प्रधान त्रुटि यह

है कि इसके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणको बदलती हुई आर्थिक स्थितिके अनुकूल करनेमें सुविधा नहीं रहती है। हम ऊपर बताचुके हैं कि इस पद्धतिवाले देशोंको विदेशी विनिमयकी दर बनाये रखनेके लिए एक बड़ा मूल्य देना पड़ताहै और यह मूल्य आन्तरिक आर्थिक व्यवस्थामें अस्थिरता उत्पन्न करदेता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति का अन्त

सन १९३१ में इंगलैंडने स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका परित्याग किया और धीरे धीरे सभी देशोंने इसका अनुसरण किया। इसके तीन प्रधान कारण हैं। एक कारण यहहै कि इस पद्धतिके निर्वाधित रूपसे चलनेके लिए जिस आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता होतीहै, वह वातावरण प्रथम महायुद्धके बादकी आर्थिक पद्धतिमें न प्राप्त होसका। दूसरा कारण यहहै कि इस कालमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी की विषमता इतनी अधिक होगयी कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति उसके भारको सहन करनेमें असमर्थ प्रतीत होनेलगी और तीसरा कारण यहथा कि कोईभी देश अपनी आर्थिक व्यवस्थाको अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-पद्धतिके नियमोंके आधीन करनेको प्रस्तुत नहीं था।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके ठीक प्रकारसे कार्य करसकनेके लिए यह आवश्यकहै कि सोनेके आयात और निर्यातका पूरा प्रभाव इन देशोंकी आन्तरिक आर्थिक स्थितिपर पड़ने दियाजाये और आय, लागत तथा मूल्यके स्तरोंको तदनुसार बढ़ाया अथवा घटाया जाये। परन्तु इस कालमें जिन देशोंसे सोना बाहर जाने लगा, उन देशोंने इस आशंका से कि उनमें बेकारी और आर्थिक मन्दी न आजाये द्रव्यके परिमाण और मूल्य-स्तरोंमें कमी नहीं आने दी। और जिन देशों को सोना प्राप्त हुआ, उन देशोंने भी द्रव्य-स्फीति की आशंका से द्रव्यके परिमाण एवं मूल्य-स्तरोंमें वृद्धि नहीं होने दी। इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवस्थामें भी महायुद्धके पहिलेकी स्थिति नहीं रह गयीथी जिसमें लागत व्यय और मूल्योंको सुगमतासे बदला जासके। मज़दूर संघ और एकाधिकारियोंका प्रभुत्व बढ़ता जारहा था। स्वर्ण-पद्धतिमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनीदेनी का सन्तुलन बनायेरखने का मार्ग केवल मुक्त-द्वार व्यापार-नीति है। परन्तु इस कालमें साहूकार देशों ने ऋणी देशोंसे वस्तुओंके रूपमें अपना पावना लेनेसे इन्कार कर दिया और सोनेके रूपमें लेनेका आग्रह किया। ऋणी देशोंने

अपनी विदेशी देनदारी कम करनेके लिए आयात-कर लगाकर आयातका परिमाण घटानेकी चेष्टाकी और साहूकार देशोंने भी इसके प्रत्युत्तरमें आयात-करोंकी स्थापना और वृद्धि करदी। इसके फलस्वरूप एक देशसे दूसरे देशोंको आयात निर्यातके परिमाणोंमें परिवर्तन होनेसे जो सन्तुलन होनेकी प्रवृति होतीथी, उसका विरोध होने लगा।

इस कालमें अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनके परिमाणमें भी बहुत वृद्धि हुई। इसका एक कारण यहथा कि यूरोपके कई देशोंको जो युद्धके कारण गिरी अवस्थामें थे, सम्पन्न राज्योंने (जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका) आर्थिक निर्माण कार्यके लिए ऋण दिया। इसका कारण यहथा कि अल्पकालीन पूंजीमें ब्याजकी दरमें असमानताके कारण अथवा आर्थिक दुरावस्थासे रक्षाके निमित्त बहुत शीघ्रतासे बड़ी मात्रामें एक देश से दूसरे देशको भेजी जानेकी प्रवृत्ति होने लगी थी। इसके अतिरिक्त युद्ध सम्बन्धी ऋण और क्षतिपूरक धनको देनेका परिमाणभी बहुत बढ़गया था। इन कारणोंसे स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिपर बहुत भार पड़ने लगा जिसको वहन करना उसके लिए दुष्कर होगया।

युद्धके पश्चात् प्रत्येक देशको अपने स्वार्थकी ही चिन्ता थी। सभीको आर्थिक साधनोंको पूर्ण रूपसे काममें लाकर राष्ट्रीय आयको बढ़ाना और जीवन-स्तरको ऊंचा करना था। अतएव विदेशी विनिमयकी दरकी स्थिरताकी अपेक्षा आर्थिक स्तरकी स्थिरताको अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जानेलगा था। यही कारणथा कि जिसके परिणाम स्वरूप स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके व्यावहारिक नियमोंकी अवहेलना होने लगी। अर्थशास्त्रियों और राज्य-प्रबन्धकों को यह विश्वास होगया कि स्वर्ण पद्धति प्रतिबन्धोंके अन्तर्गत आर्थिक विकास और स्थिरता प्राप्त करनेमें बहुत कठिनाइयां हैं।

अविनिमय-साध्य प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति

द्रव्य-पद्धतिमें एक विशेष गुण यह होना चाहिए कि उसको सुगमतासे आन्तरिक आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल बनाया जासके। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें यह बात पर्याप्त मात्रामें नहीं पायी जाती। इसीकारण अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिको अधिक

महत्त्व दिया जाने लगा। इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्यका परिमाण सोनेके कोषक परिमाणसे सम्बन्धित नहीं रहता। यह सोनेकी शृंखलाओंसे मुक्त होजाती है, सन् १९३१ से पहिलेभी युद्ध इत्यादि आर्थिक संकटोंके अवसरोंपर अनेक देशोंने स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका त्याग करदिया था। परन्तु यह त्याग संकटकालीन ही था। सन् १९३१ के बाद सदैवके लिए इस पद्धतिका त्याग करदिया गया है। जब द्रव्य के परिमाणको इसप्रकार स्वतन्त्र करदिया गया तो उसका प्रबन्ध और नियन्त्रण अन्य आर्थिक उद्देश्योंके अन्तर्गत करना आवश्यक होजाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रबन्धित नहीं थी। प्रबन्ध तो उसमेंभी करना पड़ता था परन्तु आधुनिक प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिकी अपेक्षा उसमें प्रबन्धकी मात्रा और उद्देश्यमें अन्तर है। स्वर्ण द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत इस प्रकारका प्रबन्ध करना पड़ताथा कि द्रव्यका परिमाण सोनेमें विनिमयसाध्य बनारहे और विदेशी विनिमयकी दरमें स्थिरता बनी रहे। इन्हीं उद्देश्योंके आधारपर द्रव्य-नीति का प्रयोग कियाजाता था। प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिमें प्रबन्धके उद्देश्य दूसरे प्रकारके हैं। कुछ अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध कियाजाये कि वह आर्थिक क्रियाओं एवं सम्बन्धोंमें विकार न उत्पन्न करे अर्थात् वह तटस्थ रहे। यह निर्विवादहै कि आर्थिक कार्योंमें द्रव्यका उपयोग होनेसे आर्थिक व्यवस्थाके भिन्न भिन्न अवयवोंका सम्बन्ध उसी प्रकारका नहीं रहसकता जैसाकि अदल-बदल प्रथाके अन्तर्गत रहता था। अर्थात् द्रव्यका अपना निजी प्रभावभी आर्थिक सम्बन्धोंपर पड़ता है। तटस्थ द्रव्य-नीतिके मतावलम्बियोंका कहनाहै कि आर्थिक अस्थिरताओंका प्रधान कारण यहीहै कि द्रव्य और विशेषकर साख-द्रव्यका परिमाण आर्थिक सम्बन्धोंमें व्याघात पहुंचाकर आर्थिक प्रगतिमें अस्थिरता उत्पन्न करदेता है। अतएव यदि द्रव्यका प्रबन्ध इसप्रकार कियाजाये कि द्रव्यसे आर्थिक कार्य लेते रहनेपरभी आर्थिक सम्बन्ध उसी प्रकारके बनेरहें जैसाकि द्रव्यहीन आर्थिक पद्धतिमें होतेतो इसप्रकार द्रव्यकी तटस्थता बनी रहेगी। सैद्धान्तिक रूपमें यदि हम द्रव्यकी तटस्थता की नीतिको महत्त्वपूर्ण मानभी लें तो भी व्यवहारमें द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध करना कि वह पूर्ण रूपसे तटस्थ रहे, बहुत कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त यह मानलेना भी असंगत जानपड़ता है कि द्रव्य-हीन आर्थिक व्यवस्थामें जो सम्बन्ध उसके विविध अवयवों में स्थापित होजाते थे; उनको बनाये रखनेसे आर्थिक प्रगति अविरोध रूपसे होती रहेगी।

प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिके कुछ अनुयायी चाहते हैं कि द्रव्यका प्रबन्ध इसप्रकारसे कियाजाये कि उससे आर्थिक साधनोंको पूर्णरूपसे बराबर काममें लगाकर पूर्ण नियोग की स्थितिमें स्थिरताका समावेश कियाजाये। यह एक महत्त्वाकांक्षा है। परन्तु दुख इस बातका है कि हमारी सारी आर्थिक व्याधियां और अस्थिरताएं द्रव्य जनित नहीं है। अतएव यह आशा करना कि द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध किया जासकता है कि सभी आर्थिक क्रियाएं अविरोध रूपसे अग्रसर होती रहें, मृग मरीचिकाके समान ही है। तथापि प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिसे आशा कीजाती है कि यह अपनी अस्थिरताओं को आर्थिक अस्थिरताओं के ऊपर न लाददे और जहांतक सम्भव हो, अपनेको आर्थिक अवस्थाके अनुकूल रखतेहुए अन्य आर्थिक उपचारोंको कार्यान्वित करनेमें सहायता प्रदान करे।

कुछ अन्य अर्थशास्त्री प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिसे यह आशा करतेहैं कि इसके अन्तर्गत मूल्य-स्तरोंको स्थिर बनानेकी सुविधा होगी। येलोग यह मानलेते हैं कि द्रव्यके विनिमय मूल्य और वस्तुओंके मूल्य-स्तरोंमें स्थिरताका समावेश होनेपर आर्थिक स्थिरता प्राप्त करनेमें सहायता मिलेगी। इनके मतमें एक अच्छी द्रव्य-पद्धतिसे यही आशा करनी चाहिए। अब हमको यह विचार करनाहै कि मूल्य-स्तरोंमें स्थिरता लाना कहांतक वांछनीयहै और यदिहै तो क्या यह स्थिरता द्रव्य-नीति द्वारा प्राप्त होसकती है।

यहतो सभी लोग माननेको तैयार होंगे कि वस्तुओंके मूल्य-स्तरोंमें अधिक मात्रामें उलटफेर होनेके कारण आर्थिक विषमताएं उत्पन्न होजाती हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य हमारा मापदंड भी है। अतएव इसके विनिमय-मूल्यमें अधिक मात्रामें अस्थिरता उत्पन्न होजाना (जो कि मूल्य-स्तरोंमें बदलाव हो जानेपर अवश्यम्भावी है) भी हमको वांछित नहीं है। परन्तु इससे इस परिणामपर नहीं पहुंचजाना चाहिए कि हमको प्रत्येक अवस्थामें मूल्य-स्तरकी स्थिरता वांछनीय है। सन् १९२९-३२ के विश्वव्यापी आर्थिक अपकर्षसे पूर्व कुछ वर्षोंतक मूल्य-स्तर में स्थिरता वर्तमान थी। फिरभी यह आर्थिक संकटको न रोक सकी। इसका प्रधान कारण यहथा कि इस कालमें नवीन आविष्कारों और वैज्ञानिक प्रबन्धके प्रयोगसे लागत-व्यय गिरने लगाथा और मूल्योंमें स्थिरताके कारण लाभकी मात्रा बढ़ने से पूंजीका लगाव अत्यधिक मात्रामें होने लगा। इससे हम इस परिणामपर

पहुंचतेहैं कि जब पूर्वोक्त कारणोंसे उत्पादकता की वृद्धिहो और प्रति इकाई लागत व्यय कम होजाये, तो मूल्य-स्तरमें भी कमी आनी चाहिए। ऐसा न होनेपर आर्थिक सम्बन्धोंमें अन्तर होजाता है जिससे आर्थिक व्यवस्थामें गड़बड़ी पैदाहो जाती है। इसके अतिरिक्त यहभी कहाजाता है कि जिन लोगोंकी बंधी हुई आय होतीहै उनको वैज्ञानिक उन्नतिसे उत्पादकतामें जो वृद्धि होतीहै उसका लाभ तभी मिल सकताहै जब मूल्य-स्तरमें कमी आये।

यदि इस बातको मानभी लियाजाये कि मूल्य-स्तर को द्रव्य-नीति द्वारा स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए तो प्रश्न यह होताहै कि किस स्तरपर स्थिर रखना चाहिए। भारतमें मूल्य-स्तर इससमय बहुत ऊंचा है। सभी लोग चाहतेहैं कि इसमें कमी हो, परन्तु यह बताना बहुत कठिनहै कि किस स्तर तक कमी कीजानी चाहिए जिससे समाजका अधिकतम क्षेम हो। इसीप्रकार जब १९२९-३२ की आर्थिक मन्दीके अवसरपर प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैंड मूल्य-स्तरको बढ़ानेका प्रयत्न कररहे थे, इस बातपर एकमत नहीं था कि मूल्य-स्तरको किस स्तरतक चढ़ाकर स्थिर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम अगले अध्यायमें बतावेंगे, मूल्यस्तर अनेक मूल्योंका औसत मात्र है। अतएव प्रश्न यह होताहै कि क्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेसे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। सूचक अंक (जिससे द्रव्य-स्तर का गणित किया जाता है) बनानेमें ही अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सूचक अंकोंके समान रहनेसे यह परिणाम नहीं निकलता कि मूल्य-स्तरोंमें और उनके आपसके सम्बन्धोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उदाहरणके लिए यदि एक वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत बढ़गया और दूसरी वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत घटगया तो औसत मूल्य-स्तर तो समान रहेगा परन्तु इन दो वस्तुओंके मूल्योंके सम्बन्धमें परिवर्तन होनेसे इनके उत्पादन और मांगमें परिवर्तन की प्रवृत्ति होजायेगी। वास्तवमें समस्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेकी नहीं है, बल्कि भिन्न भिन्न मूल्योंका आपसमें ठीक ठीक सम्बन्ध ज्ञात करना और उस सम्बन्धको स्थिर बनाये रखना है। आर्थिक विषमताओं और अस्थिरताओंका एक प्रधान कारण यहीहै कि भिन्न भिन्न वस्तुओं और सेवाओंके मूल्य असम्बन्धित होजाते हैं। इनके कारणोंको जानना और इनको ठीक प्रकारसे सम्बन्धित करनाही सबसे कठिन कार्य है।

अब प्रश्न यहहै कि क्या हम एक विशिष्ट द्रव्य-पद्धति और द्रव्य-नीति द्वारा मूल्य-स्तरमें स्थिरता लासकते हैं। पहिली बाततो यहहै कि मूल्य-स्तर केवल द्रव्य द्वाराही निर्धारित नहीं होता है। जैसाकि 'हम द्रव्यका विनिमय-मूल्य' नामक अध्यायमें बतायेंगे, द्रव्यके अतिरिक्त औरभी अनेक विचारणीय विषय हैं जिनसे मूल्य-स्तर सम्बन्धित है। उदाहरणके लिए, यदि मूल्य-स्तरमें गिरनेकी प्रवृत्ति देखकर द्रव्यके प्रबन्धकर्ता द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करें परन्तु जिनको इस द्रव्यकी प्राप्ति होतीहै वेलोग अथवा संस्थाएं इस द्रव्यको काममें न लाकर संचित करने लगें तो इससे मूल्य-स्तरके ह्रासमें रोकथाम नहीं हो सकेगी, अतः हम इस परिणाम पर पहुंचतेहैं कि केवल द्रव्यके संचालनमें ही परिवर्तन करनेसे मूल्य-स्तरमें परिवर्तन अथवा स्थिरता आना अनिवार्य नहीं है। और जब हम मूल्य-स्तरमें नहीं बल्कि विविध मूल्योंके सम्बन्धोंको ठीक करके उनमें स्थिरता लाना चाहते हैं तबतो द्रव्य द्वारा यह कार्य औरभी कठिन होजाता है।

अभीतक द्रव्य-शास्त्रियों और द्रव्य-प्रबन्धकों ने द्रव्यके आर्थिक अवस्थाके सम्बन्ध और क्रिया-प्रतिक्रियाके विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं करपाया है। विशेष कर केन्द्रीय बैंक जिसे द्रव्य-नीतिको आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानका भार सौंपा गयाहै, अभीतक द्रव्य-नियन्त्रणके उपकरणों को इस अवस्थातक नहीं ला सकाहै जिससे उसको इस महत्त्वपूर्ण कार्यमें पूर्ण सफलता प्राप्त होसके। परन्तु प्रत्येक देशके केन्द्रीय बैंक अपने उत्तरदायित्व को समझनेकी चेष्टा करंरहे हैं और अनेक उपकरणोंकी कार्यक्षमता भी बढ़ारहे हैं और आशा कीजाती है कि निकट भविष्यमें यह संस्था जहांतक द्रव्य-पद्धति और द्रव्य-नीति द्वारा आर्थिक स्थिरता की समस्याका समाधान होसकता है, वहांतक यथाशक्ति सहायता करनेका प्रयत्न करेगी।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिके सम्बन्धमें अनेक आलोचनाएं सुनीजाती हैं। यह खेदका विषयहै कि भूतकालमें संकटकालके समयही द्रव्य-पद्धतियां अविनिमय-साध्य बनायी गयीं और अनेक देशोंमें इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्य-स्फीति की समस्या उत्पन्न हुई। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नहींहै कि इस पद्धतिको जन-साधारण आर्थिक संकट और द्रव्य-स्फीतिसे सम्बन्धित करता है। यही कारणहै कि इसप्रकार की पद्धतिमें वह विश्वास नहीं रहता जो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें रहता है।

परन्तु इसमें द्रव्य-पद्धतिका दोष नहीं है, यदि दोषहै तो द्रव्य-प्रबन्धकोंका जिन्होंने इसका दुरुपयोग किया। उचित प्रकारसे प्रबन्ध होनेपर इस पद्धतिमें अनेक गुण पाये जाते हैं। एकतो यहहै कि इस पद्धतिमें लागत-द्रव्य बहुत कम रहता है। सोना चांदी बहुमूल्य वस्तुएं हैं। इनकी अन्य आर्थिक कार्योंमें भी आवश्यकता रहती है। इस पद्धतिके अन्तर्गत बहुतसा सोना चांदी जो द्रव्यके काममें आता था अब दूसरे कामोंमें लगाया जासकता है। इसके अतिरिक्त इस पद्धतिको आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल बनानेमे अधिक सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है। हम देखचुके हैं कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशोंको इस प्रकारकी सुविधा और स्वतन्त्रता बहुत कम मात्रामें रहती है।

२४

द्रव्य का विनिमय-मूल्य

मूल्य और विनिमय-मूल्य

एक वस्तुमें अन्य वस्तुओंको बदलेमें प्राप्त करनेकी जो शक्ति होती है उसको हम उस वस्तुका विनिमय-मूल्य कहेंगे। यदि एक सेर गेहूंके बदलेमें दोगज़ कपड़ा मिल सकताहै तो एकसेर गेहूंका विनिमय-मूल्य दोगज़ कपड़ा और एकगज़ कपड़ेका विनिमय-मूल्य आधासेर गेहूं हुआ। हम पहिले अध्यायमें बता चुकेहैं कि यदि सभी वस्तुओंके विनिमय-मूल्यको एकही वस्तुके परिमाणमें प्रकट किया जासके, तो इससे आर्थिक क्रियाओंमें बहुत सुविधाएं प्राप्त होजाती हैं। आर्थिक विकासमें यही हुआभी है। समाजने द्रव्यके रूपमें वस्तुओंका विनिमय-मूल्य प्रकट करना प्रारम्भ करदिया। इसप्रकार जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसको हम मौद्रिक मूल्य कहते हैं अर्थात् विनिमय-मूल्य द्रव्यके रूपमें प्रकट कियाजाता है, तो वह मौद्रिक मूल्य कहलाता है। जिस वस्तुसे द्रव्यका काम लियाजाता है, उसको एक ऊंचा पद प्राप्त होजाता है। द्रव्यके विकासके सम्बन्धमें हम देखचुके हैं कि किसप्रकार सोनेचांदी ने द्रव्यके रूपमें काममें लायेजानेके कारण एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करलिया। आधुनिक कालमें तो अधिकतम द्रव्य काग़ज़का बना हुआहै अथवा केवल बैंकोंके खातोंमें दर्ज है। उसका कोई निज का मूल्य नहीं है। फिरभी उसकी इतनी मान्यता है। अन्य आर्थिक वस्तुओं और द्रव्यके बीच एक बड़ा भेद यहहै कि अन्ततोगत्वा अन्य आर्थिक वस्तुओंके अन्तर्गत कुछ ऐसे गुण निहितहैं जिनमें हमारी कोईन कोई आवश्यकताको तृप्त करनेकी शक्ति होती है। गेहूं, दूध, लकड़ी इत्यादि वस्तुएं इसका उदाहरण हैं, जिनमें कुछ ऐसे नैसर्गिक गुण वर्तमानहैं जिनके उपभोगसे हमको तृप्ति मिलती है। इन्हीं गुणोंके आधारपर उनकी उपयोगिता टिकीहुई है। परन्तु आधुनिक द्रव्यमें कोई इस प्रकारकी तात्त्विक विशेषता नहींहै जिसके कारण

हम उसको उपयोगी समझते हैं। हम द्रव्यकी मान्यता तभीतक करेंगे जबतक उसके विनिमयसे हमको अन्य उपयोगी वस्तुएं प्राप्त होसकें अर्थात् जबतक द्रव्यकी क्रय-शक्ति बनी रहे। इससे यह तात्पर्य निकलताहै कि द्रव्यकी कोई स्वत: उपयोगिता नहींहै बल्कि उसकी उपयोगिता उन वस्तुओंकी उपयोगितापर निर्भरहै जो उसके विनिमयसे प्राप्त होसकती हैं। यही एक प्रधान भिन्नता द्रव्य और अन्य आर्थिक वस्तुओंके बीचहै, जिसके कारण हम द्रव्यको एक पृथक वर्गमें रखते हैं।

द्रव्य का विनिमय-मूल्य

अभी हमने बताया कि अन्य वस्तुओंके विनिमय-मूल्यको द्रव्यके रूपमें प्रकट किया जाताहै और उसको उन वस्तुओंका मौद्रिक मूल्य अथवा केवल मूल्य कहाजाता है। द्रव्यका भी विनिमय-मूल्य होता है। द्रव्यकी इकाईसे जिस परिमाणमें वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त होसकती हैं, वही द्रव्यका विनिमय-मूल्य है। द्रव्यके विनिमय-मूल्यसे जो वस्तुएं प्राप्त होतीहैं, उसको हम द्रव्यका विनिमय-मूल्य कहेंगे। संक्षेपमें हम कहसकते हैं कि द्रव्यका विनिमय-मूल्य उसकी क्रय-शक्ति है। द्रव्यकी एक इकाई से हमें किस परिमाणमें अन्य वस्तुएं मिलसकती हैं, यह उन वस्तुओंके मूल्य-स्तरपर निर्भर करता है। यदि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होजाये तो द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी आजायेगी और यदि मूल्य-स्तरमें कमी होजाये, तो द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें वृद्धि होजायेगी। अर्थात् मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें प्रतिलोम सम्बन्ध है।

यदि हम ध्यानसे देखेंतो हमको ज्ञात होताहै कि द्रव्यके विनिमय-मूल्यका निर्धारण इतनी सरलतासे नहीं होता है। उदाहरणके लिए, यदि सूचक-अंकोंकी सहायतासे हमें यह ज्ञात होताहै कि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होगयी तो क्या इससे यह परिणाम निकाला जासकता है कि सभी मनुष्योंके लिए द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें उसी अनुपातमें कमी होगयी। वास्तवमें ऐसा नहीं होता है। प्रत्येक वस्तुका मूल्य किसी समय विशेषमें एकही अनुपातमें नहीं घटता बढ़ता और प्रत्येक मनुष्य एकही प्रकारके वस्तु-समुच्चयको नहीं मोल लेता। अतएव ऐसा होसकता है कि जब सूचक-अंक मूल्य-स्तरमें वृद्धि बतातेहैं तो सभी मनुष्योंके द्रव्यका विनिमय-मूल्य एकही अनुपातमें नहीं घटता। यदि कोई मनुष्य केवल उन्हीं वस्तुओंको मोल लेता

है जिनका मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित और नियन्त्रित है तो उसके लिए द्रव्यका विनिमय-मूल्य पूर्ववत्‌ही रहेगा और एक दूसरा व्यक्ति जो अनियन्त्रित वस्तुओंको भी मोल लेताहै जिनके मूल्यमें वृद्धि आगयी हो, तो उसके द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी आजायेगी। इसप्रकार हम देखतेहैं कि द्रव्यका कोई ऐसा एकाकी विनिमय-मूल्य नहीं होसकता जो सभी व्यक्तियोंके द्रव्यके सम्बन्धमें समान रूपसे लागू हो। सैद्धान्तिक रूपसे कहा जासकता है कि द्रव्य द्वारा अनेक प्रकारकी वस्तुएं और सेवाएं मोलली जासकती हैं, अतएव द्रव्यका विनिमय-मूल्य उन सभी वस्तुओंके मूल्यपर अवलम्बित रहना चाहिए। इस प्रकारके सूचक-अंक प्राप्तभी कियेजाते हैं जो सभी वर्गोंकी प्रतिनिधि वस्तुओंके आधारपर गणित कियेजाते हैं। परन्तु इस प्रकारके सूचक-अंकोंसे जो द्रव्यका विनिमय-मूल्य इंगितं होताहै उसका व्यवहारमें अधिक महत्त्व नहीं होसकता क्योंकि भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुओं और वस्तु-समुच्चयोंके मूल्यसे प्रभावित होते हैं। अतएव व्यावहारिक उपयोगिता और आर्थिक विश्लेषणके लिए भी द्रव्यका विनिमय-मूल्य हमको भिन्न भिन्न वस्तु-वर्गों और सेवा-वर्गोंके रूपमें निकालना पड़ेगा।

सूचक-अंक

किसी समय विशेषमें द्रव्यका विनिमय-मूल्य क्याहै उसको व्यक्त करना दुष्कर कार्यहै क्योंकि द्रव्यसे विविध प्रकारकी वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त होसकती हैं। परन्तु द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें सापेक्ष परिवर्तनको जानना सम्भव है। उदाहरणके लिए यदि हम यह जानना चाहें कि सन् १९४८ की तुलनामें सन् १९४९ में द्रव्यका विनिमय कमहै या अधिक, और कितनी मात्रामें तो इसका हिसाब सूचक-अंकोंकी सहायतासे लगाया जासकता है। सूचक-अंकोंसे मूल्य-स्तरोंमें औसत बदलाव मापा जाताहै और इसके अनुलोम-अंकोंसे द्रव्यके विनिमय-मूल्यके परिवर्तनको गणित करलिया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि १९४२ की अपेक्षा १९४४ में मूल्य-स्तर दुगना होगया है (यदि १९४२ के सूचक-अंकको १०० मानलिया तो १९४४ का सूचक २०० होगा) तो हम कहसकते हैं कि १९४४ में १९४२ की अपेक्षा रुपयेका विनिमय-मूल्य आधा रहगया (यदि १९४२ में रुपयेका मल्य १०० था

लियाजाय, तो १९४४ में ५० रह जायेगा)।

सूचक-अंक निकालनेके पूर्व इस बातका निश्चय करलेना पड़ताहै कि किस काल को प्रामाणिक काल मानाजाये जिससे अन्य कालोंकी तुलनाकी जासके। कुछ काल स्वयमेव प्रामाणिक प्रतीत होनेलगते हैं। उदाहरणके लिए सन् १९३९ (सितम्बर से पूर्व) प्रामाणिक बनगया है क्योंकि इसके बादही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होगया था। प्रामाणिक काल ऐसा होना चाहिए जिसमें युद्ध, आर्थिक उत्कर्ष-अपकर्ष आदि प्रकारकी असाधारण घटनाएं न घटी हों। आधुनिक कालमें ४-५ वर्षोंके औसतको प्रामाणिक काल माननेकी प्रथा चलपड़ी है। प्रामाणिक काल स्थिरकर लेनेके पश्चात् हमको उन वस्तुओं और सेवाओंकी एक ऐसी सूची बनानी पड़तीहै जिसके आधारपर सूचक-अंक बनाये जायेंगे। जिस प्रयोजनके लिए सूचक-अंक और तत्सम्बन्धित द्रव्यके विनिमय-मूल्यको जाननेकी आवश्यकता हो, उसीसे सम्बन्धित वस्तुएंभी होनी चाहिएं। उदाहरणके लिए यदि हम किसानोंके द्रव्य विनिमय-मूल्यमें बदलाव जानना चाहते हैं, तो हमें उन्हीं वस्तुओंको सूचीमें रखना पड़ेगा जिनका उपयोग किसान लोग साधारणत: करते हैं। इन वस्तुओं और सेवाओंकी एक लम्बी सूची होगी। अतएव सूचक-अंकोंको प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक होजाता है कि इन वस्तुओंमें से कुछ ऐसी छांट लीजायें जो सबका प्रतिनिधित्व करसकें। इन वस्तुओंकी संख्या बहुत कम नहीं होनी चाहिए, नहींतो इनको प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होसकेगा। जितनी अधिक संख्याहो, उतना अच्छा है। परन्तु इतनी अधिक भी न हों कि कार्य सामर्थ्यके बाहर होजाये। अब इन छँटीहुई वस्तुओंका मूल्य मालूम करना है। यदि पूर्वोक्त उदाहरणके अनुसार हमें १९४४ की १९४२ से तुलना करनीहै तो हमको इन दोनों वर्षोंमें जो इन वस्तुओं का मूल्य रहाहो, उसको मालूम करना पड़ेगा। इसमें बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। पहिलेतो हमें किसीभी वस्तुके जिस प्रकारको एक वर्षमें लेते हैं, उसी प्रकारको दूसरे वर्षमें भी लेना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि १९४२ में तो शुद्ध घी का मूल्य लियाजाये और १९४४ में वनस्पति घी का। इसके अतिरिक्त जिस प्रकारका मूल्य एक वर्षमें लियागया हो, उसी प्रकारका मूल्य दूसरे वर्षभी लेना चाहिए। एक वर्षमें थोक भाव और दूसरे वर्षमें फुटकर भाव लेनेपर सूचक-अंकोंमें अशुद्धता आजायेगी। साधारणत: सूचक-अंक थोक मूल्योंके आधारपर बनाये जाते

हैं क्योंकि इन मूल्योंका इकट्ठा करना सुगम होता है। परन्तु जीवन-स्तरके सम्बन्ध में जाननेके लिए फुटकर भाव अधिक उपयुक्त होतेहै क्योंकि उपभोक्ता वर्ग इसी भावपर सामान मोललेता है। जब इसीप्रकार छँटी हुई वस्तुओंके दोनों वर्षोंके मूल्य ज्ञात होगये, तो इसके पश्चात् गणितका कार्य आरम्भ होजाता है। पहिला काम है, प्रत्येक वस्तुका सापेक्ष मूल्य गणित करना। इसके लिए, प्रामाणिक वर्षमें प्रत्येक वस्तुका मूल्य १०० इकाई मानकर दूसरे वर्षमें उस वस्तुके भावका सापेक्ष अंक प्राप्त कियाजाता है। उदाहरणके लिए, यदि लकड़ीका भाव १९४२ में २ रुपये मन हो और १९४४ में बढ़कर २ रुपये ८ आने मन होगया हो, तो २ रुपयेको १०० इकाई मानकर २ रुपये ८ आनेको १२५ इकाईसे सूचित करेंगे। इसीप्रकार सभी वस्तुओंके सापेक्ष मूल्यके अंक निकाल लिये जायेंगे। इन सापेक्ष-अंकोंसे भिन्न भिन्न वस्तुओंके मूल्योंमें बदलाव जानाजाता है। परन्तु हमकों औसत बदलाव मालूम करनाहै अतएव हम इनका औसत निकाल लेते हैं। यही औसत सूचक-अंक हैं। नीचे दीगयी तालिकामें सूचक-अंकोंको गणित करनेकी रीति दीगयी है:

सन् १९४२				सन् १९४४		
१. मान अंक	२. वस्तुएं	३. मूल्य	४. गुण	५. मूल्य	६. सापेक्ष मूल्य गुण	७. १०×६.
१०	चना	४ आ. सेर	१००	६ आ. सेर	१५०	१५००
६	बाजरा	५ ,,	१००	५ ,,	१००	६००
५	लकड़ी	२ रु. मन	१००	२ १/२ रु. मन	१२५	६२५
१	गुड़	३ आ. सेर	१००	६ आ. सेर	२००	२००
३	धोतीजोड़ा	५ रु.	१००	६ रु.	१२०	३६०
२५		५०		कुल	६९५	३२८५

साधारण सूचक-अंक $\frac{६९५}{५} = १३९$

सप्रभाव सूचक-अंक $\frac{३२८५}{२५} = १३१$

विनिमय-मूल्यमें बदलावको द्रव्यके परिमाणसे सम्बन्धित करता है। अतएव इस सिद्धान्तको द्रव्यका पारिमाणिक सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार अन्य बातें समान रहनेपर, द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होनेसे मूल्य-स्तरमें वृद्धि और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी होजायेगी और द्रव्यके परिमाणमें कमी होनेसे मूल्य-स्तर में कमी और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें वृद्धि होजायेगी। इस सिद्धान्तको निम्न-लिखित समीकरणके रूपमें प्रदर्शित किया जाताहै :

द्रव्यका परिमाण × चलनका औसत वेग

= मूल्य स्तर × कुल व्यापार।

द्रव्यके परिमाणमें धातविक द्रव्य, नोट और साख-द्रव्य सभी सम्मिलित हैं। किसी समय विशेषमें द्रव्यका परिमाण स्थिर रहता है। परन्तु किसी कालावधिमें जैसे एक वर्ष, उसी द्रव्यसे अनेकबार काम लिया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि किसी समाजमें चलनमें ३० करोड़ रुपयाहै और उसकी सहायतासे सालभरमें ३०० करोड़ रुपयेका आर्थिक व्यवसायोंमें लेनदेन हुआ, तो औसतन प्रत्येक रुपया १० बार चलनमें आया। इसको हम द्रव्यका चलन-वेग कहते हैं। पूर्वलिखित समी-करणमें द्रव्यका परिमाण × चलनका औसत वेगसे यह तात्पर्य निकला कि सालभर में कितना रुपया लिया और दियागया। जितना रुपया लिया और दियागया होगा, वह उस व्यापारसे सम्बन्धित होगा, जो द्रव्य द्वारा कार्यान्वित हुआ होगा और इसकुल व्यापारके एक औसत मूल्य अथवा मूल्य-स्तरकी कल्पना की जासकती है। अब यदि कुल व्यापारके परिमाणको औसत मूल्यसे गुणा करदें, तो कुल व्या-पारका मूल्य निकल आयेगा। सालभर में जितना रुपया लिया और दियागया होगा, वह इसकुल व्यापारके सम्बन्धमें ही रहा होगा। अतएव इस समीकरणके दो भागोंका परिमाण अवश्यही बराबर होगा। इस समीकरणको सुगम भाषामें इसप्रकार कहसकते हैं: किसी कालावधिमें जितना द्रव्य लिया दिया जाताहै उसका परिमाण कुल द्रव्य सम्बन्धी व्यापारके मूल्यके बराबर होगा।

इस समीकरणसे एक दूसरा समीकरण प्राप्त होताहै जोकि महत्वपूर्ण है। उस का रूप निम्नलिखित है :

$$\text{मूल्य स्तर} = \frac{\text{द्रव्य} \times \text{वेग}}{\text{व्यापार}}$$

इस समीकरणसे यह तात्पर्य निकलताहै कि यदि मूल्य-स्तरमें परिवर्तन होगया हो, तो हमको उसके कारणोंको खोजनेके लिए द्रव्यका परिमाण अथवा उसका वेग अथवा व्यापारकी मात्रा अथवा इन सभीके सम्बन्धोंके परिवर्तनका अध्ययन करना पड़ेगा द्रव्यके पुराने पारिमाणिक सिद्धान्तके अनुसार मूल्य-स्तर केवल द्रव्यके परिमाणपर अवलम्बित मानाजाता था। परन्तु आधुनिक कालमें इस सिद्धान्तके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणके अतिरिक्त उसके चलनका वेग और उससे सम्पादित होनेवाले व्यापारके परिमाणको भी सम्मिलित कियाजाता है। परन्तु इस सिद्धान्त के कुछ अनुयायी यह मानलेते हैं कि दीर्घकालमें द्रव्यका औसत वेग और व्यापार की मात्रामें अधिक परिवर्तन नहीं होताहै और यदि होताभी है, तो उसका सीधा सम्बन्ध मूल्य-स्तरसे नहीं होता। अब यदि हम चलनके वेग और व्यापारकी मात्रा पर ध्यान न दें तो, यदि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होगयी है तो उसका कारण द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिही होसकता है, इस प्रकारके तर्कमें अनेक त्रुटियां एवं अपवाद हैं। पहिले तो यह मानलेना कि द्रव्यका वेग और व्यापारकी मात्रा समान रहेगी, असंगत है। इन दोनोंमें भी परिवर्तन होता रहताहै जिससे मूल्य-स्तर प्रभावित होता है और मूल्यके प्रभावित होनेसे ये दोनोंभी प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य के परिमाणमें जो परिवर्तन होताहै उसका पूरा प्रभाव मूल्य-स्तरपर न पड़ने देनेमें भी इनका हाथ रहता है। उदाहरणके लिए, कल्पना कीजिए कि आर्थिक मन्दीका अवसरहै तथा मूल्य-स्तर नीचे गिरगया है और इसलिए आवश्यकता इस स्तरको ऊंचा करनेकी है। अब यदि द्रव्य प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करदें तो यह अनिवार्य नहींहै कि मूल्य-स्तर अवश्य ऊंचा होजायेगा। आर्थिक मन्दीके अवसर पर निरुत्साहकी भावना रहती है। अतएव यह होसकता है कि नया द्रव्य क्रियाशील न बनकर बेकार संचित पड़ारहे। यदि ऐसा हुआ तो द्रव्यके प्रसारसे मूल्य-स्तर ऊंचा नहीं उठने पायेगा। इसके अतिरिक्त यदि समाजके साधन बेकार पड़ेहों तो जैसे जैसे नया द्रव्य पूंजीके रूपमें लगाया जायेगा वैसे वैसे उत्पादन कार्यमें भी वृद्धि होने लगेगी। यदि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिके साथ साथ उत्पत्तिके परिमाण में भी वृद्धि होती रहे तो मूल्य-स्तरमें अधिक वृद्धि नहीं होने पायेगी। जब सभी आर्थिक साधन पूर्णरूपसे काममें नियुक्तहों, तभी द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिके फलस्वरूप उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि न होनेके कारण मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होने लगेगी।

इस उदाहरणमें १३९ साधारण सूचक-अंकहैं अर्थात् १९४२ की अपेक्षा १९४४ में मूल्य-स्तरमें ३९ प्रतिशत वृद्धि हुई। साधारण सूचक-अंकोंको प्राप्त करनेमें हम प्रत्येक वस्तुको समान मानलेते हैं। परन्तु वास्तवमें प्रत्यक वस्तुका मान हमारे लिए बराबर नहीं होता और प्रत्येक वस्तुमें बदलाव होनेसे हम समान रूपसे प्रभावित नहीं होते। उदाहरणके लिए यदि दियासलाईका मूल्य ५० प्रतिशत घटजाये और गेहूंका मूल्य ५० प्रतिशत बढ़जाये तो औसत मूल्य-स्तर तो इनदो वस्तुओंका समानही रहेगा परन्तु जितना व्यय हमारा गेहूंमें अधिक होगा उतनी बचत दियासलाईके मूल्यमें कमी होनेसे नहीं होगी। इस दोषको दूर करनेके लिए सप्रभाव सूचक-अंककी गणना कीजाती है। ऊपरके उदाहरणमें कोष्ठक (१) में पांचो वस्तुओं का मान-अंक दिया है। यह मान अंक साधारणत: अनुमानके आधारपर निर्धारित किया जाताहै और कभी कभी प्रत्येक वस्तुपर व्ययके अनुपातसे निर्धारित किया जाता है। सप्रभाव सूचक-अंक प्राप्त करनेके लिए सापेक्ष मूल्य-गुणों (कोष्ठक ६) को प्रत्येक वस्तुके मान-अंकसे गुणा कर गुणनफलोंको जोड़कर मान-अंकोंके योग से भाग दियाजाता है। भजनफल सप्रभाव सूचक-अंकहै। ऊपरके उदाहरणमें यह अंक १३१ है। स्पष्टहै कि सप्रभाव सूचक-अंक साधारण सूचक-अंकसे अधिक उपयोगी होता है।

सूचक-अंकोंका प्रयोग सावधानीसे करना चाहिए। ये भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके लिए बनायेजाते हैं। प्रतिनिधि वस्तु-वर्गके बदलावसे, नवीन वस्तुओंके आजानेसे आय और रुचिमें बदलाव होनेसे, वस्तुओंके महत्वमें बदलाव होजाने से, सूचक-अंक यथार्थताको प्रकट करनेमें पूर्णरूपसे सफल नहीं होपाते। फिरभी आर्थिक विश्लेषणके कार्यमें और तुलनात्मक कार्यमें इनका बहुत महत्व है।

द्रव्य के विनिमय-मूल्य का पारिमाणिक सिद्धान्त

यहतो जानीहुई बातहै कि द्रव्यका विनिमय-मूल्य कभी स्थिर नहीं रहता। यह कभी बढ़जाता है और कभी घटजाता है। ऐसा क्यों होताहै? इस सम्बन्धमें अनेक मत हैं। एक सिद्धान्त जो बहुत लोकप्रिय रहाहै और जिसको आधुनिक रूपमें प्रतिपादन करनेका श्रेय अमेरिकाके अर्थशास्त्री प्रोफ़ेसर फ़िशरको प्राप्तहै, द्रव्यके

अन्तर्गत जो मूल्य-स्तर है उसमें प्रत्येक प्रकारके द्रव्य-विनिमय-सम्बन्धी व्यवसाय निहितहैं जैसाकि पहिले बताया जाचुका है, इस प्रकारके मूल्य-स्तरमें कोई वास्तविकता नहीं होती है।

द्रव्य का संचयन सिद्धान्त

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके कुछ अर्थशास्त्रियोंने द्रव्यके पारिमाणिक सिद्धान्तको दूसरेही रूपमें प्रतिपादित किया है। इनके विचारमें द्रव्यकी मांग उसको अपने पास रखनेके लिए होतीहै। द्रव्यको अपने पास रखनेसे वस्तुओं और सेवाओंपर अपना अधिकार बना रहता है। व्यक्ति और संस्थाएं अनेक प्रयोजनोंके लिए द्रव्य का संचय करतेहैं और इस संचयकी मात्रा आर्थिक अवस्थाके अनुसार घटती और बढ़ती रहती है। यदि द्रव्यके परिमाणमें परिवर्तन न हुआहो तो द्रव्यको अधिक मात्रामें संचय करनेका अभिप्राय हुआ कि उसके व्ययको कमकरना अर्थात् चलनके वेगमें कमी आजाना। इसके प्रतिकूल संचयकी मात्रामें कमी करने से अभिप्राय होताहै व्यय अधिक मात्रामें करना अर्थात् चलनके वेगको बढ़ाना। इसप्रकार हम देखतेहैं कि चलनके वेगमें और संचयकी मात्रामें अनुलोम सम्बन्ध है।

जितना द्रव्य चलनमें रहताहै, वह किसी न किसीके पास रहताही है। किसी समय विशेषमें जो मूल्य-स्तर रहताहै उसके हिसाबसे इस द्रव्यके परिमाण द्वारा वस्तुओं और सेवाओंके कुछ परिमाण पर अधिकार रहता है। सुविधाके लिए हम मान लेतेहैं कि वस्तुओं और सेवाओंका वह परिमाण जिसपर समाजका अधिकार द्रव्यके रूपमें रहताहै वार्षिक उत्पत्तिका एक अंशहै। इस अंशको हम 'अ' कहेंगे और कुल वार्षिक उत्पत्तिको 'उ' कहेंगे। स्पष्टहै कि कुल द्रव्यकी क्रयशक्ति 'अ उ' होगी, द्रव्यकी एक इकाई का विनिमय-मूल्य अउ/द्रव्यका परिमाण होगा और मूल्य-स्तर द्रव्यका परिमाण/अउ होगा। इस सम्बन्धको एक समीकरणके रूपमें प्रकट कियाजाता है जिसको केम्ब्रिज-समीकरण कहते हैं। इस समीकरणके अनेक रूपहैं। एक सुगम रूप निम्नलिखित है:

$$\text{मूल्य-स्तर} = \frac{\text{द्रव्य का परिमाण}}{\text{अ उ}}$$

यदि लोग यह चाहतेहैं कि वे द्रव्यके रूपमें अधिक मात्रामें वस्तुओं और सेवाओं पर अधिकार रखें, तो वे द्रव्यके संचयमें वृद्धि करने लगेंगे जिसके फलस्वरूप व्यय के परिमाणमें कमी आजानेके कारण मूल्य-स्तर नीचे गिरने लगेगा। और यदि वे द्रव्यके रूपमें पहिलेसे कम मात्रामें वस्तुओं और सेवाओंपर अधिकार रखना चाहतेहैं तो वे अपने संचयको व्यय करने लगेंगे जिससे मांगमें वृद्धि होगी और मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होने लगेगी। साधारणत: यह देखागया है कि आर्थिक उत्कर्षके समय द्रव्यके संचयकी मात्रामें कमी करनेकी प्रवृत्ति होतीहै जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगतीहै और आर्थिक अपकर्षके कालमें द्रव्यका संचय बढ़ने लगताहै जिससे मूल्य-स्तर घटने लगता है।

यदि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाये परन्तु समाजके लोग पहिलेके परिमाणमें ही द्रव्यके रूपमें वस्तुओं और सेवाओंपर अपना अधिकार बनाये रखना चाहें तो तात्कालिक मूल्य-स्तरके हिसाबसे उनकेपास अतिरिक्त द्रव्य जमाहो जायेगा जिस को वे व्यय करने लगेंगे जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगेगी। यह वृद्धि तबतक होती रहेगी जबतक मूल्य-स्तर इतना ऊंचा न होजाये जहांपर बढ़ेहुए द्रव्यके परिमाणसे पूर्वोक्त मात्रामें ही वस्तुओं और सेवाओंपर अधिकार हो। द्रव्यके परिमाणमें कमी होजानेसे विपरीत प्रवृत्ति होगी। इसप्रकार द्रव्यके संचयन सिद्धान्तके अनुसारभी द्रव्यके परिमाणमें कमी और वृद्धि होजानेसे मूल्य-स्तर और उसके सम्बन्धित द्रव्यका विनिमय-मूल्य प्रभावित होता है।

इस सिद्धान्तके अनुयायी यह नहीं कहतेहैं कि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाने से उसी अनुपातमें मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होजायेगी क्योंकि यदि समाजमें बेकार आर्थिक साधन पड़ेहों तो उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिभी होसकती है और लोग द्रव्यके रूपमें कितने परिमाणमें वस्तुओं और सेवाओंपर अधिकार रखना चाहतेहैं, इस निश्चयको भी बदल सकते हैं।

द्रव्यके पारिमाणिक सिद्धान्तका जो यह दूसरा रूप द्रव्य-संचयन सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित कियागया है इसमें एक विशेष बात यहहै कि यह हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट करताहै कि लोगोंको द्रव्यकी मांग क्यों होतीहै और इस मांगमें परिवर्तन होनेसे किसप्रकार मूल्य-स्तर प्रभावित होताहै परन्तु इस प्रकारके प्रतिपादनमें उसी प्रकारकी त्रुटियांहैं जो फ़िशरके समीकरणके अन्तर्गत पायीगयी हैं। केम्ब्रिज समी-

करणभी मूल्य-स्तरके सम्बन्धमें उन अवयवोंकी ओर इंगित करताहै जिनपर मूल्य-स्तर निर्भर करता है। परन्तु विविध आर्थिक अवस्थाओंमें इन अवयवोंका सम्बन्ध किसप्रकार बदलताहै और एक दूसरेको प्रभावित करतेहुए द्रव्यके विनिमय मूल्यको निर्धारित करताहै इसका पर्याप्त विश्लेषण इस सिद्धान्तमें भी नहीं पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इस समीकरणवाला मूल्य-स्तरभी उपभोगकी वस्तुओं और सेवाओंके ऊपर द्रव्यके विनिमय-मूल्यको नहीं बताता क्योंकि द्रव्यका संचय अन्य प्रयोजनोंके निमित्तभी होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस परिणामपर पहुंचतेहैं कि मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें क्यों और किसप्रकार परिवर्तन होजाता है। इसका पूरा पूरा पता लगाना एक गहन विषय है। आर्थिक अवस्था बदलती रहती है। लोगोंके निश्चय बदलते रहते हैं। उनकी बचतकी मात्रा और पूंजीके प्रयोगकी मात्रामें भी परिवर्तन होते रहतेहैं अतएव उपभोगकी वस्तुओंकी और उत्पादक वस्तुओंकी मांग और पूर्तिमें भी परिवर्तन होतेरहते है। द्रव्यका परिमाण और ब्याजकी दर जो उसको प्राप्त करनेके लिए देनी पड़तीहै, इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। इन सभी परिवर्तनोंका प्रभाव मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यपर भी पड़ता है। भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें इन आर्थिक अवयवोंमें किस प्रकार परिवर्तन होता है इसका विवेचन हम 'आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष' नामक अध्यायमें करेंगे जिसमें आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारणोंका विश्लेषण किया जायेगा और तत्सम्बन्धी द्रव्यके विनिमय-मूल्य परभी अधिक प्रकाश पड़ेगा।

द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें परिवर्तन का प्रभाव

हम ऊपर लिख आयेहैं कि सभी वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य समान परिमाणमें घटता और बढ़ता नहीं है। जिस कालमें मूल्य-स्तर बढ़ने लगताहै उससमय कुछ ऐसे मूल्य होतेहैं जो शीघ्रतासे और पर्याप्त परिमाणमें बढ़जाते हैं और कुछ ऐसे मूल्य होतेहैं जो कुछ समयावधिके बाद धीरे धीरे बढ़ने लगतेहैं और कुछतो बिल्कुल नहीं बढ़ते। इसीप्रकार जब मूल्य-स्तर गिरने लगताहै तो कुछ वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य तुरन्तही गिरजाता है और कुछ मूल्य धीरे धीरे गिरतेहैं और कुछ

पूर्ववत् रहते हैं। भिन्न भिन्न मूल्योंके इसप्रकार आचरणसे आर्थिक स्थिति तथा भिन्न भिन्न वर्गोंपर भिन्न भिन्न प्रकारका प्रभाव पड़ता है। प्राय: यह देखागया है कि आर्थिक उत्कर्षके कालमें मूल्य-स्तर बढ़ा रहता है। प्रारम्भमें लागत-व्यय जिस में पारिश्रमिक, ब्याज, किराया आदि शामिल है, तुरन्तही नहीं बढ़ते हैं। अतएव उत्पादक वर्गोंकी लाभकी मात्रा बढ़ने लगतीहै, जिससे वे उत्पत्तिके कार्यमें अधिक पूंजी लगानेको उत्साहित होतेहैं और राष्ट्रीय आयमें वृद्धि होने लगती है। परन्तु इस कालमें जिन वर्गोंकी आयमें उस अनुपातमें वृद्धि नहीं हुईहो जिस अनुपातमें मूल्य-स्तरमें वृद्धि हुईहै, उन वर्गोंके व्यक्तियोंकी वास्तविक आय कम होजाती है। उदाहरणके लिए यदि मज़दूरोंके जीवन-स्तरवाली वस्तुओंके मूल्य-स्तरमें ७५ प्रतिशत वृद्धि हुई हो परन्तु उनके पारिश्रमिकमें केवल २५ प्रतिशत वृद्धिहो तो इस वर्गको आर्थिक क्षति होगी। इसके साथ एकबात और ध्यानमें रखने योग्यहै कि जिस कालमें मूल्य-स्तर में वृद्धि होनेके कारण लाभकी मात्रा बढ़ी रहतीहै उस कालमें उत्पादक वर्ग अपने उद्योग धंधोंमें भी वृद्धि करता है। अतएव मज़दूरोंमें बेकारी कम होजाती है, जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धिसे जो क्षति होजाती है उसकी कुछ अंशमें पूर्ति होजाती है। परन्तु जिन लोगोंकी आयमें कुछभी वृद्धि नहीं होतीहै जैसे पेन्शनवाले, इनकी आर्थिक क्षति सबसें अधिक होती है। लाभकी वृद्धिके कारण शेयरोंके मूल्यमें भी वृद्धि होजाती है। अतएव इस वर्गको भी मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कालमें लाभ होता है। इस कालमें साहूकार वर्गको क्षति होतीहै और ऋणी वर्गके ऋणके भारमें कमी होजाती है। इसका कारण यहहै कि द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें ह्रास होनेके कारण मूलधन और ब्याजकी क्रय-शक्ति कम होजाती है। ऋणी लोग अपनी वस्तुओं और सेवाओंको बढ़ेहुए मूल्यपर बेचकर अधिक सुगमतासे उऋण होसकते हैं। उदाहरणके लिए, यदि किसी किसानने १०० रु० ऋण ऐसे कालमें लियाहो, जब गेहूंका मूल्य २ रु० प्रतिमन हो तो उसको ५० मन गेहूं बेचनेपर १०० रु० प्राप्त होते। अब यदि ऋण चुकानेके समय गेहूंका भाव १० रु० प्रतिमन हो, तो वह केवल १० मन गेहूं बेचकर उऋण होसकता है। कहा जाताहै कि द्वितीय महायुद्धके समय और उसके पश्चात्के कालमें वृद्धि होनेके कारण भारतवर्षमें अनेक किसानोंने अपने ऋणका भार बहुत कुछ हलका कर लिया है।

इसके विपरीत जब मूल्य-स्तर गिरने लगताहै तो उत्पादन वर्गकी लाभकी मात्रा

गिरने लगतीहै क्योंकि लागत-व्ययको तुरन्तही कम नहीं किया जासकता। जिन व्यक्तियों अथवा व्यक्तिवर्गों की आय उसी अनुपातमें नहीं घटतीहै जिस अनुपातमें मूल्य-स्तरमें ह्रास होताहै, उनके आर्थिक क्षेममें वृद्धि होगी। परन्तु जब मूल्य-स्तर में अधिक कमी आनेलगती है तो उत्पादक वर्ग अपने उद्योग धन्धोंकी मात्रामें कमी करनेलगते हैं। अनेक आर्थिक साधन बेकार होजाते हैं। अतएव केवल उन्हीं व्यक्तियोंको लाभ होसकता है जो पुराने पारिश्रमिकके हिसाबसे काममें बनेरहें, जैसेकि स्थायी राज-कर्मचारी, कल कारखानोंके इंजीनियर इत्यादि जिन्हें कम मात्रा में उत्पत्ति होनेपर हटाया नहीं जासकता। इस कालमें शेयरोंके मूल्य गिरजानेसे शेयरपतियोंको हानि होतीहै। ऋणका भार बढ़जाता है। साहूकार वर्गको लाभ होता है।

इसप्रकार हम देखतेहैं कि द्रव्यके विनिमय मूल्यमें अधिक मात्रामें कमी अथवा वृद्धि होनेसे भिन्न भिन्न वर्गोंपर भिन्न भिन्न प्रकारका प्रभाव पड़ताहै जिससे वास्तविक आयके वितरणमें भी परिवर्तन होजाता है। इस परिवर्तन का ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिनहै क्योंकि एकही व्यक्ति अनेक वर्गोंका सदस्य रहता है। एक सरकारी कर्मचारी एकही साथ शेयरपति और साहूकारभी होसकता है और भिन्न भिन्न वृत्तियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रभावित होता है। हम केवल इतनाही कहसकते हैं कि पूंजीवादके अन्तर्गत आय और सम्पत्तिके वितरणमें बहुत असमानता होनेके कारण यदि द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें परिवर्तन होनेके कारण इस असमानता में कमी आसके तो इसप्रकार का परिवर्तन समाजके हितके निमित्त होगा। उत्पत्ति के परिमाण और आर्थिक साधनोंकी पूर्ण नियुक्तिके दृष्टिकोणसे कहाजाता है कि मूल्य-स्तरमें वृद्धिकी प्रवृत्ति अधिक वांछनीयहै क्योंकि यदि मूल्य-स्तरमें कमी आगयी तो इससे आर्थिक अपकर्ष और मन्दीका संचार होनेलगेगा जिससे राष्ट्रीय आयमें कमी और बेकारी उत्पन्न होजाती है। यह एक बहुत गहन और पेचीला प्रश्नहै कि समाजके हितके लिए मूल्य-स्तरमें ह्रास, वृद्धि अथवा स्थिरता रहनी चाहिए। हम इतना कहना चाहेंगे कि भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न प्रकारका मूल्य-स्तर वांछनीय रहेगा। इस विषयपर भी हम 'आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष' वाले अध्यायमें कुछ प्रकाश डाल सकेंगे।

२५

बैंक

साख और साख-पत्र

वर्तमान आर्थिक प्रणालीमें बैंकोंको एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। पाश्चात्य देशोंमें तो बैंकोंका और आर्थिक कार्योंका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होगया है कि कुछ अर्थ-शास्त्रियोंके मतानुसार आर्थिक अस्थिरताओंका एक प्रधान कारण बैंकजनित होता है। प्राचीनकाल में उद्योग धन्धे छोटे परिमाणमें किये जातेथे और व्यापारभी सीमित रहता था। अतएव बैंकोंका अधिक कार्य और महत्व नहीं था। परन्तु श्रमविभागमें वृद्धि होनेसे, आर्थिक क्रियाओंके विशिष्टीकरणसे कल-कारखाने, विद्युत्शक्ति और यातायातके त्वरितगामी साधनोंके प्रयोगसे उत्पत्ति और व्यापार की मात्रामें बहुत वृद्धि होगयी है। इन कार्योंको सुगमतासे सम्पादित करवानेके लिए विशिष्ट संस्थाओंकी भी आवश्यकता होने लगी। इसी सम्बन्धमें बैंकों और अनेक प्रकारके साख-पत्रोंका भी विकास होने लगा।

उत्पत्ति और व्यापारके कार्य साखके बिना चल नहीं सकते हैं। किसीभी किसान, दुकानदार और कारखानेके मालिकको लेलीजिए। हम देखतेहैं कि अपने कार्यके निमित्त उनको प्रथम ऋण लेना पड़ताहै और अपनी बनायीहुई वस्तुओंको भी साख के आधारपर (अर्थात् उधार) बेचना पड़ता है। भारतवर्षमें अनेक प्रकारके लोग उधार देनेका कार्य करतेहैं जिनको महाजन, साहूकार, सर्राफ़, चेटी, नानावती और काबुली इत्यादि नामोंसे पुकारा जाताहै। ज़मीन्दार और दुकानदार भी इस कामको करते हैं। आधुनिक कालमें यह कार्य अधिकतर बैंकों द्वारा सम्पादित होने लगा है।

उधार चाहे द्रव्यके रूपमें अथवा वस्तु रूपमें दियाजाय, साखपर ही अवलम्बित रहता है। बिना साखके कोई व्यापारी बिना तत्काल मूल्य लिये अपना सामान

हस्तान्तरित नहीं करेगा और न कोई बैंक अथवा महाजन उधार देगा। साख-सम्बन्धी कार्योंकी वृद्धिके कारण अनेक प्रकारके साख-पत्रोंकी सृष्टि होगयी है। नोट-द्रव्यभी एक प्रकारका साख-पत्रही है। यदि हम नोटोंपर लिखा लेख पढ़ें तो उसमें केन्द्रीय बैंककी ओरसे उसके गवर्नरका हस्ताक्षरयुक्त प्रतिज्ञापत्र रहताहै कि वह मांगनेपर नोट-वाहकको उसपर लिखाहुआ रुपया देगा। आधुनिक कालमें नोट के अविनिमय साध्य होनेके कारण इस प्रतिज्ञाका कोई महत्व नहीं रहगया है परन्तु पूर्वकालमें नोटोंके बदले चांदीके रुपये दियेजाते थे। आजकल भी नोटोंके अन्तर्गत सरकार और केन्द्रीय बैंककी साख है। चेकभी एक महत्वपूर्ण साख-पत्र है। इसके द्वारा बड़ीसे बड़ी रकमभी स्थानान्तरित अथवा हस्तान्तरित की जासकती है। जिस व्यक्ति अथवा संस्थाकी बैंकमें धरोहर जमा है अथवा जिसको बैंकने ऋण देना स्वीकार करलियाहै वह चेक द्वारा बैंकको आदेश देताहै कि बैंक चेकपर लिखीहुई रकमको चेकपर नामांकित व्यक्ति अथवा उसके द्वारा अधिकृत व्यक्तिको देदे। चेक तो द्रव्य नहीं है। इसको जो व्यक्ति द्रव्यके स्थानमें स्वीकार करताहै उसका आधारभी साखही है। कभी कभी बैंक चेकके बदलेमें रुपया देनेसे इन्कार करदेते हैं क्योंकि चेक लिखनेवाले की बैंकके पास पर्याप्त मात्रामें धरोहर नहीं रहती है।

हुंडी एक विशेष प्रकारका साख-पत्रहै जिसका प्रयोग देशी और विदेशी व्यापार में होता है। इसके द्वारा वस्तुओंका विक्रेता उनके मोल लेनेवाले को आदेश देताहै कि वह उनका मूल्य एक निर्धारित काल (साधारणत: तीन महीने) के बाद उसको अथवा उसके बैंकके पास जमा करदे। जब क्रेता इस हुंडीपर अपने हस्ताक्षर करके उसको स्वीकार करलेताहै तब इस स्वीकृत हुंडीको बैंकमें भुनाया जासकता है। आगे चलकर हम बतायेंगे कि बैंक किसप्रकार इन हुंडियोंको भुनाकर अपनीभी आय करतेहैं और व्यापारके लिए द्रव्य प्रदान करते हैं। कभी कभी जब एक बैंक दूसरे बैंकसे ऋण लेताहै अथवा संकटके समय एक बैंक दूसरे बैंककी सहायता करता है तो इस सम्बन्धमें जिस प्रकारके साख-पत्रका प्रयोग होताहै उसको हम बैंककी हुंडी कहसकते हैं।

दीर्घकालके लिए पूंजी प्राप्त करनेके लिएभी अनक प्रकारके साख-पत्रोंका सृजन हुआ है। इनमेंसे मुख्य विविध प्रकारके शयर, बौंड और डिबेंचर कहलाते हैं। बौंड और डिबेंचर ऋण-सूचक साख-पत्र हैं। यदि किसी कम्पनी अथवा सरकार

को दीर्घकाल के लिए ऋणकी आवश्यकता होतीहै तो वह इनको बेचती है। इनको मोल लेनेवालोंको एक निर्धारित दरसे ब्याज दियाजाता है। शेयर स्वामित्व-सूचक साख-पत्र हैं। इनको मोल लेनेवालों को शेयर बेचनेवाली कम्पनियोंमें स्वामित्व का अधिकार रहताहै और इनको लाभांश मिलता है।

बैंकों का विकास और उनके कार्य

आधुनिक बैंकोंके-व्यापारी, स्वर्णकार और साहूकार-ये तीन पूर्वज बताये जाते हैं। प्राचीन कालमें बड़ी बड़ी व्यापारी कोठियां हुंडियोंका व्यापार करतीथीं और विदेशी व्यापारकी व्यवस्था करती थीं। कुछ पाश्चात्य देशोंमें लोग धात्विक द्रव्य स्वर्णकारोंके पास सुरक्षाके लिए जमा करतेथे जिसके आधारपर शनैः शनैः नोट और साख-द्रव्यकी सृष्टि हुई। साहूकार ऋण देनेका कार्य करते हैं। आधुनिक बैंकोंमें यह तीनों कार्य निहित हैं। इन प्रधान कार्योंके अतिरिक्त अन्य कार्योंके द्वाराभी बैंक समाजकी सेवा करते हैं। वैसेतो बैंकोंके अनेक प्रकार हैं। परन्तु इनके दो बड़े वर्गीकरण किये जासकते हैं। एकको तो हम व्यापारिक बैंक कहेंगे जो अल्पकालीन ऋणसे सम्बन्धित हैं। दूसरे वर्गका सम्बन्ध दीर्घकालीन पूंजी इकट्ठा करने और उसको उत्पत्तिके कार्योंके लिए प्रस्तुत करनेसे है। इनमें व्यापारिक बैंकोंसे अधिक प्रगतिशीलता होती है।

प्रायः यह देखाजाता है कि व्यक्तियों और संस्थाओंके पास चालू-व्यय करनेके बाद कुछ द्रव्य बचजाता है जिसकी उनको वर्तमान कालमें आवश्यकता नहीं रहती है। इसके कुछ भागकी उनको निकट भविष्यमें आवश्यकता पड़तीहै और कुछ भागकी दीर्घकाल तक आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसीप्रकार ऐसे व्यक्ति और संस्थाएं होतीहैं जिनको अपने आर्थिक कार्योंके लिए अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋणकी आवश्यकता रहती है। बैंकके द्वारा इन दोनों प्रकारके लोगोंका कार्य सिद्ध होजाता है। छितरी हुई छोटी मोटी सभी प्रकारकी बचत बैंकोंमें धरोहरके रूपमें जमा होती है। सबको चालू हिसाब कहतेहैं जिसका धन कभीभी बिना पूर्व सूचना के चेक द्वारा वापस लिया जासकता है अथवा हस्तान्तरित किया जासकता है। इसपर बैंक साधारणतः ब्याज नहीं देतेहैं फिरभी लोग चालू हिसाबमें धरोहर इस

लिए रखतेहैं कि भुगतान सम्बन्धी अनेक सुविधाओंके साथ साथ रुपया बैंकमें सुरक्षित रहता है। दूसरी प्रकारकी धरोहरको हम दीर्घकालीन धरोहर कह सकतेहैं जो कि एक निर्धारित समयके लिए बैंकके पास छोड़दी जातीहै और उस समयसे पूर्व वापस मांगनेके लिए बैंककी स्वीकृतिकी आवश्यकता होती है। इस प्रकारके धरोहरपर बैंक ब्याज देते हैं। धरोहर रखनेका कार्य बैंकोंका एक प्रधान कार्य है। इस कार्यके सम्पादनसे बैंक बचत करनेमें प्रोत्साहन देतेहैं और बचत करनेवालों को ब्याज देकर उनकी आयमें भी वृद्धि करते हैं। बैंकोंके न होनेपर समाजकी बचतका कुछ हिस्सा अवश्यमेव बेकार घरोंमें पड़ा रहता जो न बचत करनेवालोंकी आय में वृद्धि करता और न समाजके आर्थिक कार्योंमें लगने पाता। बैंकोंके द्वारा बेकार संचित पड़ाहुआ द्रव्य प्रचालित होता है। इस प्रचालनका कार्य बैंक विविध प्रयोजनों के लिए व्यक्तियों अथवा संस्थाओंको ऋण देकर, हुंडियां भुनाकर और सिक्यूरिटियां खरीदकर सम्पादित करते हैं। इससे उत्पादन-कार्य और व्यापारमें वृद्धि होती है। ऋण देकर और अन्य प्रकारसे भी धरोहर-द्रव्यको आर्थिक कार्योंमें लगवाना यह बैंकोंका दूसरा प्रधान कार्य है।

बैंक केवल दूसरोंकी धरोहरको ही प्रचालित नहीं करतेहैं,परन्तु जैसाकि हम साख-द्रव्यके सम्बन्धमें लिख आयेहै वे एक नये प्रकारके द्रव्यका भी सृजन करतेहैं और उसकोभी आर्थिक कार्योंके लिए उपलब्ध करते है। हम देखचुके हैं कि इस साख-द्रव्यके प्रयोगसे धात्विक द्रव्यकी बचत होजाती है और सोने चांदीका एक बड़ा भाग द्रव्यके कार्यसे निकलकर अन्य आर्थिक कार्योंके लिए उपलब्ध होजाता है। प्रगतिशील आर्थिक कार्योंके लिए प्रगतिशील द्रव्य-पद्धतिभी चाहिए। साख-द्रव्यका समावेश करनेसे द्रव्य-पद्धतिमें यह गुण आजाता है। यहांपर हम यहभी लिखदेना चाहतेहैं कि बैंकोंकी इस साख-द्रव्य सृजन करनेकी शक्तिका बहुधा दुरुपयोगभी होजाता है। कुछ अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार आर्थिक अस्थिरताओंका एक प्रधान कारण साख-द्रव्यकी अस्थिरतासे सम्बन्धित किया जासकता है। अतएव इस साख-द्रव्यमें प्रबन्ध और नियन्त्रणकी आवश्यकता रहती है। यह कर्तव्य केन्द्रीय बैंकका है और उस प्रकरणमें हम उन उपायों और उपकरणोंकी विवेचना करेंगे जिनका प्रयोग आधुनिक केन्द्रीय बैंक करते हैं।

बैंकोंके द्वारा द्रव्यको एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें भेजा जासकता है। बैंक अपने

आसामियोंकी विविध प्रकारसे सेवा और सहायताभी करते हैं। उनके चेक और लाभांशका धन वसूलकर उनके नामपर जमा करते हैं। उनके आदेशानुसार उनकी बीमा-किस्त अदा करते हैं। उनके शेयर, बौंड इत्यादि प्रकारके साख-पत्रोंको खरीदने और बेचनेका प्रबन्ध करते हैं। उनके आभूषण, जवाहिरात और वसीयत-नामा इत्यादि लेख्य-पत्रोंको सुरक्षित रखनेका प्रबन्ध करते हैं। अपने साख-पत्र द्वारा विदेश-यात्रामें दूसरे देशोंके द्रव्यको प्राप्त करनेमें सहायता करते हैं। अन्त-र्राष्ट्रीय व्यापारमें विदेशी हुंडियोंको अपने आसामियोंकी ओरसे स्वीकार करके प्रोत्साहन देतेहैं। इन कार्योंके लिए बैंकोंको कमीशन मिलता है।

बैंकों की लेनी-देनी

बैंक समय समयपर अपनी आर्थिक स्थितिका विवरण एक लेख-पत्रके रूपमें देते हैं जिसके एक भागमें उसकी देनदारीकी भिन्न भिन्न मदें दीजाती हैं और दूसरे

देनी की मदें		लेनी की मदें और सम्पत्ति	
प्राप्त हिस्सा पूंजी	२,००,००० रु.	बैंकमें स्थित और केन्द्रीय बैंकमें स्थित धरोहर	२,४०,००० रु.
रक्षा कोष	२,००,००० रु.		
धरोहर	२०,००,००० रु.	अन्य बैंकोंमें जमा तथा वसूल न हुए चेक	१०,००० रु.
स्वीकृतियां	४०,००० रु.		
अन्य मदें	६०,००० रु.	तुरन्त-देय और अल्प-कालीन ऋण	१,००,००० रु.
कुल	२५,००,००० रु.	भुनाई हुंडियां	२,००,००० रु.
		लगी पूंजी	४,५०,००० रु.
		उधार	१२,००,००० रु.
		स्वीकृतियां	६०,००० रु.
		सम्पत्ति (मकान, फ़र्नीचर इत्यादि)	२,४०,००० रु.
		कुल	२५,००,००० रु.

भागमें बैंककी सम्पत्ति और पावनेकी मदें दीजाती हैं। इस लेनी-देनीके लेखेसे बैंककी आर्थिक-स्थिति और उसके कार्यका भी बोध होता है। पिछले पृष्ठपर दीगयी तालिकामें लेनी और देनीकी मुख्य मदें दीगयी हैं और उनके अपने कल्पित आंकड़ेभी दिये गये हैं:

अब हम इन मदोंका संक्षिप्त विवरण और उनके महत्वकी विवेचना करेंगे। प्राप्त-हिस्सा पूंजी बैंककी वह पूंजीहै जो उसके हिस्सेदारोंने शेयरके मूल्यके रूपमें दी है। यह देनदारी बैंकके अपनेही हिस्सेदारोंके सम्बन्धमें है। परन्तु यह तुरन्त देय देनदारी नहीं है। बैंकको खोलनेके लिए पर्याप्त पूंजीकी आवश्यकता होती है। इससे बैंकपर विश्वास रहता है। भारतवर्षमें एक निर्धारित पूंजी इकट्ठा किए बिना बैंक अपना कार्य आरम्भ नहीं करसकते हैं। रक्षा-कोष बैंकके लाभका वह संचित भागहै जो उसके हिस्सेदारोंको न देकर एक कोषके रूपमें बैंकमें जमा रहता है। यह देनदारीभी बैंककी अपने हिस्सेदारोंके प्रति है। संकटके समय और आसामियोंमें विश्वास बनाये रखनेके लिए इस कोषसे सहायता मिलती है। धरोहर देनदारीकी सबसे बड़ी मद होतीहै इसमें राज-प्रामाणित द्रव्यमें रखी धरोहर तथा बैंकों द्वारा सृजित साख-द्रव्य भी शामिल है। यह देनदारी बैंककी अपने धरोहर वालोंके प्रति है। चालू धरोहरको मांगनेपर तत्काल राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें देना पड़ता है। अपनी इस ऋण-शोधन क्षमताको बनाये रखनेके लिए बैंकको पर्याप्त मात्रामें नकदी रखनी पड़ती है। हुंडियोंको अपने आसामियोंके निमित्त स्वीकार करनेके कारण बैंक हुंडियोंके मालिकका देनदार बनजाता है परन्तु अपने आसामियों से वह उतनीही रकमका लेनदार भी रहता है। अतएव यह मद लेनीकी मदोंके साथभी दिखायी गयी है। अन्य छोटी मोटी देनदारीकी मदें भी होतीहैं जो कि बैंकको अपने व्यवसायके सम्बन्धमें स्वीकार करनी पड़ती हैं।

बैंककी सम्पत्ति और लेनीकी मदोंमें नकदीको प्रमुख स्थान दिया जाता है। इस का लेखा राज-प्रामाणित द्रव्य-मुद्रा और नोटके रूपमें बैंकमें ही रहता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकमें भी किसी बैंककी जो धरोहर है उसकोभी बैंक नकदी ही समझताहै क्योंकि वह इसी रूपमें मांगी जासकती है। अन्य बैंकोंमें जमा धरोहर और वह चेक जो अन्य बैंकोंसे वसूल करनेके निमित्त पड़ेहुए हैं, नकदीके ही रूपमें हैं। नकदी बैंककी सबसे अधिक द्रव्य-सम्पत्ति है। इसके परिमाणपर बैंककी ऋण-

शोधन क्षमता प्रधान रूपमें अवलम्बित रहती है। अतएव बैंकोंको अपनी धरोहरें की देनदारीका एकभाग इस रूपमें रखना पड़ता है। इसका परिमाण बैंक अपने अनुभवके आधारपर जानसकते हैं। बैंक इस मदको अधिक परिमाणमें नहीं रखना चाहतेहैं क्योंकि इससे उनको कोई आय नहीं होती है। अतएव कुछ अदूरदर्शी बैंक नकदी इतने कम परिमाणमें रखतेहैं कि वे अपने धरोहर रखनेवालों को राज-प्रामाणित द्रव्य देनेमें असमर्थ होजातेहैं जिसके फलस्वरूप उनको अपना व्यापार बन्द करनेको बाध्य होना पड़ता है। इस परिस्थितिसे बचनेके लिए अनेक देशोंमें राज-नियम द्वारा इस मदका न्यूनतम परिमाण निर्धारित करदिया जाता है। यदि किसी बैंकमें नकदीका अनुपात कम होनेलगे तो लोग उसको संदिग्ध दृष्टिसे देखने लगते हैं।

बैंक कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों और संस्थाओंको नाम-मात्र ब्याजपर इस शर्तपर ऋण देतेहैं कि वह मांगनेपर तुरन्तही अथवा कुछ दिनोंकी नोटिस मिलनेपर (एक दिनसे सात दिनतक) इस रकमको लौटा देंगे। इस प्रकारका ऋण प्रधानत: स्टाक-एक्स्चेन्जसे सम्बन्धित लेनदेनके कार्यमें लिया जाता है। इस प्रकारके ऋणमें बहुत द्रवता रहतीहै अर्थात् आवश्यकता पड़नेपर थोड़े समयके अन्दर बैंकको यह द्रव्य वापस मिल सकता है। बैंक, हुंडी भुनानेका भी काम करते हैं। साधारणत: इन हुंडियोंकी अवधि तीन महीनेकी होती है। बैंक हुंडीकी रकमका वर्तमान मूल्य हुंडीके स्वामीको देतेहैं और अवधि पूरी होनेपर पूरा मूल्य वसूल करलेते हैं। इन दो मूल्योंका जो अन्तर होताहै वही बैंककी आय है। इन हुंडियोंमें अपनी सम्पत्ति रखनेसे बैंकको एक यह सुविधा होतीहै कि आवश्यकता पड़नेपर बैंक इन भुनायी हुई हुंडियोंको केन्द्रीय बैंकके पास दुबारा भुनाकर अपनी देनदारी पूरी करसकता है। लगी पूंजीका आशय बैंक द्वारा मोल लीगयी सरकारी सिक्यूरिटियां, बौंड, डिबेंचर और कभी कभी औद्योगिक सिक्यूरिटियां भी हैं। इन सिक्यूरिटियोंसे बैंक को पूर्वलिखित मदोंसे अधिक आय होतीहै और आवश्यकता पड़नेपर इनको बेच कर अथवा केन्द्रीय बैंकके पास इनको बन्धकके रूपमें रखकर दव्य प्राप्त होसकता है। परन्तु इस मदमें एक त्रुटि यहहै कि इन सिक्यूरिटियोंका मूल्य बदलता रहता है। अतएव कभी कभी मूल्य घटजाने से हानि होनेकी सम्भावनाभी रहती है। अधिकतर बैंककी लेनीकी मदका सबसे बड़ा परिमाण उधारकी मदका होता है।

अपने आसामियोंको ऋण देकर बैंक उनसे ब्याज वसूल करते हैं। इस मदसे सबसे अधिक आय होती है। परन्तु इस मदमें सबसे कम द्रवता और सबसे अधिक खतरा भी रहता है। इसके अतिरिक्त जितने कालके लिए ऋण दियागया हो उससे पहिले आवश्यकता पड़नेपर भी बैंकको धन वापस नहीं मिलसकता है। अवधि पूरी होने परभी प्राय: ऋणी अवधि बढ़ानेकी प्रार्थना करते हैं। कुछ ऋणी ऋण-शोधनमें असमर्थ होजाते हैं। साधारणत: बैंक इस प्रकारके खतरेसे अपनी रक्षा करनेके लिए ऋणी लोगोंसे सोना, चांदी, आभूषण और सिक्यूरिटी इत्यादि बन्धकके रूपमें रखवालेते हैं। व्यापारिक बैंक प्राय: थोड़ी अवधि (एक वर्षसे कम) के लिए ही ऋण देते हैं।

बैंकके लेनी-देनीके लेखेके दोनों भागोंका योग बराबर होताहै क्योंकि इसका हिसाबही इस प्रकारसे रखाजाता है। परन्तु एक दूरदर्शी बैंकको अपनी सम्पत्ति और लेनीके मदोंके अनुपातपर दृष्टि रखनी पड़ती है। कुछ मदोंसे आय नहीं होती है परन्तु उनको रखना बहुत आवश्यक है। कुछ मदोंसे आय तो अधिक होतीहै परन्तु उनमें जोखिम अधिक रहता है। बैंकके प्रबन्धकको समय समयपर सभी मदोंको इस अनुपातसे बदलते रहना पड़ताहै कि उनमें पर्याप्त मात्रामें द्रवता अर्थात् द्रव्य-विनिमय क्षमता रहे जिससे वह अपने देनदारोंकी मांगोंको पूरी करनेमें समर्थ रहे और साथही साथ उन मदोंसे इतनी आयहो कि बैंक सम्बन्धी व्ययको चुकाकर हिस्सेदारोंके लिए पर्याप्त मात्रामें लाभभी बचा रहे।

केन्द्रीय बैंक

आधुनिक कालमें प्राय: सभी देशोंमें द्रव्य और बैंक-पद्धतिका प्रबन्ध और नियन्त्रण करने और इनको आर्थिक स्थितिके अनुकूल बनाये रखनेकी चेष्टा करनेका कार्य केन्द्रीय बैंकको सौंपागया है। प्रथम महायुद्धके पश्चात् इस प्रकारके बैंकोंकी स्थापना शीघ्रतासे होनेलगी। प्रारम्भमें अनेक देशोंमें हिस्सेदारों वाले केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हुई। परन्तु अब इन बैंकोंको राष्ट्रीय बैंकके रूपमें रखनेकी प्रवृत्ति होरही है। भारतके केन्द्रीय बैंक, रिज़र्व-बैंक का भी राष्ट्रीयकरण होगया है। वैसे भी जब केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारोंके स्वामित्वमें थे उनके प्रबन्ध करनेमें राज्यका हाथ

सदैव रहता था। उसकी नीति राज्यकी नीतिके अनुसारही बनायी जातीथी और व्यवहारमें लायीजाती थी। राज्यके आर्थिक कार्योंमें अधिक भाग लेनेके कारण और आर्थिक योजनाके महत्वके कारणभी केन्द्रीय बैंकको राज्यका ही एक विभाग बनाना आवश्यक होगया।

केन्द्रीय बैंकसे यह आशा कीजाती है कि वह द्रव्य और बैंकोंके सम्बन्धमें इसप्रकार की नीतिको व्यवहारमें लाये जिससे द्रव्यका परिमाण आर्थिक अवस्थाके उपयुक्त हो, मूल्य-स्तरमें अधिक अस्थिरता न आने पावे और जहांतक होसके, विदेशी विनिमय की दरमें भी स्थिरता बनी रहे। इस कार्यके सम्पादनके हेतु केन्द्रीय बैंकोंको नोटोंके छापने का एकाधिकार रहता है। आधुनिक कालमें राज-प्रामाणित द्रव्य अधिकांश मात्रामें नोटके रूपमें ही रहता है। अतएव नोटको चलनमें लाने पर अधिकार होनेसे और द्रव्य-पद्धतिके प्रबन्ध करनेका भार अपने ऊपर आजाने से केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व बहुत बढ़गया है। चूंकि वर्तमान द्रव्य-पद्धतिमें साख द्रव्यका प्रभुत्व बढ़ता जारहा है अतएव उसपर नियन्त्रण करनेका कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्धमें केन्द्रीय बैंक अनेक साधनों और उपकरणोंका प्रयोग करता है।

यदि बैंक आवश्यकतासे अधिक मात्रामें साख-द्रव्यका सृजन कररहे हों तो केन्द्रीय बैंक उनकी गतिमें रोकथाम करनेकी चेष्टा करेगा और यदि आर्थिक कार्यों के लिए द्रव्य अपर्याप्तहै तो केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंको अधिक मात्रामें साख-द्रव्य सृजन करनेके लिए उत्साहित करेगा। इस कार्यके सम्पादनके लिए केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित साधनोंका प्रयोग करते हैं:

(१) केन्द्रीय बैंकके ब्याजकी दरमें परिवर्तन। हम जानतेहैं कि जब बैंक अपनी ब्याजकी दर कम कर देते हैं तो उधारका परिमाण बढ़जानेसे साख-द्रव्यका परिमाण भी चलनमें बढ़जाता है और जब बैंक ब्याजकी दर बढ़ा देतेहैं तो साधारणत: उधार का परिमाण कम होजानेसे साख-द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजाती है। अब यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंकी ब्याजकी दरको पर्याप्त मात्रामें प्रभावित करसके तो वह साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रण करनेमें भी सफल हो सकेगा। केन्द्रीय बैंककी अपनी निजकी भी ब्याजकी दर होतीहै जिसके हिसाबसे वह अन्य बैंकोंकी हुंडियों को भुनाताहै अथवा उनको उधार देताहै। जिन देशोंमें केन्द्रीय-बैंकप्रणाली विकसित

होचुकी है वहां अन्य बैंकोंकी ब्याज़की दर और केन्द्रीय बैंककी ब्याजकी दर साधारणत: एकही दिशामें बदलती है। अतएव यदि केन्द्रीय बैंक साख-द्रव्यकी मात्राको कम करना चाहताहै तो वह अपनी ब्याजकी दरको बढ़ादेता है और यह आशा करता है कि अन्य बैंकभी अपनी ब्याजकी दर बढ़ा देंगे और इस प्रकार उधारकी मात्रा (जिस पर अधिकतर साख-द्रव्यका परिमाण निर्भर रहता है) घट जायगी। इसके प्रतिकूल यदि केन्द्रीय बैंक साख द्रव्यके सृजनको प्रोत्साहित करना चाहताहै तो वह अपनी ब्याजकी दरको घटादेता है और आशा करताहै कि अन्य बैंकभी उसका अनुकरण करेंगे और इसके फलस्वरूप उधारकी मांग बढ़ जायगी और अधिक साख-द्रव्य चलनमें आजायगा। केन्द्रीय बैंककी ये आशायें सभी अवस्थाओंमें पूर्ण नही होती हैं। यदि अन्य बैंकोंके पास पर्याप्त नकदीहै और उनको केन्द्रीय बैंककी सहायता की आवश्यकता नहींहै तो वे केन्द्रीय बैंकके ब्याजकी दर बढ़जाने परभी अपने ब्याज की दर पूर्ववत् रख सकतेहैं अथवा उस अनुपातपर न बढ़ावें जिस अनुपातपर केन्द्रीय बैंक बढ़वाना चाहता है। इसीप्रकार जब केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दर कम करदेते हैं तो यह आवश्यक नहीहैं कि अन्य बैंकभी पर्याप्त मात्रामें अपनी ब्याजकी दर कम करदें। केन्द्रीय बैंकका कार्य लाभ-उपार्जनके लिए नहीं होता है अतएव वह ब्याजकी दरको बहुत कम करसकता है। परन्तु अन्य बैंकतो लाभकी आशासे बैंकके कार्यको करते हैं। वे अपने ब्याजकी दर इतनी कम नहीं करसकते कि उनको बैंकके व्ययको पूरा करके हिस्सेदारोंको उपयुक्त लाभ न प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त यदि अन्य बैंक केन्द्रीय बैंककी इच्छानुसार ब्याजकी दरको कमभी करदें तो यह आवश्यक नहींहै कि उधारकी मात्रामें वृद्धि हो ही जायगी। आर्थिक मन्दीके अवसर पर जबकि उत्पादकोंमें नैराश्य छाया रहताहै ब्याजकी दर कम होनेसे भी पूंजी लगानेकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अतएव व्यापारी लोग उधार लेतेही नहीं अथवा पर्याप्त परिमाणमें नहीं लेते हैं। इसी प्रकार आर्थिक उत्कर्षके अवसरपर जब मूल्य-स्तर और लाभ-स्तरमें बढ़नेकी प्रवृत्ति रहतीहै उस अवसरपर ब्याजकी दरको बढ़ा देनेपर भी उधारकी मांगमें कमी नहीं आती है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दरको घटाने और बढ़ानेसे प्रत्येक अवस्थामें साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रित करनेमें सफल नहीं होता है।

(२) साधारणत: केन्द्रीय बैंक अपने बैंक सम्बन्धी कार्यों द्वारा अन्य बैंकोंके साथ

प्रतिस्पर्धा नहीं करता है। परन्तु यदि उनको किसी समस्याका सामना करनाहो तो वह खुले तौरपर इन कार्योंमें भाग लेसकता है। हम इस साधनको 'खुले हाटकी क्रियाएं' कहेंगे। इसका आशय यहहै कि किसी असाधारण द्रव्य-सम्बन्धी अवस्था का प्रतिकार करनेके लिए केन्द्रीय बैंक बिना किसी प्रकारकी रुकावटके सिक्यूरिटियों को स्वयं निर्धारित मूल्यपर मोल लेसकता और बेच सकताहै और इस क्रिया द्वारा अन्य बैंकोंको अपने साख-द्रव्यमें वृद्धि अथवा कमी करनेको बाध्य करनेकी चेष्टा करता है। इस खुले हाटकी क्रियाके मूलमें प्रधान बात यहहै कि व्यापारिक बैंक नकदीके आधारपर साख द्रव्यका सृजन करते हैं। यदि उनके पास नकदीको मात्रामें वृद्धि होजाय तो वे साख द्रव्यमें भी वृद्धि करसकेंगे और यदि नकदीकी मात्रामें कमी आजाय तो उनको साख द्रव्यके परिमाणको घटाना पड़ेगा केन्द्रीय बैंक खुले हाटकी क्रियाके द्वारा व्यापारिक बैंकोंके नकदीके कोषमें आवश्यकतानुसार वृद्धि अथवा कमी करनेकी चेष्टा करताहै और आशा करताहै कि नकदीकी वृद्धि होनेसे साख द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। इस स्थितिको लानेके लिए खुले हाटकी क्रियाके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा सिक्यूरिटियोंको पर्याप्त मात्रामें मोल लिया अथवा बेचा जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक नकदीकी मात्रामें वृद्धि करना चाहताहै तो वह सिक्यूरिटियोंको मोल लेने लगता है। यदि व्यापारिक बैंक सिक्यूरिटियां बेचें तो तुरन्तही उनके नकदीके परिमाणमें वृद्धि होजाती है। यदि केन्द्रीय बैंक राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें इन सिक्यूरिटियोंके रूपमें इन सिक्यूरिटियोंका मूल्य चुकायें तो इस परिमाणकी नकदी व्यापारिक बैंकोंके पास आजायगी। अथवा यदि केन्द्रीय बैंक अपने हिसाबमें इन बैंकोंकी धरोहरमें वृद्धि करदे तबभी इस धरोहरको व्यापारिक बैंक नकदीही समझते हैं। यदि अन्य बैंक अथवा संस्थायें केन्द्रीय बैंकको सिक्यूरिटियां बेचतीहैं तबभी प्राप्त मूल्यका कुछ न कुछ हिस्सा व्यापारिक बैंकोंमें अवश्य जमा होजाता है जिससे उनके नकदीके कोषमें वृद्धि होती है। इसके प्रतिकूल सिक्यूरिटियोंके बेचनेसे केन्द्रीय बैंक व्यापारिक-बैंकोंकी नकदी अपने पास खींचने लगता है। यदि केन्द्रीय बैंक पर्याप्त मात्रामें आकर्षक मूल्यपर सिक्यूरिटियां बेचे अथवा मोलल तो वह बैंकोंके नकदीके कोषको पर्याप्त मात्रामें प्रभावित करसकता है। परन्तु ऐसाभी होसकताहै कि केन्द्रीय बैंकके पास पर्याप्त मात्रामें बेचनेके हेतु सिक्यूरिटियां न हों। इसके अतिरिक्त यदि केन्द्रीय बैंक एक

ओर सिक्यूरिटियां बेचकर नकदीके कोषमें कमी लानेकी चेष्टा करे परन्तु दूसरी ओरसे व्यापारिक बैंक इन सिक्यूरिटियोंके आधारपर केन्द्रीय बैंकसे नकदी प्राप्त करसकें तो खुले व्यापारकी क्रिया सफल नहीं होगी। अतएव सिक्यूरिटियोंको बेचनेके साथ साथ केन्द्रीय बैंकको अपनी ब्याजकी दरमें भी वृद्धि करनी होगी। इसके अतिरिक्त यहभी अवश्यम्भावी नहींहै कि नकदीके कोषमें वृद्धि होनेके फलस्वरूप साख-द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होही जायगी। आर्थिक मन्दीके अवसरपर बैंकोंमें बहुत नकदीका कोष बेकार संचित रहताहै और केन्द्रीय बैंकभी इसमें वृद्धि करनेको प्रस्तुत रहतेहैं फिरभी चलनमें साख-द्रव्यके परिमाणमें विशेष वृद्धि नहीं होती है। इसका कारण यहहै कि उधार लेनेवालों का पक्ष लाभ न होनेके कारण नये साख-द्रव्यको उत्पत्तिके कार्योंमें लगानेको प्रवृत्त नहीं रहता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि खुले हाटकी क्रियाभी प्रत्येक अवस्थामें साख-द्रव्यके प्रबन्धमें पूर्णरूपसे सफल नहीं होती है।

(३) संयुक्त राज्य अमेरिकामें केन्द्रीय बैंकको यह अधिकार मिला हुआहै कि वह अपने सदस्य व्यापारिक बैंकोंको बाध्य कर सकताहै कि वे अपनी देनदारीका एक न्यूनतम निर्धारित भाग नकदीके रूपमें रखें। इस अनुपातमें केन्द्रीय बैंक परिवर्तन भी करसकते हैं और इस परिवर्तनके फलस्वरूप साख-द्रव्यके सृजनको प्रोत्साहित अथवा संकुचितभी करसकते हैं। उदाहरणके लिए व्यापारिक बैंकोंको अपनी देनदारीका २० प्रतिशत नकदीके रूपमें रखना पड़ताहै तो वे किसीभी नकदीकी मात्रा के आधारपर अधिकसे अधिक पांचगुने साख-द्रव्यका सृजन करसकते हैं। परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक इस अनुपातको घटाकर दस प्रतिशत करदे तो उसी नकदीकी मात्राके आधारपर दस-गुने साख-द्रव्यका सृजन होसकता है। इसके प्रतिकूल यदि इस अनुपातमें वृद्धि करदी जाय तो बैंकोंके साख-द्रव्यकी मात्रामें भी कमी करनी पड़ेगी। परन्तु यदि बैंकोंके पास अतिरिक्त नकदी प्रचुर मात्रामें है तो इस अनुपात में वृद्धि होनेपर भी बैंक साख-द्रव्यके परिमाणको कम करनेको बाध्य नहीं होंगे। अनेक अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार अन्य देशोंके केन्द्रीय बैंकोंको भी अन्य साधनोंके साथ साथ इस साधनका प्रयोगभी साखके नियन्त्रणके सम्बन्धमें करना चाहिए।

इन तीन साधनोंके अतिरिक्त यहभी कहा जाताहै कि केन्द्रीय बैंकको अन्य बैंकों पर अपने ऊंचे और सम्मानित पद का भौतिक प्रभावभी डालना चाहिए। यदि

देशमें द्रव्य-सम्बन्धी दुरावस्था उत्पन्न होनेकी आशंकाहो तो केन्द्रीय बैंकको चाहिए कि अन्य बैंकोंका ध्यान इस ओर आकर्षित करे और उनको उचित सलाह दे। केन्द्रीय बैंक कहांतक इस कार्यमें सफलहो सकेगा यह केन्द्रीय बैंकके सामर्थ्य, प्रभाव और अन्य बैंकोंके साथ उसका किसप्रकार सम्बन्ध है, इन बातोंपर निर्भर रहेगा।

केन्द्रीय बैंक राज्य-सम्बन्धी आर्थिक कार्यभी करते हैं। आधुनिक कालमें राज्य, कर द्वारा देशकी आयका एक बड़ा हिस्सा प्राप्त करता है और इस आयको व्यय करता है। ऋण लेकरभी राज्य देशके द्रव्य सम्बन्धी कार्योंमें हस्तक्षेप करता है। अतएव यह आवश्यक होजाताहै कि राज्यके इस प्रकारके द्रव्य-सम्बन्धी कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा सम्पादित हों। केन्द्रीय बैंक राज्यकी आयको अपनेपास धरोहर के रूपमें रखता है। राज्यके ऋणका प्रबन्धभी केन्द्रीय बैंक करते हैं। अन्य देशोंसे जो राज्यका द्रव्य-सम्बन्धी लेनदेन होताहै वहभी केन्द्रीय बैंक द्वाराही किया जाता है।

केन्द्रीय बैंकको बैंकोंका बैंकभी कहते हैं। इस रूपमें केन्द्रीय बैंक अपने पास अन्य बैंकोंकी धरोहर रखते हैं। किसी किसी देशमें बैंकोंको एक न्यूनतम धरोहर केन्द्रीय बैंकके पास रखनी पड़ती है। भारतमें शेडयूल्ड बैंकों (जिनकी पूंजी और संचित कोष ५ लाखसे अधिक हो) को अपनी तत्काल देय धरोहरका ५ प्रतिशत और दीर्घकालिक धरोहरका २ प्रतिशत रिज़र्व बैंक (भारत का केन्द्रीय बैंक) के पास बनाये रखना पड़ता है। अमेरिकाके संयुक्त राज्यमें भी इसी प्रकारकी प्रथा है। अन्य देशोंमें अपनी सुविधाके लिए बैंक केन्द्रीय बैंकमें धरोहर रखते हैं। इस प्रकार बैंकोंकी धरोहरका एकत्रीकरण और केन्द्रीयकरण होजाने से केन्द्रीय बैंक किसी बैंककी संकटकी अवस्था पर आर्थिक सहायता करनेमें समर्थ होता है।

यदि बैंकोंपर संकट आताहै तो वे अन्ततोगत्त्वा केन्द्रीय बैंककी शरण लेते हैं। इसलिए केन्द्रीय बैंकको अन्तिम ऋणदाता कहाजाता है। केन्द्रीय बैंकको अधिकार रहताहै कि वह कुछ परिमाण तक सिक्यूरिटियोंके आधारपर नोट छाप सकता है। अतएव जब बैंकोंके ऊपर संकट आताहै तो केन्द्रीय बैंक उनकी भुनायीहुई हुंडियों को फिरसे भुनाकर अथवा उनकी सिक्यूरिटियोंको बन्धकके रूपमें अपनेपास रखकर उनके आधारपर बैंकोंको ऋण देकर उनकी सहायता करता है। भारतके रिज़र्व बैंकका एक यहभी कर्तव्यहै कि वह समय समयपर बैंकोंका निरीक्षण करता रहे,

उनको उचित सलाह दे और इसप्रकार संकट उत्पन्न होनेके कारणोंको प्रभावरहित करता रहे।

केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंके लिए क्लियरिंग हाउसका कार्यभी करते हैं। क्लियरिंग हाउस एक ऐसी संस्था होतीहै जहांपर बैंकोंको आपसी लेनी-देनीका भुगतान होता है। उदाहरणके लिए यदि लखनऊ शहरमें २० बैंकहैं तो प्रत्येक दिन प्रत्येक बैंकके पास अन्य बैंकपर लिखेहुए चेक जमा होंगे जिन्हें वसूल करनेके लिए उनको प्रबन्ध करना पड़ेगा। क्लियरिंग हाउससे यह कार्य बड़ी सुगमतासे होजाता है। सभी बैंक क्लियरिंग हाउसमें अपना हिसाब रखते हैं। मानलीजिए लखनऊमें इम्पीरियल बैंक क्लियरिंग हाउसका कार्य करता है। प्रत्येक बैंकका एक प्रतिनिधि अन्य बैंकों पर लिखेहुए प्राप्तहुए चेकोंको लेकर इम्पीरियल बैंक पहुंचेगा। मान लीजिए सेन्ट्रल बैंकके पास इलाहाबाद बैंकपर १००० रुपयेके चेकहैं और इलाहाबादके पास सेन्ट्रल बैंकपर ८०० रुपयेके चेक हैं। अब ८०० रुपयेका तो आपसमें ही हिसाब होजाता है। शेष २०० रुपयेका चेक इलाहाबाद बैंक सेन्ट्रल बैंकको क्लियरिंग हाउसपर देदेगा और क्लियरिंग हाउसके खातेमें इलाहाबाद बैंककी धरोहरमें २०० रुपये कम करदिया जायगा और सेन्ट्रल बैंकके हिसाबमें २०० रुपये जोड़ दिया जायगा। इसीप्रकार अन्य बैंकोंकी भी आपसकी लेनी-देनीका हिसाब होजाता है। दूरके चेकोंके सम्बन्धमें केन्द्रीय बैंक क्लियरिंग हाउसका काम सुविधापूर्वक कर सकताहै क्योंकि इसके पास अन्य बैंकोंकी धरोहर रहती है।

अन्य बैंकोंकी तरह केन्द्रीय बैंकभी अनेक प्रकारके बैंक सम्बन्धी कार्य करता है। परन्तु विशेष उत्तरदायित्व और कर्तव्य होनेके कारण इसके कार्योंमें कुछ प्रतिबन्ध लगायेजाते है। यह किसी उद्योग धन्धे अथवा वाणिज्य व्यवसायमें भाग नहीं ले सकते हैं। बिना पूर्व स्वीकृत ज़मानतके ऋण नहीं देसकते हैं। सब प्रकारकी हुंडियों को नहीं भुना सकते हैं। धरोहर पर ब्याज नहीं देते हैं। इन प्रतिबन्धोंका अभिप्राय यहहै कि केन्द्रीय बैंकको राष्ट्रीय बैंक होनेके कारण सदैव इस योग्य बना रहना पड़ता है कि वह न केवल अपनी ऋण शोधन-क्षमता बनाये रखें वरन् जैसाकि ऊपर लिखा जाचुका है, संकटके अवसरपर अन्य बैंकोंकी सहायता करें। अतएव केन्द्रीय बैंक जोखिमके कार्योंमें अपना रुपया नहीं फंसा सकता है।

केन्द्रीय बैंकोंसे आर्थिक व्यवस्थाको अस्थिरतासे बचानेमें बहुत कुछ आशाकी

जाती है। जहांतक द्रव्य-जनित अस्थिरता का सम्बन्धहै केन्द्रीय बैंक इस कार्यमें सहायता करसकता है परन्तु भविष्यमें किस प्रकारकी आर्थिक स्थिति होगी इसका पूर्वज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन कार्य है। भिन्न भिन्न आर्थिक अवयवोंके उपकरणों के आधारपर अनुमान लगाया जाताहै और तब द्रव्य-नीति को आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेकी चेष्टा कीजाती है। केन्द्रीय बैंक इस सम्बन्धमें अब विशेष रूपसे गवेषणा कररहे हैं और अपने साधनों और उपकरणोंको भी उपयुक्त बनानेकी चेष्टा कररहे हैं। अभीतक इस कार्यमें अधिक सफलता प्राप्त नहीं होसकी है परन्तु आशा कीजाती है कि भविष्यमें केन्द्रीय बैंक इस कार्यमें उत्तरोत्तर सफल होंगे।

२६

विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय की आवश्यकता

आधुनिक कालमें कोईभी देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों और परिस्थितियोंसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहसकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके आयात और निर्यातके फलस्वरूप प्रत्येक देशमें अन्य देशोंके साथ लेनी देनीसे सम्बन्धित प्रश्न तथा संस्थाएं उत्पन्न होजाती हैं। यदि सभी देशोंमें एकही प्रकारकी द्रव्य-पद्धति होती और एकही प्रकारका द्रव्य होतातो इस प्रकारकी लेनी देनीकी अनेक संस्थाओंका समाधान सुगमतासे होसकता। परन्तु वास्तवमें ऐसी स्थिति नहीं पायीजाती। प्रत्येक देशमें आर्थिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारणोंसे भिन्न भिन्न प्रकारके द्रव्य और द्रव्य-रीतियां विकसित हुई हैं। अतएव राज्यकी सीमा द्रव्यकी सीमाभी बन गयीहैं एक देशका राज्य-प्रामाणित द्रव्य दूसरे देशमें द्रव्यके रूपमें काममें नहीं लाया जासकता। यदि सोनेकी मुद्राभी हो, तो एक देशकी मुद्रा दूसरे देशोंमें द्रव्यका काम नहीं देसकती क्योंकि वहांकी सोनेकी मुद्राकी तौल, सोनेकी शुद्धता इत्यादि भिन्न होते हैं। एक देशकी सोनेकी मुद्रा अन्य देशोंमें द्रव्यके रूपमें नहीं बल्कि वस्तुके रूपमें स्वीकार कीजाती है। कागजका नोट तो केवल अपनेही देशमें द्रव्यका काम देसकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम भारत और पाकिस्तानमें देख सकतेहैं जिनमें दो ढाई वर्ष पूर्व एकही प्रकारका द्रव्य था। अब पाकिस्तानके नये नोट और भारतके नये नोट भिन्न भिन्न प्रकारके होगये हैं और अपने अपने देशमें ही प्रामाणित मानेजाते हैं। अतएव यदि भारतवासियोंको पाकिस्तानसे मोल लीगयी वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य चुकानाहै तो उनको पाकिस्तानके द्रव्यकी आवश्यकता होगी और यदि पाकिस्तान वालोंको भारतसे प्राप्त वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य चुकानाहै तो उनको भारतके द्रव्यकी आवश्यकता होगी। दूसरे देशके द्रव्यको प्राप्त करनेके लिए उसका

मूल्य देनापड़ता है। विदेशी द्रव्यको विदेशी विनिमयभी कहतेहैं और जिस मूल्यपर वह प्राप्त होताहै उसको विदेशी विनिमयकी दर कहते हैं।

वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीका भुगतान वस्तु तथा सेवाके विनिमय द्वाराही सम्पादित होता है। ऐसा बहुत कम होताहै कि देनदार देश अपने देशका द्रव्य लेनदार देशोंको भेजे और जैसा हम आगे चलकर बतायेंगे, इसकी आवश्यकताभी नहीं होती। अभी हमने बताया कि एक देशका द्रव्य दूसरे देशोंमें प्रामाणिक नहीं होता। सोने चांदीकी मुद्राएंभी यदि देनदारी पूरी करनेके लिए अन्य देशोंको भेजी जातीहैं तो उनको द्रव्य न कहकर हमको धातु-वस्तुही समझना चाहिए। जिसप्रकार चाय के निर्यातसे हम अपनी देनदारी चुका सकतेहैं, यही काम सोनेके निर्यातसे भी हो सकता है। परन्तु सोनेके निर्यात और चाय अथवा अन्य वस्तुओंके निर्यातसे देनदारी चुकानेमें एक महत्वपूर्ण भिन्नता यहहै कि सम्भवहै लेनदार देशको हमारी वस्तुओंकी आवश्यकता न हो अथवा किन्हीं कारणोंसे वह इन वस्तुओंको अस्वीकार करदे परन्तु जहांतक सोनेका प्रश्नहै उसको वह अवश्य स्वीकार करलेगा क्योंकि सोना एक ऐसा पदार्थहै जिसका प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें प्रत्येक देशमें द्रव्यके रूपमें होताहै और सम्भवत: होता रहेगा। सोनेके निर्यातसे अन्य देशोंके द्रव्य को प्राप्त करना सुगम होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी का सामंजस्य

यदि दो देशोंमें कुल लेनी-देनी वस्तु तथा सेवा-विनिमय द्वाराही चुकता कीजाये तो भी इस बातकी आवश्यकता रहेगी कि दोनों देशोंके द्रव्यका आपसका मूल्य जाना जाये क्योंकि अपने अपने देशकी वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य अपनेही द्रव्यमें प्रकट किया जाता है। अतएव किसी देशकी वस्तुओंके कितने परिमाणके विनिमयमें अपने देशकी वस्तुओंको कितने परिमाणमें दियाजाये इसका हिसाब बिना विदेशी विनिमय की दर निर्धारित किये नहीं होसकता। यदि विनिमयकी दरमें बदलाव आजाये तो विदेशी पावनेको पूरा करनेके लिए स्वदेशसे कम या अधिक मात्रामें वस्तुओंका निर्यात करना पड़ेगा। अतएव इस विषयका विवेचन करना कि विदेशी विनिमयकी दर किसप्रकार निर्धारित होतीहै, बड़े महत्वका है। वस्तुओंके मूल्य-निर्धारणके

प्रकरणमें मांग और पूर्तिका महत्व समझाया जाचुका है। इसी मांग और पूर्तिके सिद्धान्तका प्रयोग विदेशी द्रव्यके मूल्य अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरको निश्चित करनेके सम्बन्धमें भी किया जासकता है। पहिले हम यह बतायेंगे कि किसी देशकी विदेशी द्रव्यकी मांग किन किन कारणोंसे होती है। इसका एक मुख्य कारण वस्तुओंका आयात है। जिन देशोंसे हम वस्तुएं मोल लेतेहैं उनका मूल्य चुकानेके लिए हमें उन देशोंके द्रव्यकी आवश्यकता होती है। यदि आयातका परिमाण बढ़जाये, तो विदेशी द्रव्यकी मांगभी बढ़जायेगी। पिछले दो-तीन वर्षोंसे भारतको बाहरसे अनाज मंगाना पड़ाहै अतएव विदेशी विनिमयकी मांग भारतमें बढ़गयी। दूसरे देशकी वस्तुओंके अतिरिक्त हम उनकी सेवाओंका भी उपभोग करते हैं। इनका भी मूल्य चुकाना पड़ता है। इनमें प्रधान सेवाएं विदेशी जहाजों, बीमा कम्पनियों और बैंकों की सेवाएं हैं। इनका हिसाब चुकता करनेके लिए भी हमको विदेशी विनिमयकी मांग रहती है। इन वस्तुओं और सेवाओंके अतिरिक्त सोने और चांदीका भी आयात होता है। इस सम्बन्धमें भी देनदारी होतीहै और विदेशी द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती है। हम अभी बताचुके हैं कि सोनेचांदी को अन्य वस्तुओं और सेवाओंसे विशिष्ट स्थान क्यों प्राप्त है। इसी कारणसे इसका हिसाब अलगही रखाजाता है।

यदि किसी देशके लोग अन्य देशोंमें विद्योपार्जन अथवा भ्रमण करनेके लिए जायें अथवा विदेशी संस्थाओंको दान भेजें तबभी उनको विदेशी विनिमयकी आवश्यकता होगी। यदि विदेशी द्रव्य उधार लिया गयाहो अथवा विदेशी पूंजी अपने देशके उद्योग धन्धोंमें लगीहुई हो, तो उन विदेशियोंको ब्याज और लाभांश देना पड़ता है। यदि राज्यने दूसरे देशों अथवा संस्थाओंसे ऋण लियाहो जैसाकि भारत सरकारने विश्वकोषसे लियाहै, तो उसपर ब्याज देनेके लिए भी विदेशी विनिमय चाहिए। इसीप्रकार कभी कभी युद्धमें हारेहुए देशोंको क्षतिपूरक धन देना पड़ता है। इन सभी प्रकारकी अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियोंको चालू हिसाबकी देनदारी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी पूंजीके हिसाबके सम्बन्धमें भी आवश्यकता पड़ती है। यदि किसी देशमें लगीहुई विदेशी पूंजीको लौटाना पड़े और विदेशमें लिएहुए ऋणकी अवधि पूरी होजाने पर मूलधनका भुगतान करना पड़े तो उन देशोंके द्रव्यकी आवश्यकता होती है। यदि किसी देशके निवासी अन्य देशोंके शेयर, बौंड और हुंडियां खरीदकर उन देशोंके उद्योग धन्धों में अपनी पूंजी लगाएं

अथवा उनके बैंकोंमें अपना धन रखना चाहें तोभी उनको विदेशी विनिमयकी आवश्यकता होती है।

इसीप्रकार अनेक मदोंसे किसी देशको विदेशी विनिमयकी प्राप्ति होती है। व्यापारिक वस्तुएं, सोना और चांदीके निर्यातसे तथा दूसरे देशवासियोंको सेवाएं बेचने से उन देशोंको द्रव्य प्राप्त होती है। यदि विदेशी लोग अपने देशमें पर्यटनके लिए आयें तो उनके व्ययसे भी उन देशोंका द्रव्य प्राप्त होता है। विदेशोंसे दानके रूपमें अथवा क्षतिपूरक धनके रूपमें भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। विदेशोंको दिये हुए ऋणसे ब्याज और विदेशोंमें लगीहुई पूंजीपर लाभांशभी विदेशी विनिमयकी पूर्ति करता है। ये सभी लेनीकी मदें चालू हिसाबकी कही जाती हैं। इसके अतिरिक्त लेनीकी कुछ मदें पूंजीसम्बन्धी हिसाबमें रहती हैं। यदि किसी देशके निवासी अन्य देशोंके शेयर, बौंड इत्यादि साख-पत्रोंको बेचदें तो उनको अन्य देशोंका द्रव्य प्राप्त होजायेगा। इसीप्रकार ऋणकी अवधि पूरी होनेपर साहूकार देशको ऋणी देशका द्रव्य मिलजाता है।

यदि किसी देशकी चालू तथा पूंजीसे सम्बन्धित लेनी और देनीकी मदोंका ठीक ठीक हिसाब रखाजाये, तो इन दोनों पक्षोंका योग बराबर होगा। इसका कारण यहहै कि यदि किसी कालमें किसी देशकी चालू हिसाबकी देनदारी अन्य देशोंके चालू हिसाबकी लेनदारीसे अधिकहो तो शेष देनदारीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि यह रकम उन देशोंने ऋणके रूपमें दी है। इसप्रकार हिसाब रखनेपर किसीभी देशकी अन्य देशोंसे लेनी और देनी बराबर होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीकी मदोंमें व्यापारिक वस्तुओंके आयात और निर्यातको बहुत महत्वपूर्ण समझा जाताथा। आयात और निर्यातकी वस्तुओंका मूल्य साधारणतः समान नहीं रहता है। इस प्रकारके वैषम्यको हम व्यापारिक विषमता कहेंगे। यदि किसी देशकी निर्यातकी वस्तुओंका मूल्य आयातकी वस्तुओंके मूल्यसे अधिकहो, तो कहाजाता है कि व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें है और यदि आयातकी वस्तुओंका मूल्य निर्यातकी वस्तुओंके मूल्यसे अधिक है, तो व्यापारिक विषमता उस देशके विपक्षमें होगी। पूर्वकालमें एक आर्थिक विचारधाराके अनुसार यदि किसी देश की व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें हो, तो यह उस देशकी समृद्धिका द्योतक समझाजाता था। वस्तुओंके निर्यात और आयातके मूल्यके अन्तरको दूसरे

देशोंसे सोने और चांदीके रूपमें वसूल किया जाताथा और धातुओंका यह संचय आर्थिक शक्तिका द्योतक समझा जाता था। यह धारणा वास्तवमें युक्तिसंगत नहींहै क्योंकि जैसाकि हम लेनी देनीकी मदोंके सम्बन्धमें देखचुके हैं, व्यापारिक वस्तुओं के आयात और निर्यातके अतिरिक्त सेवाओंका भी आयात निर्यात होताहै और अन्य प्रकारसे भी चालू हिसाबकी लेनी देनी उत्पन्न होजाती है। भारतवर्षमें व्यापारिक विषमता हमारे पक्ष में ही रहीहै परन्तु हमारा देशतो समृद्धिशाली नहीं रहा है। इसका कारण यहहै कि हमको अप्रत्यक्ष आयातकी मदोंके रूपमें विदेशों को एक बड़ी रक़म देनी पड़ती थी।

व्यापारिक विषमता-सिद्धान्त

विदेशी विनिमयकी दरको निर्धारित करनेके सम्बन्धमें एक मत यहहै कि यदि किसी देशकी व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें हो तो उसके द्रव्यकी विदेशी विनिमय की दरमें वृद्धि होगी। अर्थात् विदेशी द्रव्यकी इकाईको प्राप्त करनेके लिए स्वदेश का द्रव्य कम परिमाणमें देना पड़ेगा और अन्य देशोंको इस देशके द्रव्यकी इकाई प्राप्त करनेके लिए पहिलेसे अधिक द्रव्य अपने देशका देना पड़ेगा। इसके प्रतिकूल यदि किसी देशकी व्यापारिक विषमता उसके विपक्षमें हो तो उस देशकी विदेशी विनिमयकी दर गिरने लगेगी अर्थात् इस देशको अन्य देशके द्रव्यकी इकाईके लिए पहिले से अधिक अपना द्रव्य देना पड़ेगा और अन्य देशोंको उस देशके द्रव्यकी इकाई प्राप्त करनेके लिए पहिलेसे कम मात्रामें अपने देशका द्रव्य देना पड़ेगा। विदेशी विनिमय की दरमें इस प्रकार बदलाव होनेका कारण यह बतलाया जाताहै कि जब व्यापारिक विषमता किसी देशके पक्षमें होतीहै तो उस देशके द्रव्यकी मांग बढ़जाती है और इस कारणसे उसको प्राप्त करनेके लिए अधिक विदेशी द्रव्य देना पड़ता है। और इसीप्रकार यदि व्यापारिक विषमता किसी देशके विपक्षमें होतीहै तो उस देशको विदेशी द्रव्यकी मांग अधिक होजाती है अतएव उसके द्रव्यका विदेशी मूल्य अन्य द्रव्योंमें गिरने लगता है।

इस मतमें कुछ सार अवश्य है। यदि किसी देशमें अन्य देशोंके द्रव्यकी मांग किसीभी कारणसे बढ़जाये और उस देशके पास उसकी पूर्तिके साधन नहींहों तो विदेशी

विनिमयकी दरमें गिरनेकी प्रवृत्ति होगी और यदि उस दशके द्रव्यकी मांग अन्य देशोंमें बढ़जाये और अन्य देशोंको इस देशका द्रव्य उस परिमाणमें प्राप्त न होसके, तो अवश्यही इस देशके विदेशी विनिमयकी दरमें वृद्धि होने लगेगी (इस प्रकरणमें हमने यह मान लियाहै कि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होनेमें स्वतन्त्रता हैं; नियन्त्रित विदेशी विनिमयकी बात दूसरीही है जैसाकि हम आगे चलकर बतायेंगे।) परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखेंतो पता चलताहै कि व्यापारिक विषमता और विदेशी विनिमयकी दरका सम्बन्ध पारस्परिक है। ऐसाभी होताहै कि किसी देशके निर्यात और आयातका परिमाण और मूल्य स्वयमेव विदेशी विनिमयकी दरसे प्रभावित होता है। वास्तवमें हमको इस बातकी छानबीन करनी पड़तीहै कि अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनी की मदोंमें किन कारणोंसे परिवर्तन होरहा है। इन्हीं कारणोंके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्तिके परिमाणमें वैषम्य उत्पन्न होजाताहै और विदेशी विनिमयकी दरमें भी परिवर्तन प्रारम्भ होजाता है। अतएव हम कहसकते हैं कि व्यापारिक विषमता सिद्धान्त समस्याकी गहराई तक न जाकर केवल ऊपरी कारणोंपर प्रकाश डालता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके गुण और दोषोंकी विवेचना करनेके प्रकरणमें हमने बतायाथा कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयमें स्थिरता रहती है। यदि दो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देश अपने अपने देशोंमें सोनेका मूल्य अपने अपने द्रव्यके रूपमें निर्धारित करदें और उस मूल्यपर किसीभी परिमाणमें सोना बेचने और मोल लेनेके लिए प्रस्तुत रहें, तो इन दो देशोंके द्रव्यके बीच स्वयमेव एक विनिमय की दर निर्धारित होजायेगी जिसका सम्बन्ध उन देशोंके प्रामाणिक द्रव्यमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे स्थित सोनेके परिमाण पर होगा। उदाहरणके लिए स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति कालमें इंगलैंडकी प्रामाणिक स्वर्ण-मुद्रा सावरेनमें ११३.००१६ ग्रेन शुद्ध सोना रहताथा और अमेरिकाके संयुक्त राज्यकी प्रामाणिक स्वर्ण-मुद्रा डालर मे २३. २२ ग्रेन शुद्ध सोना रहता था। अतएव एक सावरेनमें स्थित सोना

$\frac{११३.००१६}{२३.२२}$ = ४.८६ डालरमें स्थित सोनेके बराबर हुआ। स्टर्लिंग और डालरकी इस पारस्परिक दरको विदेशी विनिमयकी टकसाली दर अथवा विदेशी विनिमयकी सम-मूल्य दर कहते हैं। यहतो हुई आधारभूत दर, वास्तविक दर इस आधारभूत दरके आसपास ही रहती है। बात यहहै कि इंगलैंडसे अमेरिकाको अथवा अमेरिकासे इंगलैंडको सोना भेजनेमें जहाजका तथा अन्य कई प्रकारका व्यय होता है। मानलीजिए ११३.००१६ ग्रेन सोनेके अमेरिकासे इंगलैंड भेजनेका व्यय .०४ डालर अर्थात् ४ सेंट होता है। ऐसी अवस्थामें इंगलैंड और अमेरिका के बीच विदेशी विनिमयकी दर ४.९० डालरसे अधिक नहीं बढ़ने पायेगी और ४.८२ डालरसे कम नहीं होने पायेगी। इसका कारण यहहै कि यदि इंगलैंड वालोंकी डालर की मांग इतनी बढ़गयी कि उनको एक पौंडसे ४.८२ से कम डालर मिलने लगा, तो वे अपनी देनदारी सोनेके निर्यातसे करने लगेंगे अतएव ४.८२ डालरकी दर इंगलैंडके लिए स्वर्ण-निर्यात मर्यादा और संयुक्त राज्यके लिए स्वर्ण-आयात मर्यादा निर्धारित करती है। इसीप्रकार यदि संयुक्त राज्यमें पौंडकी मांग इतनी बढ़जाये कि एक पौंड प्राप्त करनेके लिए ४.९० डालरसे अधिक देनापड़े तो संयुक्त राज्यके देनदार अपनी देनदारीके भुगतानके लिए सोनेका निर्यात करने लगेंगे। अतएव ४.९० डालर संयुक्त राज्यके लिए स्वर्ण-निर्यात-मर्यादा और इंगलैंडके लिए स्वर्ण-आयात-मर्यादा होजाता है। वास्तविक विदेशी विनिमयकी दर इन्हीं दो स्वर्ण-आयात और स्वर्ण-निर्यात मर्यादाओंके भीतर रहती है। यदि डालरकी मांग अधिकहो, तो विदेशी विनिमय की दर ४.८२ डालरके निकट रहेगी और यदि पौंडकी मांग अधिक हो; तो विनिमयकी दर ४.९० डालरके निकट रहेगी। इसी बातको हम दूसरी प्रकार से भी कह सकते हैं। यदि इंगलैंडमें डालरकी मांग बढ़ जातीहै तो इंगलैंडसे संयुक्त राज्यको सोना भेजकर किसीभी परिमाणमें डालर प्राप्त किये जासकते हैं। जब विदेशी विनिमयकी दर १ पौं० = ४.८२ डालर होगयी तो इस भावपर डालरकी पूर्ति किसीभी परिमाणमें होसकती है। इसीप्रकार यदि संयुक्त राज्यमें पौंडकी मांग बढ़गयी तो वहां से इंगलैंडको सोना भेजकर किसीभी परिमाणमें पौंड प्राप्त किये जासकते हैं। जब विदेशी विनिमयकी दर १ पौं० = ४.९०डालर पर पहुंच जातीहै तो इस दरपर किसीभी परिमाणमें पौंडके मांगकी पूर्ति सोनेके निर्यातसे होसकती है।

इसप्रकार हम देखतेहैं कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देशोंमें सोनेके आयात और निर्यातके फलस्वरूप विदेशी विनिमयकी दरमें विनिमग्रकी सम-मूल्य दरके आस पास स्थिरता रहती है। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके प्रकरणमें हम बताचुके हैं कि कभी कभी देशोंको इस स्थिरताको बनाये रखनेके लिए अपनी आर्थिक अवस्थामें अस्थिरताका समावेश करना पड़ता है। यही कारणहै कि आधुनिक विचारधारा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत प्राप्त होसकने वाली स्थिर विदेशी विनिमयकी दरका समर्थन नहीं करती।

नियन्त्रित विदेशी विनिमय

जिसप्रकार सरकार देशकी सीमाके अन्तर्गत वस्तुओंका मूल्य नियन्त्रित करसकती है उसीप्रकार विदेशी मूल्यका भी नियन्त्रण करसकती है। कभी कभी दो देशोंकी सरकार आपसमें एकमत होकर विदेशी विनिमयकी दर निर्धारित करलेती हैं और इस प्रकारका प्रबन्ध करतीहैं कि यह दर व्यवहारमें बनी रहे। भारतवर्ष और इंग-लैंडके द्रव्यमें सन् १९२६ से लेकर अबतक १ रु० = १ शि० ६ पें० की दर बनी हुई है। सन् १९३१ के बाद इंगलैंडके स्वर्ण-पद्धति छोड़ देनेपर भी यही दर बनी रही। इसीप्रकार द्वितीय महायुद्धके कालमें संयुक्तराज्य और इंगलैंडकी सरकारों ने १ पौ० का मूल्य ४ डालरके लगभग निर्धारित करलिया और इस विनिमयकी दरको बनाये रखा। इसप्रकार विदेशी विनिमयकी दरको किसी विशेष स्तरपर बांधदिया जाता है। यदि यहदर आर्थिक परिस्थितियोंके अनुकूल न हुई तो या तो दरको बदलना पड़ताहै अथवा आर्थिक अवयवोंमें इस प्रकारका नया सम्बन्ध स्था-पित होनेलगता है (चाहे वह सम्बन्ध वांछितहो अथवा अवांछित) जिससे इसप्रकार निर्धारित विदेशी विनिमयकी दर बनी रहे।

विदेशी विनिमयकी दरका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर, पूंजीके आयात और निर्यात पर और इनके द्वारा देशके भीतरके उद्योग धन्धों, वाणिज्य-व्यवसायोंपर प्रभाव पड़ता है। अतएव इस दरको स्वाधीनतापूर्वक किसीभी मात्रामें बदलने देना आर्थिक स्थिरताकी दृष्टिसे वांछित नहीं है। अविनिमय-साध्य पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयमें अस्थिरता आनेकी बहुत आशंका रहती है। यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि विदेशी विनिमयसे दो पक्षोंका लगाव रहताहै एक स्वदेशी और दूसरा विदेशी।

किसीभी पक्षसे अस्थिरता उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियां उत्पन्न होसकती हैं। अतएव यह दोनों पक्षोंके हितमें है कि वे आपसमें विचार विमर्षके बाद विनिमयकी दरको निर्धारित करें और उनमें बदलाव करें। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोषका आयोजन जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायेगा, इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर किया गया है।

आर्थिक इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलतेहैं जबकि कोई देश विदेशी विनिमयका नियन्त्रण अपने निर्यात व्यापारको बढ़ाने अथवा आयात व्यापारको कम करनेके लिए करता है। यदि अन्य बातोंमें कोई बदलाव न होतो जो देश अपने द्रव्यके विदेशी मूल्यको घटाताहै अर्थात् विदेशी विनिमयका अवमूल्यन करताहै उससे उस की वस्तुओंके निर्यात व्यापारको प्रोत्साहन मिलताहै क्योंकि उसकी वस्तुओंका मूल्य अन्य देशोंके द्रव्यमें सस्ता होजाता है और उसका आयात व्यापार कम होने लगताहै क्योंकि विदेशी वस्तुओंका मूल्य उस देशके द्रव्यमें बढ़जाता है। इस प्रकारका लाभ स्थायी नहीं होसकता क्योंकि इससे अन्य देशोंपर जिससे इस देशका आर्थिक सम्बन्ध है, प्रभाव पड़ताहै और अपने आयात निर्यातकी रक्षाके लिए इनको भी अपने द्रव्य का अवमूल्यन करना पड़ताहै अथवा आयात-कर लगाने पड़ते हैं। इनका परिणाम यह होताहै कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका परिमाण घटने लगताहै और देशोंमें आपस में विद्रोहकी भावना उत्पन्न होजाती है। दो महायुद्धोंके बीचके कालमें इसप्रकार के बहुतसे उदाहरण मिलते हैं।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी पराकाष्ठा उस अवस्थापर समझी जातीहै जब कि देशमें विदेशी विनिमयका स्वतन्त्र हाट नहीं रहताहै और जितनाभी विदेशी द्रव्य उस देशको प्राप्त होताहै उसपर राज्यका अधिकार होजाता है। इस विदेशी द्रव्य का वितरणभी राज्यकी इच्छाके अनुसार होता है। द्वितीय महायुद्धक समयसे अनक देशोंने इसप्रकार विदेशी विनिमयका पूर्णरूपसे नियन्त्रण किया और अभीतक यह नियन्त्रण चला आरहा है। भारतवर्षमें विदेशी विनिमयपर नियन्त्रण है। पूंजीके निर्यातके लिए विदेशी विनिमय नहीं दियाजाता है। विविध वस्तुओंके आयातके लिए बिना पूर्ण अनुमतिके विदेशी द्रव्य नहीं दियाजाता है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीकी मदोंका भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें नियन्त्रण कियाजाने लगा है।

द्वितीय महायुद्धके पूर्व जर्मनीने पहिले पहिले बड़ी मात्रामें विदेशी विनिमयके नियन्त्रणको एक महत्वपूर्ण स्थान दिया था। इसकी सहायतासे जर्मनी कुछ अंशतक अपनी आर्थिक शक्तिकी वृद्धि करनेमें और विदेशी देनदारीके भारको कम करनेमें समर्थ हुआ था। जर्मनीमें जिस किसी व्यापारीको विदेशी द्रव्यपर अधिकार प्राप्त होताथा उसे वह अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित संस्थाको राज्य द्वारा निर्धारित दरपर बेचनेको बाध्य होना पड़ता था। इस प्रकारसे संचित विदेशी विनिमयका उपयोग राज्यकी अनुमतिसे ही होसकता था। राज्यकी समझमें जिन विदेशी वस्तुओं की अधिक उपयोगिता रहतीथी उन वस्तुओंके आयातके लिए विदेशी विनिमय प्रचुरतासे दियाजाता था और सस्ते भावपर दियाजाता था। जिस विदेशी वस्तुको राज्य अनावश्यक समझे उसके लिए यातो विदेशी विनिमय उपलब्धही नहीं होताथा अथवा उसको मंहगी दरपर दियाजाता था। इसप्रकार एक विदेशी द्रव्यके भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके लिए भिन्न भिन्न दरोंका प्रयोग होता था।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी एक यह रीतिभी काममें लायीगयी थी कि जर्मनी के बाहर रहनेवाले लोगोंको जर्मनीके द्रव्य (मार्क) पर जो अधिकार प्राप्त होताथा उसको वे विदेशी विनिमयमें परिवर्तित करके वापस नहीं लेसकते थे। इस प्रकारका प्रतिबन्धित द्रव्य या तो जर्मनीमें ही व्यय किया जासकता था अथवा भविष्यमें वापस लेनेके निमित्त वहीं जमा किया जासकता था। इसका एक परिणाम यहहुआ कि विदेशोंमें जर्मनीके शेयर, बौंड इत्यादि साख-पत्रोंके मूल्यमें कमी होनेलगी और कम मूल्यपर इन साख-पत्रोंको खरीदकर जर्मनीके विदेशी ऋणका भार हलका पड़गया।

विदेशी विनिमय नियन्त्रणक अन्तर्गत देशोंके बीच एक प्रकारका समझौताभी होनेलगा। जो देश इस समझौतेको स्वीकार करलेते थे, वे किसी कालावधिमें एक दूसरेसे एक निश्चित परिमाणमें वस्तुओंका आयात स्वीकार करलेते थे। परन्तु इन के मूल्यका भुगतान आयात और निर्यात करनेवाले व्यक्ति आपसमें नहीं करसकते थे। इनका हिसाब राज्यों द्वारा होता था। आयात करनेवाले व्यक्ति आयातकी वस्तुओंका मूल्य अपने द्रव्यमें राज्य द्वारा निर्धारित बैंकमें जमा करदेते थे। इस कोषसे निर्यात करनेवाले व्यक्तियों द्वारा निर्यात कीगयी वस्तुओंका मूल्य देदिया जाता था।

इसप्रकार विदेशी विनिमयके नियन्त्रणसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुदेशीय न हो कर द्विदेशीय होनेलगा। इससे कुछ देशोंको अवश्य लाभ हुआ परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके दृष्टिकोणसे आर्थिक वातावरण दूषित होनेलगा और विद्वेषकी मात्रा बढ़ने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके लगावकी प्रगतिके लिए शुद्ध आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता है जिसमें नियन्त्रण कमसे कम हो। इस उद्देश्यको सामने रख कर अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषकी स्थापना हुई है।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

हमने देखाकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी एक आधारभूत दर स्थापित होजाती है और वास्तविक दर इसके आसपास ही रहती है। अविनिमय-साध्य द्रव्य-पद्धतिवाले देशोंमें विनिमयकी दर किसप्रकार स्थिर होतीहै, इस सम्बन्ध में हम एक सिद्धान्तकी विवेचना करेंगे जिसको क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार दो देशोंके द्रव्योंकी विनिमयकी दर उन द्रव्योंकी आन्तरिक क्रय-शक्तिपर निर्भर रहती है। उदाहरणके लिए, यदि किसी वस्तुवर्गको मोललेने के लिए संयुक्त राज्यमें ४ डालर देने पड़तेहैं और उसी वस्तुवर्गको इंगलैंडमें १ पौंड देकर खरीदा जासके तो ४ डालरकी क्रय-शक्ति १ पौंडकी क्रय-शक्तिके बराबरहुई। तो यही इन द्रव्योंकी विनिमयकी दरहोगी अर्थात् १ पौंड = ४ डालर। अब यदि किसी कारणसे इंगलैंडका मूल्य-स्तर दुगुना होगया और अमेरिकामें पूर्ववत्‌ही रहा तो अब एक पौंडकी क्रय-शक्ति दो डालरके बराबर रहगयी। और इन दो देशोंकी विदेशी विनिमयकी दर अब १ पौंड = २ डालर होजायेगी।

स्वीडनके अर्थशास्त्री प्रोफ़ेसर कैसलने सन् १९१४-१९२३ के कालमें द्रव्य स्फीति जनित मूल्य-स्तरों में परिवर्तन और विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन का विशेष रूपसे अध्ययन करके उनमें यह सम्बन्ध ज्ञात किया कि जैसे जैसे किसी देशके मूल्य-स्तरमें अन्य देशोंके मूल्य-स्तरों की अपेक्षा वृद्धि होनेलगती है वैसे वैसे उसके द्रव्य की विदेशी विनिमयकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेलगता है। प्रो० कैसलने यह नहीं कहाहै कि दो द्रव्योंकी आधारभूत विनिमयकी दर उनकी आन्तरिक क्रय-शक्तिसे निर्धारित होती है। उनका कहना यहहै कि यदि किसी समय दो द्रव्योंके बीच कोई

सन्तुलित विनिमय की दर स्थापित होगयी है और फिर उनमें जो परिवर्तन होगा, वह उन देशोंके पारस्परिक मूल्य-स्तरोंके परिवर्तनका द्योतक होगा अर्थात् विदेशी विनिमयका क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त मूल्य-स्तरोंके परिवर्तन पर न कि मूल्य-स्तरों पर चरितार्थ किया जाताहै।

इस सिद्धान्तमें अनेक त्रुटियां और रुकावटें पायी जाती हैं। किसी समय विशेष में विदेशी विनिमयकी दरको समझनेके लिए हमको एक प्रामाणिक समयकी विनिमयकी दरको आधारभूत मानकर मूल्य-स्तरोंके परिवर्तन का अध्ययन करना पड़ेगा। पहिलेतो समस्या उस समयको ज्ञात करनेकी है जिसको प्रामाणिक मानाजाये। यदि यह समय दूर भूतकालमें हुआ तो इस कालान्तरमें आर्थिक अवस्थामें बहुत परिवर्तन होसकता है। इसके अतिरिक्त एक बड़ी समस्या यहहै कि किन वस्तुओंके मूल्य-स्तरके आधारपर विदेशी विनिमयकी दर सम्बन्धित है। यदि सभी वस्तुओंसे सम्बन्धित सूचक अंकोंके आधारपर इस विषयकी विवेचना करें तो ज्ञात होताहै कि अनेक वस्तुएं ऐसीहैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट नहीं होतीं। उनका व्यापार देश के अन्दरही होता है। ऐसी वस्तुओंके मूल्य-स्तरोंका विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्तिपर प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होने वाली वस्तुओंके मूल्य-स्तरको लें तो इससेभी विदेशी-विनिमयकी दरपर प्रकाश नहीं पड़ता क्योंकि इन वस्तुओंके मूल्य-स्तरमें यातायात-व्यय और आयात निर्यात-कर का हिसाब करलेने पर तथा चालू विदेशी विनिमय की दरसे भिन्न भिन्न देशोंमें द्रव्यके रूपमें परिवर्तन करनेपर समानता आनेकी प्रवृत्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक वस्तु एक विदेशी विनिमयकी दरपर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होजाती है और दूसरी दरपर वहांसे हटजाती है। दो देशोंके मूल्य-स्तरोंमें समानता बनी रहनेपर भी विनिमयकी दरमें अन्तर होसकता है क्योंकि भिन्न भिन्न देशोंकी वस्तुओंकी मांग का परिमाण केवल मूल्य-स्तर परही अवलम्बित नहीं रहता। मांगके परिमाणमें अधिक मात्रामें परिवर्तन होजानेके कारण विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्तिमें अन्तर होजाता है और उसकी दरमें भी परिवर्तन होजाता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी दर पूंजीके आयात निर्यातसे और क्षतिपूरक धन देनेके कारण से भी प्रभावित होती है। इस सम्बन्धमें क्रय-शक्ति समता सिद्धान्तसे कोई सहायता नहीं मिलती है।

वास्तवम जैसाकि हम ऊपर लिखआये हैं यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होनेकी पूर्ण स्वतन्त्रताहै तो जिन जिन कारणोंसे विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्ति प्रभावित होतीहै उन्हीं कारणोंसे उसकी दरभी प्रभावित होगी। इन कारणोंमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनी की सभी मदें शामिल हैं। इन मदोंके परिमाण बदलते रहते हैं और वे विदेशी विनिमयकी मांग और पूर्तिके परिमाणोंको भी बदलते रहते हैं। अतएव विदेशी विनिमयकी दरभी स्वतन्त्रतासे बदलती रहती है, कहाजाता है कि यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होने दियाजाये तो कोईभी देश अपनी द्रव्य-नीतिको अन्तर्राष्ट्रीय दबावोंसे स्वतन्त्र करके अपनी आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेमें अधिक समर्थ होगा। परन्तु हम देखतेहैं कि स्वतन्त्रतापूर्वक बदलनेवाली विदेशी विनिमयकी दर वांछनीय नहीं समझी जाती। इसका प्रधान कारण यहहै कि इस प्रकारकी विदेशी विनिमयकी पद्धतिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके लगावमें अनिश्चितता आजातीहै और संशयका समावेश होजाता है। आधुनिक आर्थिक क्रियामें वैसेभी पर्याप्त अनिश्चितता रहतीहै क्योंकि उत्पत्तिके कार्यमें समयका अन्तराय बढ़गया है और दूर देशोंके लिए उत्पादन करनेमें भी आशंका बनी रहती है अब यदि विदेशी विनिमयकी दरमें भी अधिक मात्रामें अस्थिरता होनेलगे तो इससे न केवल आयात-निर्यातकी वस्तुओंके मूल्य और उत्पत्तिमें अस्थिरता आजायेगी बल्कि जिन देशोंमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आर्थिक प्रगतिका प्रधान अंग है (जैसा कि इंगलैंड में) उनकी आन्तरिक अवस्थामें भी अस्थिरता आजायेगी। इसीप्रकार दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीके लगावको भी धक्का पहुंचनेकी सम्भावना होजाती है। हमने देखाकि राष्ट्र विदेशी विनिमयकी दरमें न तो स्वर्ण पद्धतिवाली दृढ़ता चाहते हैं और न स्वतन्त्र रूपसे बदलनेवाली चंचलता चाहते हैं। इससे प्रतीत होताहै कि इन दोनोंकी मध्यस्थ नीति अधिक अनुकूल होगी अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरमें न तो बड़ी मात्रामें अनपेक्षित बदलावहो और न ऐसाहो कि उसमें कोई परिवर्तन ही न किया जासके। इसके लिए कुछ प्रबन्ध करनेकी आवश्यकता पड़ती है।

विदेशी विनिमय-नियन्त्रण-कोष

सन् १९३१ के बाद स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति छोड़नेपर अनेक देशोंको इस प्रकार की

परिस्थिति का सामना करना पड़ा। विदेशी विनिमयकी दरमें अस्थिरता कम करनेके लिए इंगलैंड, संयुक्तराज्य, फ्रान्स इत्यादि देशोंने एक विशेष कोषकी स्थापनाकी जिसको हम विदेशी विनिमय नियन्त्रण कोष कहेंगे। यह कोष सरकार के आधीन रहताहै और इसका प्रयोग विदेशी विनिर्मयकी दरमें आकस्मिक बड़ी मात्रामें बदलाव रोकनेमें होता है। यह कोष स्वदेशी द्रव्य, विदेशी द्रव्य, सोना और ट्रेज़री बिलसे सम्पन्न रहता है।

कल्पना कीजिए किसी राजनैतिक संकटके कारण अथवा और किसी कारणसे इंगलैंडके लोग अपने धनको सुरक्षित रखनेके लिए अथवा लाभकी आशासे संयुक्त राज्यमें रखना चाहते हैं। इससे डालरकी मांगमें अचानक बड़ी मात्रामें वृद्धि होजायेगी। विदेशी विनिमयके हाटमें पर्याप्त डालर न होनेके कारण डालरोंके मूल्य में वृद्धि और पौंडके मूल्यमें कमी होने लगेगी। यहांपर इंगलैंड अपने विदेशी विनिमय कोषका प्रयोग करता है। वहभी विदेशी विनिमयके हाटमें उतर पड़ताहै और विदेशी विनिमयकी दरमें बड़ी मात्रामें परिवर्तन को रोकनेकी चेष्टा करता है। पूर्वोक्त अवस्थामें इंगलैंडका विदेशी विनिमय कोष डालर बेचना प्रारम्भ करेगा क्योंकि डालरोंकी माग बढ़नेके कारण विनिमय दरमें परिवर्तन होनेकी आशंका हुई है। हम पहिले लिख आयेहैं कि इस कोषमें विदेशी द्रव्यभी रहता है। अतएव कोष अपने डालरोंको बेचने लगेगा। यदि उसके पास पर्याप्त डालर न हों तो वह संयुक्तराज्य में चालू दरसे सोना बेचकर डालर प्राप्त करेगा। मानीहुई बातहै कि यह कोष कहांतक पौंडको गिरनेसे बचा सकताहै, यह कोषके डालर उपलब्ध करनेकी शक्तिपर निर्भर है। परन्तु यहतो निश्चितहै कि कुछ अंशतक कोष को अपने कार्यमें सफलता मिलेगी। और यदि विदेशोंमें पौंडकी मांग अचानक अधिक मात्रामें बढ़जानेके कारण पौंडके विदेशी विनिमय मूल्यमें अवांछित वृद्धि होनेलगे तो कोष स्वयं विदेशी द्रव्य खरीद लेगा और कोषसे पौंड उपलब्ध करेगा। अपने देशके द्रव्यको उपलब्ध करना कठिन नहीं है। यदि कोषमें पर्याप्त पौंड न हों, तो ट्रेज़री बिल बेचकर अथवा केन्द्रीय बैंकसे उधारलेकर काम चलाया जासकता है। पौंड बेचनेसे कोषमें विदेशी विनिमयके परिमाणमें वृद्धि होजायेगी। यदि कोषको विदेशी द्रव्यकी इतने परिमाण में आवश्यकता न हो तो कोष अतिरिक्त विदेशी द्रव्य से उस देशमें चालू भावपर सोना मोललेकर उसको अपने कोषमें जमा करसकता है।

इसी प्रकार विदेशी द्रव्य बेचनेसे कोषमें अपने देशका द्रव्य आवश्यकतासे अधिक परिमाणमें जमा होगया होतो अतिरिक्त द्रव्यको केन्द्रीय बैंकसे सिक्यूरिटियों अथवा ट्रेज़री बिलके रूपमें बदला जासकता है।•

इस प्रकारसे विदेशी विनिमयकी दरको प्रबन्धित करनेका यह आशय नहींहै कि उसमें कभी परिवर्तन ही न होनेदिया जाये। यदि किसी देशमें मौलिक कारणोंसे आर्थिक सन्तुलन विकृत होजाये और वर्तमान विनिमयकी दर तत्कालीन आर्थिक परिस्थितिसे असम्बद्ध होगयी हो, तो इस कोषके द्वारा विदेशी विनिमयकी दरको पूर्ववत् बनाये रखनेका हठ नहीं किया जायेगा। विनिमयकी दरको सन्तुलित होने दिया जायेगा और इस नयी दरमें अधिक परिवर्तन न होनेदेना कोषका कर्तव्य होगा। कहनेका अभिप्राय यहहै कि विदेशी विनिमयमें जो परिवर्तन आर्थिक स्थितिके बदलनेसे है, उनकोतो होनेदिया जायेगा। परन्तु जो परिवर्तन अल्पकालीन विशेषकर सट्टे की भावनासे होजाते हैं उनको रोकनेकी चेष्टा की जायेगी।

हमने अभी बताया कि कोषकी सफलता उसकी पूंजीके परिमाणपर बहुत अंशमें निर्भर करती है। परन्तु साथही साथ कोषके अधिकारियोंको सन्तुलित विदेशी विनिमयकी दरका पता चलाना चाहिए। यह एक बहुत कठिन काम है। कोई एक ऐसा सूचक आर्थिक अवयव नहींहै जिसके आधारपर सन्तुलित दरकी गणना की जासके। साधारणत: इस बातको ध्यानमें रखाजाता है कि स्वीकृत विनिमय दर की सहायतासे देशको आर्थिक स्थिरता प्राप्त करनेमें सहायता मिले और उस दर को बनाये रखनेमें देशके सोनेके और विदेशी द्रव्यके कोषको विशेष क्षति न पहुंचे। इसके अतिरिक्त दर ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन की प्रवृति न हो।

कोषको अपने उद्देश्यमें सफलता प्राप्त करनेके लिए यहभी आवश्यकहै कि भिन्न भिन्न देशोंके कोष आपसमें सहयोगसे काम करें। विदेशी विनिमयकी दरसे कमसे कम दो देश सम्बन्धित हैं। यदि इन देशोंके कोष विपरीत नीतियोंका प्रयोगकरें तो परिस्थिति और भी बिगड़ जायेगी। यही कारणहै कि सन् १९३६ में फ्रान्स, संयुक्त राज्य और इंगलैंडमें त्रिपक्षी ऐक्य हुआ जिसके अनुसार इनमेंसे कोईभी देश बिना दूसरेकी सम्मति प्राप्तकिये विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन नहीं करसकता था। बादमें इस ऐक्यमें औरभी देश सम्मिलित हुए।

२७

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्वबैंक

द्रव्य-कोष

हमने पिछले अध्यायमें बताया कि प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धके कालाभ्यन्तरमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण बहुत दूषित होने लगा था। विदेशी विनिमयका नियन्त्रण, उसकी दरका प्रतिस्पार्द्धिक अवमूल्यन, द्विपक्षी व्यापार-ऐक्य और आयात-विरोधी कर लगाना—इसप्रकार की क्रियाएं दृष्टिगोचर होने लगी थीं। इनके फलस्वरूप आर्थिक सहयोगका स्थान आर्थिक विद्वेषने लेलिया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके परिमाण एवं मूल्यमें ह्रास होनेलगा। अतएव द्वितीय महायुद्धके समाप्त होनेके पूर्वही इस बातका प्रयत्न किया जानेलगा कि युद्धके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्योंके सम्पादनमें अधिक सुविधा प्राप्त होसके। इसके लिए दो योजनाएं—एक योजना जो 'केन्स योजना' कहलाती है इंगलैंडके विद्वानोंने बनायी और दूसरी 'व्हाइट योजना' संयुक्त राज्यके विशेषज्ञोंने बनायी। प्रत्येक योजनाके अन्तर्गत इस प्रकारके प्रस्ताव रखेगये जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विकृतियां कमकी जासकें। इन दोनों योजनाओंके कुछ प्रस्ताव एक दूसरेसे मिलते जुलते थे और कुछ भिन्नभी थे। अतएव इन दोनों योजनाओंके आधारपर एक सम्मिलित योजना बनायी गयी जिसमें अधिक प्रस्ताव संयुक्तराज्यकी योजनासे लियेगये थे। यह सम्मिलित योजना जुलाई १९४४ में ब्रेटनवुड्स् नामक स्थानमें एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्मेलनके सामने रखी गयी जिसमें ४४ मित्र-राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। विचार-विमर्शके पश्चात् सम्मेलनने एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और एक विश्वबैंककी स्थापनाके लिए स्वीकृत धाराएं लेखबद्धकीं और उनको सम्मेलनमें भाग लेनेवाले राज्योंके पास हस्ताक्षरके लिए भेजा। २७ दिसम्बर १९४५ के दिन जबतक कि २८ ऐसे राज्योंकी स्वीकृतियां प्राप्त होचुकी थीं जिनका चन्दा कोषके कुल परिमाण का ८० प्रतिशतके लगभग

था, ये स्वीकृत धाराएं कार्यरूपमें परिणत होगयीं और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषकी स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषके निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्बन्धी सहयोगको इस संस्था द्वारा प्रोत्साहन देना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी सन्तुलित रूपमें वृद्धि करनेमें सहायता देना जिससे सदस्य देशोंकी वास्तविक आय और उद्यमोंके स्तरमें वृद्धि और स्थिरता प्राप्त हो सके।

(३) विदेशी विनिमयमें स्थिरता प्राप्त करवानेकी चेष्टा करना, सदस्य देशोंमें व्यवस्थित रूपसे विदेशी विनिमयका प्रबन्ध करना, प्रतिस्पर्द्धात्मक विनिमय-अवमूल्यनको दूर करना।

(४) सदस्य देशोंके चालू लेनदेनको विभिन्न रूपोंमें चुकता करनेकी प्रणाली स्थापित करनेमें सहायता करना और इस प्रकारके विदेशी विनिमय नियन्त्रणको हटानेका प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें रुकावट उत्पन्न हो।

(५) सदस्योंको कोषसे द्रव्य उपलब्ध कराना जिससे कि वे बिना इसप्रकार के उपक्रमोंके प्रयोगसे जिनसे अपने देश और अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धिको धक्का पहुंचे, अपने अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनकी विषमताको ठीक करसकें और फलस्वरूप उनमें विश्वास उत्पन्न होसके।

(६) इन सब बातोंको ध्यानमें रखतेहुए सदस्योंकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीके सन्तुलनकी हानिको यथाशीघ्र ठीक करना और कम करना।

इस कोषकी कुल सम्पत्ति ८८० करोड़ डालर निर्धारित कीगयी थी, जिसका प्रधान भाग सदस्य देशोंके द्रव्यके रूपमें और शेष भाग सोनेके रूपमें रखनेका प्रबन्ध है। अप्रैल १९४८ तक इसको ७९० करोड़ डालरके बराबर द्रव्य प्राप्त होचुका था। प्रत्येक सदस्यका हिस्सा निर्धारित करदिया गया है। प्रत्येक सदस्य अपने भाग का २५ प्रतिशत अथवा अपने सोने और डालरके संचयका १० प्रतिशत जो भी कमहो, सोनेके रूपमें जमा करेगा और शेष भाग अपने द्रव्यके रूपमें जमा करेगा। सदस्योंमें से पांच बड़े हिस्सेवाले सदस्योंमें संयुक्तराज्यका २७५ करोड़, इंगलैंडका १३० करोड़, रूसका १२० करोड़, चीनका ५५ करोड़ और फ्रान्सका ४५ करोड़ डालर निर्धारित किया गया। भारतका छठा नम्बरहै और उसका हिस्सा ४० करोड़

डालर है। रूस अभीतक इस कोषका सदस्य नहीं बनाहै अतएव इससमय भारत पांचवां बड़ा सदस्य है।

कोषके सदस्योंके हिस्सेका बहुत महत्व है। एकतो यहकि कोषके गवर्नरोंकी सभामें जिसमें प्रत्येक सदस्य देशको प्रतिनिधित्व प्राप्तहै, अपने हिस्सेके परिमाणके आधारपर मत देनेका अधिकार होता है। प्रत्येक सदस्य देशको २५० वोट और उसके ऊपर प्रत्येक एकलाख डालरके हिस्सेके पीछे एक वोट देनेका अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भके पांच बड़े हिस्सेदारोंको कोषकी १२ सदस्योंकी कार्यकारिणी सभामें स्थायी स्थान प्राप्त है। परन्तु हिस्सेका सबसे बड़ा महत्व यहहै कि प्रत्येक सदस्य कोषसे किसीभी १२ महीनेकी अवधिमें अपने हिस्सेके २५ प्रतिशत परिमाण तकही अपने द्रव्यके बदले दूसरे देशोंका द्रव्य प्राप्त करसकता है। उदाहरणके लिए, भारतका हिस्सा ४० करोड़ डालरहै तो भारतवर्ष किसीभी १२ महीनेकी अवधिके अन्दर इस कोषसे पर्याप्त मात्रामें रुपया जमाकरके १० करोड़ डालरतक प्राप्त करसकता है। इसके अतिरिक्त जब कोषमें किसी सदस्य देशका अपना द्रव्य अपने हिस्सेके परिमाणसे दुगना जमा होजाता है तो इसकेबाद उस देशको कोषसे विदेशी विनिमय मोल लेनेका अधिकार नहीं रहजाता अर्थात् कोषके पास किसीभी समयमें किसी सदस्य देशके हिस्सेके २०० प्रतिशतसे अधिक उसका अपना द्रव्य जमा न होना चाहिए।

कोष और विदेशी विनिमय की दर

जहांतक किसी सदस्य देशके द्रव्यके विदेशी विनिमयकी दरका प्रश्नहै, प्रत्यक सदस्य को यह अधिकार दियागया है कि वह स्वयमेव अपने द्रव्यका मूल्य सोनेमें अथवा संयुक्त राज्यके डालरमें निर्धारित करके उसकी सूचना कोषके अधिकारियोंके पास भेजदे। भारतने जो विदेशी विनिमयकी दर चली आरही थी, अर्थात् १३·३३३ रु० = १ पौ० (१ रु० = १ शि० ६ पे०) उसीके आधारपर यह दर निर्धारितकी। इस हिसाबसे एक रुपयेका विदेशी विनिमय ३०·१७ सेन्टके बराबर अर्थात् एक डालरका मूल्य ३·३०८५ रुपया होता है। इस हिसाबसे एक रुपयेका विनिमय-मूल्य ४·१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोनेके बराबर होता है। इसीप्रकार अनेक सदस्य देशों

में दिसम्बर १९४६ तक अपने द्रव्यकी विदेशी विनिमयकी दरकी सूचना भेजदी और पहिली मार्च १९४७ से कोषने विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य आरम्भ करदिया है। युद्धजनित समस्याओं और विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके कारण यह आशा नहीं कीजासकती थी कि यह प्रारम्भिक दर बादमें भी अनुकूल रहेगी। अतएव प्रत्येक देशको अधिकारहै कि वह आवश्यकता पड़नेपर कोषको सूचनादेकर १० प्रतिशत तक परिवर्तन करसकता है। इससे अधिक मात्रामें परिवर्तनकी आवश्यकता होने पर कोषकी आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि इस प्रबन्धके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी दरमें केवल नियन्त्रित रूपसे बदलाव करना सम्भव है। इसका ज्वलन्त उदाहरण सितम्बर १९४९ का विदेशी विनिमय का अवमूल्यनहै जिसके अन्तर्गत इंगलैड, भारत आदि देशोंने भिन्न भिन्न परिमाणमें ३०·५ प्रतिशत तक अपने द्रव्योंके विदेशी विनिमयकी दरमें कमी करदी। स्टर्लिंग और डालरकी विनिमयकी दर ४·०३ डालरसे गिरकर २·८० डालर रहगयी। रुपयेका मूल्य ३०·२२५ सेन्टसे गिरकर २१ सेन्ट रहगया अर्थात् एक डालरका मूल्य ४·७६ रुपया होगया।

कोषका उद्देश्य अन्ततोगत्वा विदेशी-विनिमयके नियन्त्रणको हटाना है। परन्तु युद्धजनित समस्याओंके कारण सभी देशोंको एकबार ही इसको कार्यान्वित करनेमें कठिनता होनेकी सम्भावनाको ध्यानमें रखतेहुए यह स्वीकार कियागया कि कुछ समयतक सदस्य देश विदेशी विनिमयका नियन्त्रण करसकते हैं। यदि किसी देश से लगातार बड़ी मात्रामें पूंजीका निर्यात होनेलगे तो ऐसी अवस्थामें भी विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी अनुमति है।

कोषसे किसी सदस्य देषको अन्य सदस्य देशोंका द्रव्य प्राप्त होसकता है। जैसा कि पहिले बता आयेहैं कि इसका अधिकतम परिमाण निर्धारित करदिया गया है। यह ध्यानमें रखनेयोग्य बातहै कि कोष किसी देशकी विदेशी विनिमयकी हाटका स्थान ग्रहण नहीं कररहा है। साधारणत: सभी देश अपनी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय देनीका प्रबन्ध स्वयमेव पूर्ववत् ही करेंगे। वह कोषसे अन्य देशोंके द्रव्यकी प्रार्थना तभी करेंगे जबकि उनके लिए अन्य द्वार बन्द होगये हों। कोषभी उनकी सहायता सीमित मात्रामें ही करसकता है क्योंकि पहिलेतो कोषके पास विदेशी विनिमय सीमित है तथा दूसरे सबसे बड़ी बात यहहै कि यदि किसी देशकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीकी

विषमता प्रतिवर्ष बढ़तीही जारही है और वह पर्याप्त मात्रामें विदेशी विनिमय उपार्जित नहीं कर पारहाहै तो इसका आशय यह निकला कि उस देशका आर्थिक सन्तुलन विकृत होगया है। इसप्रकार देश को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय देनीकी पूर्तिके लिए कोषपर ही निर्भर न रहकर आर्थिक सन्तुलनकी चेष्टा करनी चाहिए। इस कार्यमें कोष इस प्रकारके सदस्यको उपयुक्त परामर्श देकर सहायता करेगा। वास्तव में इस परिस्थितिमें पड़ेहुए देशको कोषपर ही निर्भर रहनेकी प्रवृत्तिको कम करने के लिए इसप्रकार का प्रबन्ध किया गयाहै कि जैसे जैसे कोषके पास ऐसे देशके द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिहोती रहेगी (अन्य देशोंके द्रव्य मोल लेनेके कारण) उसको अतिरिक्त वृद्धि (अर्थात् अपने हिस्सेके ऊपर) पर सोनेके रूपमें एक निर्धारित दरसे शुल्क देना पड़ेगा। इस शुल्ककी दर १/२ प्रतिशतसे आरम्भ होकर अतिरिक्त वृद्धिके परिमाण और अवधिके अनुसार ४ प्रतिशत तक होसकती है। यदि किसी का द्रव्य कोषमें इतना अधिक और इतने अधिक समयसे जमा होगया है कि यह दर ४ प्रतिशत तक पहुंचगयी है तो कोष इस देशको आदेश देगा कि वह इस अवस्थाको ठीक करे। कोईभी देश कोषसे अपने अतिरिक्त द्रव्यको सोनेसे अथवा किसी अन्य विनिमयसाध्य द्रव्यसे पुनः मोल लेसकता है।

यदि कोषके पास किसी सदस्य देशके द्रव्यकी मांग बहुत बढ़जाये और कोष सभी प्रार्थी देशोंकी मांग पूरी करनेमें असमर्थ हो तो इस प्रकारके द्रव्यको अपर्याप्त घोषित करदिया जाताहै और प्रार्थी देशोंको उनकी आवश्यकतानुसार बांट दिया जाता है। कोष अपर्याप्त द्रव्यवाले देशके द्रव्यको सोना बेचकर अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त करनेकी भी चेष्टा करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषके प्रबन्धमें सोनेको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। सोना इस कोषकी सबसे अधिक द्रव्य सम्पत्ति है जिससे किसी भी देशका द्रव्य प्राप्त कियाजा सकता है भिन्न भिन्न देशोंके द्रव्योंकी आपसी विनिमयकी दरको निर्धारित करनेके लिए सोना माध्यमका कामभी करता है। क्योंकि प्रत्येक सदस्य देशके द्रव्यका मूल्य सोने (अथवा संयुक्तराज्य के डालर) के परिमाणमें निर्धारित रहता है। अतएव इस आधारपर भिन्न भिन्न द्रव्योंका आपसका विनिमय-मूल्य स्वयंहो निर्धारित हो जाता है।

परन्तु सोनेके इस स्थानसे यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय

द्रव्य-कोषके अन्तर्गत द्रव्य-सम्बन्धी प्रबन्ध स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके समान है। इस नवीन योजनाके अन्तर्गत स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिकी स्थापना करना आवश्यक नहीं है। सबसे बड़ी बात यहहै कि विदेशी विनिमयकी दरमें १० प्रतिशत तक अन्तर किया जासकता है और कोषकी अनुमतिसे अधिक मात्रामें भी। यह सुविधा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत नहीं पायीजाती। इसका अभिप्राय यहहै कि इस नवीन प्रबन्धमें किसीभी देशको अपनी आन्तरिक व्यवस्थाको स्थिर विदेशी विनिमयकी दरके आधीन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषने अपना कार्य मार्च १९४७ से आरम्भ किया। अनक देशों ने कोषसे सहायता प्राप्तकी है। उदाहरणके लिए भारतने कोषसे १९४८-४९ में लगभग १० करोड़ डालरका विदेशी विनिमय (किसीभी १२ महीनेकी अवधिके अन्दर यह परिमाण भारतके लिए अधिकतम है) प्राप्तकिया। सितम्बर १९४९के अवमूल्यन का निर्णयभी कोषकी अनुमतिसे हुआ। कोषके कार्योंकी आलोचना करनका अभी उपयुक्त समय नहीं हुआ है। युद्धजनित विकृतियोंका समाधान अभीतक नहीं हो सका है। अनेक देशोंमें विदेशी विनिमय नियन्त्रण बनाहुआ है। आशंका इसबात की है कि इस कोषका कार्य राजनीतिक परिस्थितियोंसे विशेष प्रकारसे प्रभावित न होजाये। इसके अतिरिक्त कोषके कार्योंकी सफलताके लिए यह आवश्यकहै कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्यभी उसके उद्देश्योंके अनुकूल हों।

विश्वबैंक

ब्रेटन वुड्स् द्रव्य-सम्मेलनमें आर्थिक निर्माण और उत्थानके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंककी स्थापनाकी योजनाभी बनायीगयी। इस बैंकके निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

(१) सदस्य देशके आर्थिक निर्माण कार्यके लिए, युद्धसे क्षत देशोंके पुनरुत्थान के लिए और पिछड़ेहुए देशोंके उत्पत्तिके साधनोंकी उत्पादकता बढ़ानेके लिए पूंजी प्राप्त करवानेमें सहायता करना।

(२) विदेशी पूंजीपतियों को गारंटी देकर अथवा उनके साथ सहयोग देकर पूंजी लगानेको प्रोत्साहित करना और यदि अन्य पूंजीपतियों से उचित हिसाबसे पूंजी न प्राप्त होसके तो अपनी पूंजीसे अथवा स्वयं पूंजी इकट्ठाकर उत्पादक कार्यों

के लिए उपलब्ध करना।

(३) सन्तुलित प्रकारसे दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी वृद्धि करवाना और सदस्योंकी उत्पत्तिके साधनोंकी उन्नतिके लिए और इसके द्वारा उनके जीवन-स्तरको ऊंचा करनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीको प्रोत्साहितकर उनकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनीदेनीके सन्तुलनको बनाये रखना।

(४) स्वयं अपने पाससे अथवा अपनी जमानतपर दिये गये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का इस प्रकारसे प्रबन्ध करना कि अधिक उपयोगी बड़ी अथवा छोटी आवश्यक योजनाको प्रथम स्थान दियाजाये।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी लगानेसे उत्पन्न प्रभावोंको ध्यानमें रखतेहुए अपना कर्तव्य पालन करना और युद्ध समाप्तिपर युद्धकालीन आर्थिक व्यवस्थाको शान्ति-कालीन व्यवस्थामें परिणत करनेमें सहायता देना।

विश्व बैंककी अधिकृत पूंजी १० अरब डालरहै जो अन्तर्राष्ट्रीय कोषकी भांति सदस्य देशोंसे हिस्सोंके रूपमें प्राप्त होनी चाहिए। भारतका हिस्सा ४० करोड़ है। प्रत्येक देशको अपने हिस्सेका केवल २० प्रतिशत (१८ प्रतिशत अपने द्रव्यमें और २ प्रतिशत सोनेके रूपमें) बैंकको देना पड़ता है। शेष ८० प्रतिशतको बैंक उधार लिएहुए अथवा गारंटी कियेहुए ऋणके भुगतानके लिएही मांग सकता है।

बैंक जिस देशको पूंजी उधार देताहै अथवा जिस देशसे पूंजी प्राप्त करताहै, उसे उस देशकी स्वीकृति लेनी पड़ती है। बैंक सदस्य देशोंकी सरकारकोही ऋण देता है। वहभी उसकी ऋणकमेटी से स्वीकृत कार्योंके निमित्तही। अन्य संस्थाएंभी बैंकसे ऋण प्राप्त करसकती हैं यदि उनकी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक, मूलधन ब्याज और अन्य व्यय देनेकी गारंटी लें। बैंकको इस बातका भी प्रबन्ध करना पड़ताहै कि जिस कार्यके लिए ऋण दियागया हो, वह उसी कार्यपर उचित ढंगसे लगाया जाये। बैंकका एक मुख्य कार्य यहभी है कि वह प्रार्थना करनेपर सदस्य देशोंमें यथार्थता-ज्ञात करनेवाले कमीशनको भेजे। प्रत्येक ऋणके सम्बन्धमें उसकी अवधि, ब्याजकी दर और मूलधन लौटानेका समय बैंक निश्चित करेगा। गारंटी कियेगये ऋणपर १० वर्षतक बैंक १ से १ १/२ प्रतिशत प्रतिवर्ष ऋणी देशसे कमीशन लेगा।

विश्व बैंककी स्थापना जून १९४६ में हुई। तबसे इसने अनेक सदस्योंको ऋण

उपलब्ध किया है। भारतको भी अभीतक दो ऋण मिले हैं। पहिला ऋण १५ वर्ष के लिए, ३·४ करोड़ डालरका, रेलके विस्तारके लिए दियागया। जिसपर तीन प्रतिशत ब्याज और १ प्रतिशत कमीशन लगाया गया। दूसरा ऋण, १ करोड़ डालरका, भूमिसुधारके कार्यके लिए अक्तूबर १९४९ में प्राप्त हुआ। एक और तीसरे ऋण की बातचीत चलरही है।

इस प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय बैंककी अत्यन्त आवश्यकता थी। दो महायुद्धोंके अन्तर्कालीन समयमें अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीके लगावसे यह अनुभव हुआ कि इसकी व्यवस्था ठीक नहीं चलरही है। कभी विदेशी पूंजी बड़ी मात्रामें मिलजाती थी और कभी बिल्कुलही नहीं मिलती थी। अतएव एक इस प्रकारकी संस्थाकी आवश्यकता जान पड़ने लगीथी जो स्वतन्त्र दीर्घकालीन पूंजीके अन्तर्राष्ट्रीय वितरण और लगाव का ठीक प्रबन्ध करसके और उसको प्रोत्साहन भी देसके। इस कार्यमें विश्वबैंक बहुत उपयुक्त सिद्ध होगा। यह ध्यान देने योग्य बातहै कि विश्वबैंक अन्य पूंजीपतियोंके विदेशमें पूंजी लगानेका स्थान स्वयं नहीं लेना चाहता। वहतो उनको गारंटी देकर और उनके साथ सम्मिलित होकर अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीके लगावको उत्साहित करना चाहता है। इस प्रकारके कार्यको अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष नहीं करसकता क्योंकि उसको अपना धन द्रव रूपमें रखना पड़ताहै इन सभी कारणोंसे विश्वबैंक की स्थापनाका सभी देशोंने स्वागत किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्वबैंकके कार्योंका निकट सम्बन्ध है। किसीभी देशमें द्रव्यकी स्थिरताके लिए आवश्यकहै कि उसमें उत्पादक कार्योंकी वृद्धि कीजाये जिससे विदेशी व्यापारकी वृद्धि होकर ऋणी देश बैंककी देनदारी पूरी करसके।

अभी हमने बताया कि विश्वबैंकने गत तीन वर्षोंमें अनेक आर्थिक कार्योंके लिए अनेक सदस्योंको पूंजी उपलब्धकी है। विशेषकर पिछड़ेहुए देशोंको इस प्रकारकी पूंजीकी बहुत आवश्यकता है। परन्तु बैंकसे ऋण प्राप्त करनेकी शर्तें बड़ी कड़ी हैं। ब्याजकी दरभी अधिकहै और ऋण वापस करनेकी अवधिभी शीघ्रही आरम्भ हो जाती है। इन बन्धनोंके कारण भारतके सदृश देशोंको बैंकसे पर्याप्त मात्रामें ऋण मिलनेकी आशा नहीं है। बैंकके प्रबन्धक कहतेहैं कि वे बैंककी पूंजीको जोखिममें नहीं डालना चाहते। अतएव उनको बड़ी सावधानी और सतर्कतासे छानबीन करनी पड़ती है।

२८

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

प्रत्येक देश उन वस्तुओंके उत्पादनमें संलग्न रहताहै जिनके उत्पन्न करनेके लिए उसके पास उपयुक्त सामग्री उपलब्ध रहती है। उपयुक्त सामग्रीमें भूमिकी उत्पादन-शक्ति,निवासियोंकी कार्यकुशलता और संग्रहीत पूंजीकी मात्रा इत्यादि सम्मिलित हैं। प्रत्येक देश इस सामग्री द्वारा उत्पन्न कीजाने वाली वस्तुओंका, अपनी देशीय आवश्यकताओंके परिमाणतक ही नहीं वरन् उससे अधिक मात्रामें, उत्पादन करना चाहताहै और निजी आवश्यकताओं को तृप्त करने के अनन्तर बचीहुई मात्रा को दूसरे देशों द्वारा उत्पन्न उन वस्तुओंसे विनिमय करता है जिनके उत्पादनके लिए उसके पास उपयुक्त सामग्री नहीं, या अपर्याप्त मात्रामें है।

वस्तुओंके अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनके लिए पृथक आर्थिक सिद्धान्त निर्माण करनेकी आवश्यकता इसलिएहै कि उत्पादनके साधन श्रम, पूंजी इत्यादि एक देशसे दूसरे देशमें जानेके लिए उतने गतिशील नहीं होते जितनेकि एक देशके एकभाग से दूसरे भागमें जानेके लिए। इसके कईएक कारणहैं। श्रमजीवी भाषा अथवा रहनसहन की शैलीमें भेद होनेके कारण अधिक वेतन पानेपर भी अपना देश छोड़कर दूसरेमें जानेसे हिचकिचाते हैं। इसीप्रकार पूंजीपति अपनी पूंजीका परदेशमें लगाना अधिक जोखिमपूर्ण समझते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक सरकारें मनुष्यों अथवा पूंजीके आयात-निर्यातपर नियन्त्रण लगा देतीहैं।

उद्योग धन्धों के स्थानीकरण से सम्बन्ध

ओहलीन के मतानुसार तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका सिद्धान्त उद्योग धन्धोंके स्थानी-

करण सिद्धान्तका केवल एक विशेष रूपहै, क्योंकि देखनेमें आताहै कि एकही दशके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों का स्थानीकरण होजाता है। इसका कारण, चाहे वह भाग एकही देशका प्रान्त हो अथवा दूसरे देशका भाग, उत्पादन के साधनोंकी भिन्नताही है। बम्बईमें सूती कपड़ा बुननेके कारखाने इसलिए मिलते हैं कि उस प्रान्तमें कपास पैदा करनेके लिए श्रेष्ठतम भूमि पायीजाती है और वहां का जलवायु कातने और बुननेके कार्यके लिए अधिक उपयोगी है। इसीप्रकार कश्मीरमें शालदुशाले इसलिए बुने जातेहैं कि यद्यपि वहां इनकेलिए कच्चा माल अन्य स्थानोंसे मंगाना पड़ता है परन्तु बुननेके कार्यमें कुशल श्रम पर्याप्त मात्रामें मिलजाता है। यदि किसी प्रान्तमें कोई उत्पादन का साधन अधिक मात्रामें मिलता है तो स्वाभाविकही है कि उस प्रान्तमें उसका मूल्य कम होगा और जिस वस्तुके उत्पादनमें उस साधनका अधिक मात्रामें प्रयोग कियाजा सकताहै उसका उत्पादन-व्यय उस प्रान्तमें न्यूनतम होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वीपर साधनोंकी प्राकृतिक विभिन्नताही उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणका मुख्य कारण है, परन्तु इस स्थानपर अन्य कारणोंका भी जो स्थानीकरणमें सहायता देतेहैं; उल्लेख करदेना आवश्यक होगा। उत्पादन का उद्देश्य अन्ततोगत्वा उपभोगके लिए सामग्री उत्पन्न करना है। इसकारण यदि उत्पत्तिको उपभोगके स्थानतक पहुंचानेके लिए उत्पादकको इतना व्यय करनापड़े कि उपभोग के स्थानपर उस वस्तुको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोंका स्थापित करना अधिक लाभकारीहो तो उत्पादक ऐसाही करेगा। ईंट बनानेके कारखाने प्रायः उपभोग स्थानोंके पासही बनाये जातेहैं क्योंकि ईंटोंका भाड़ा उनके उत्पादन-व्ययसे कहीं अधिक होता है। बहुतसे कच्चे माल ऐसे होतेहैं कि जिनका समस्त अथवा अधिकांश भाग वस्तुमें विद्यमान रहता है। जैसे ऊनका, ऊनी कपड़ेमें। ऐसी वस्तुओंका प्रायः उपभोग-स्थान के पासही निर्माण करना श्रेयस्कर रहता है। बहुतसे माल ऐसेहैं जिनका बहुत थोड़ा अंश उत्पत्तिमें विद्यमान रहता है। कोयलेका तो तनिक अंशभी उत्पत्तिमें विद्यमान नहीं रहता। ऐसे मालोंको प्रयोगमें लानेवाले उद्योग धन्धे प्रायः उन स्थानोंपर स्थापित होजाते हैं जहां यह माल मिलता है। इसके अतिरिक्त किसी एक स्थानपर उद्योग धन्धोंके एकीकरणसे ही प्रायः बहुतसी ऐसी सुविधाएं प्राप्त होजाती हैं जो उस स्थानको उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणका केन्द्र बनादेती हैं।

कुशल श्रमकी पर्याप्त मात्रामें हरसमय उपलब्धि, यन्त्र इत्यादि बनानेमें अथवा सुधारनेके लिए सहायक धन्धों, तथा आयात-निर्यातके साधनोंका अस्तित्व इत्यादि सुविधाएं ऐसे स्थानोंपर उद्योग धन्धोंको आकर्षित करनेका कारण बनती हैं। कच्चे मालको उपभोग्य पदार्थके रूपमें परिवर्तित होनेसे पूर्व कई बीचकी श्रेणियोंमें से गुजरना पड़ताहै और एक श्रेणीसे दूसरी श्रेणीमें परिवर्तित करनेके लिए पृथक पृथक धन्धे होतेहैं। सम्भवहै कि इन पृथक पृथक धन्धोंका किसी विशेष स्थानपर एकीकरण आर्थिक दृष्टिसे वांछनीय हो। कपास बेलने, कातने तथा कपड़ा बुननके कारखाने पृथक पृथक होतेहैं। इनके एकीकरणसे कपड़ेके उत्पादन-व्ययमें कमी होनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार कई यन्त्र ऐसे निर्माण कियेजातेहैं कि उनके द्वारा अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन व्यय बहुतही कम होजाता है। इस प्रकार के उद्योग धन्धोंका स्थानीकरण बड़ेबड़े उपभोग-स्थानोंके पास होजाता है और इनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका वितरण देश अथवा संसारभर में होता है।

तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त भिन्न भिन्न देशोंमें वस्तु-निर्माणके उत्पादन व्ययमें अन्तर होनेका ही एक विशेष रूप है। प्राचीन अर्थशास्त्री वस्तुओंके मूल्यके श्रम-सिद्धान्तके अनुयायीथे। हम देख चुकेहैं कि आधुनिक विद्वानोंके मतानुसार सीमान्त-उत्पादन-व्यय मूल्यका आधारहै और इसी सीमान्त उत्पादन-व्ययकी सहायतासे हम यह ज्ञान प्राप्त करनेमें सफल होसकतेहैं कि अमुक देश अमुक वस्तुके उत्पादनके लिए उपयुक्त है। मानलीजिए कि दो देशोंमें केवल दोवस्तुओं का ही परस्पर विनिमय होरहा है। भारत पाकिस्तानसे कपास मंगाता है और उसके विनिमयमें पाकिस्तानको कपड़ा देता है। यह विनिमयका कार्य उसी अवस्थामें सम्पन्न होनेकी सम्भावनाहै जबकि इसके द्वारा दोनों देशोंका स्वार्थ सिद्ध होरहा हो अर्थात् भारतको कपड़ा देकर कपास लेनेमें और पाकिस्तानको कपास देकर कपड़ा लेनेमें लाभ प्राप्त होता हो। आंकड़ों द्वारा हम यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे कि यह अवस्था सदैव उपलब्ध नहीं, यह केवल उसीसमय उपलब्ध होतीहै जबकि एक देशमें केवल एक (भारतमें कपड़ा) और दूसरे देशमें केवल दूसरी

(पाकिस्तानमें कपास) वस्तुका ही सीमान्त उत्पादन-व्यय कमहो). मानलीजिए भारतमें कपासकी एक गांठका सीमान्त उत्पादन-व्यय २०० रु० और कपड़ेके एक थानका उत्पादन-व्यय १०० रु० है। इसके विपरीत पाकिस्तानमें कपासकी एक गांठ का उत्पादन-व्यय १०० रु० और कपड़ेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय २०० रु० है। स्पष्टहै कि इस स्थितिमें दोनों देशोंका क्षेम इसमें है कि पाकिस्तान केवल कपास के उत्पादनमें उत्पादनके साधनोंका प्रयोग करके अधिकसे अधिक मात्रामें कपास उत्पन्न करे और भारत केवल कपड़ेके उत्पादनमें उत्पादनके साधनोंको लगाकर अधिकसे अधिक कपड़ा पैदाकरे। फिर दोनों परस्पर विनिमय करलें। अन्यथा भारत को स्वयं कपास पैदा करनेमें अधिक उत्पादन व्यय उठाना पड़ेगा और पाकिस्तान को स्वयं कपड़ा बुननेमें। संसारमें बहुतसी वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन इसी लिए होताहै कि देनेवाले देशमें उस वस्तुका सीमान्त उत्पादन व्यय लेनेवाले देशसे निरपेक्ष रूपमें कम होता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनका होना उस अवस्थामें भी सम्भव होसकता है जबकि एक देशमें दोनों वस्तुओंके सीमान्त उत्पादन व्यय दूसरे देशसे कम हैं। परन्तु उस देशको उनमेंसे केवल एकही वस्तुके उत्पादनमें अपने उत्पादनके साधनोंका प्रयोग करनेसे सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ होनेकी सम्भावना होतीहै। कारण यहहै कि प्रत्येक देशमें उत्पादनके साधनोंकी मात्रा सीमित है। इसलिए उनके प्रयोग द्वारा अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा से उस देशके उत्पादक उसी वस्तुके उत्पादनमें अपने साधनोंको प्रयुक्त करेंगे जिसमें कि उन्हें सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ मिलनेकी आशा है। मानलीजिए भारतमें एक गांठ कपासका सीमान्त उत्पादन व्यय १०० रु० और कपड़ेके एक थानका सीमान्त उत्पादन व्यय ५० रु० है। यदि भारत दोनोंही वस्तुओंको अपनेही देशमें उत्पन्न करले तो कपड़ेके थान और कपासकी गांठका परस्पर विनिमय मूल्य २:१ होगा अर्थात् २ थानोंके बदलेमें एकगांठ कपास मिलसकेगी। अब मानलीजिए पाकिस्तान में कपासकी एक गांठका सीमान्त उत्पादन व्यय १५० रु० और कपड़ेके एक थान का सीमान्त उत्पादन व्यय १०० रु० है। यदि पाकिस्तान दोनों वस्तुओंको अपने देशमें ही उत्पन्न करले तो उस देशमें कपड़ेके थान और कपासकी गांठका विनिमय ३:२ के अनुपातमें होगा। अब यदि पाकिस्तान कपासकी २ गांठें उत्पन्न करके भारत भेजदे तो भाड़ा, बीमा इत्यादि व्ययकी गणना न होनेपर हम कहसकते

है कि भारतमें उसे ३ के स्थानपर ४ कपड़ेके थान मिल सकेंगे। इसी प्रकार भारत यदि कपड़ेके ३ थान उत्पन्न करके पाकिस्तान भेजदे तो भाड़ा, बीमा आदिके व्यय की गणना न करनेपर उसे १ १/२ गांठके स्थानपर २ गांठ कपास मिलेगी। इससे सिद्धहुआ कि यद्यपि भारतमें कपास और कपड़े दोनोंका सीमान्त उत्पादन व्यय पाकिस्तान की अपेक्षा कमहै परन्तु उसका तुलनात्मक क्षेम कपड़ेके उत्पादनमें ही अपने साधनोंको प्रयुक्त करनेमें है। ऐसी स्थितिभी असम्भव नहीं है कि एक देश में दोनों वस्तुओंके सीमान्त उत्पादन व्यय दूसरे देशसे कमहों परन्तु फिरभी किसी एक देशको भी उनमेंसे एकही वस्तुको उत्पन्न करके दूसरेसे दूसरी वस्तु विनिमयद्वारा प्राप्त करनेमें तनिकभी लाभ न हो। मानलीजिए भारतमें कपड़ेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय ५० रु० और कपासकी गांठका सीमान्त उत्पादन-व्यय १०० रु० है और पाकिस्तानमें क्रमश: ७५ रु० और १५० रु०है। भारत यदि दोनों वस्तुएं अपने देशमें उत्पन्नकरे तो उनका पारस्परिक विनिमय २:१ के अनुपातमें होगा और यही अनुपात पाकिस्तानमें भी होगा। इसकारण न तो भारतको कपड़ा उत्पन्न करके उसके विनिमयसे पाकिस्तानसे कपास लेनेमें कोई लाभहै और इसीतरह न पाकिस्तानको कपास उत्पन्न करके भारतसे कपड़ा लेनेमें। इससे सिद्धहुआ कि यदि एक देश किसी दूसरी वस्तुको और दूसरा किसी अन्य वस्तुको निरपेक्ष रूपमें कम उत्पादन-व्ययसे उत्पन्न करसकता है तो उन दोनों वस्तुओंके अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन होनेकी सम्भावना है। इसके अतिरिक्त जब एक देश दोनों वस्तुओंको दूसरे देशकी अपेक्षा कम व्ययमें उत्पन्न करसकता है तो भी उन देशोंमें अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन होनेकी सम्भावनाहै यदि एक वस्तुके उत्पादनसे सापेक्ष रूपमें दूसरी वस्तुके उत्पादनसे अधिक लाभ प्राप्तहो सकता है। परन्तु यदि उत्पादन-व्यय ऐसे हों कि दोनों वस्तुओंको एकही देशमें उत्पन्न करनेपर भी उनका पारस्परिक विनिमय उसी अनुपातमें हो पाताहो जिस अनुपातमें कि एकवस्तु स्वयं उत्पन्न करके दूसरीवस्तु दूसरे देशसे विनिमय द्वारा प्राप्त करनेसे तो ऐसी अवस्थामें उन वस्तुओंके अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयकी तनिक भी सम्भावना नहीं है।

इस सम्बन्धमें इतना कहना आवश्यकहै कि तुलनात्मक उत्पादन व्ययके सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि जो वस्तु विनिमय द्वारा दूसरे देशसे प्राप्त कीजाती है उसके उस देशमें उत्पादन का नितान्त अभाव हो। ऐसाभी होसकता है कि दूसरा देश

उस वस्तुको उतनी मात्रामें उत्पन्न न करपाता हो, जिससे उसकी अपनी तथा दूसरे देशकी सम्मिलित मांग पूरी होसके।

तुलनात्मक उत्पादन व्ययका सिद्धान्त उस स्थितिमें भी लागू होताहै जबकि एक देश बहुतसी वस्तुओंके विनिमयसे किसी अन्य देशसे बहुतसी वस्तुएं प्राप्त कररहा हो। इस स्थितिमें कहाजा सकताहै कि प्रत्येक देशसे निर्यात कीजानेवाली वस्तुओं के उत्पादनमें उस देशमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी अपेक्षा उस देशको सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ होरहा है।

अन्तमें यह कहदेना अनुचित न होगा कि तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धान्तको उत्पादन व्ययको द्रव्यके रूपमें परिवर्तित करके सिद्ध करना तर्ककी दृष्टिसे दूषितहै। मौद्रिक उत्पादन व्यय उत्पादनके साधनोंको दियेगये मौद्रिक मूल्यका ही रूपान्तर है और इन साधनोंका मौद्रिक मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी अनुपस्थितिमें वह न होता जो इस व्यापारकी उपस्थितिमें है। वास्तवमें अकेले उत्पादन व्ययका मौद्रिक रूपही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका कारण नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारभी इस रूपमें उनका कारण होसकता है। उत्पादन व्ययका वास्तविक अर्थ उत्पादनके साधनोंकी उस मात्रासे है जो वस्तु विशेषके उत्पादनके लिए आवश्यक हैं। उन साधनोंको उस वस्तु विशेषके उत्पादनमें लगानेसे किसी अन्य वस्तुके उत्पादनमें नहीं लगाया जासकता है। उस अन्य वस्तुको उत्पन्न न करनेसे उस देशको जो हानि हुईहै वह वस्तु विशेषका व्ययहै जिसे अवसर व्यय अथवा वैकल्पिक व्ययभी कहा जाताहै और यही व्यय तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धान्तका आधार है।

मांग की लोच और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

हम यह देखही चुकेहैं कि वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन उसी अवस्थामें सम्भवहै जबकि लेनेवाले और देनेवाले दोनों देशोंका हित अपनी कुछ वस्तुएं देकर दूसरे देशसे कुछ वस्तुएं लेनेमें हो। हम देखचुके हैं कि भारतमें कपास की गांठ और कपड़ेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय क्रमशः १०० रु० और ५० रु० है और पाकिस्तान में यही व्यय १५० और १०० रु० है, तो कपास पैदा करके भारतसे कपड़ा लेनेमें पाकिस्तान को कपासकी २ गांठें देकर कपड़ेके ४ थान मिलजाते है और स्वयं दोनों

वस्तुएं उत्पन्न करनेपर केवल कपड़ेके ३ थानोंसे विनिमय होना सम्भव था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयसे पाकिस्तानको अधिकसे अधिक कपड़ेके एक थान की अतिरिक्त प्राप्ति होनेकी सम्भावना है क्योंकि यदि कपासकी २ गांठोंके विनिमय से भारतको कपड़ेके ४ से अधिक थान देने पड़ेंगे तो वह पाकिस्तानसे कपास लेनेके स्थानमें स्वयं उत्पन्न करना आरम्भकर देगा। इसी प्रकार यदि पाकिस्तानको २ गांठोंके बदलेमें कपड़ेके ३ थानसे कम मिलेंगे तो वह कपड़ा स्वयं उत्पन्न करना आरम्भ कर देगा। इस एकथान में से भारत और पाकिस्तानको लाभके रूपमें प्राप्त अंश भारतकी कपासके लिए और पाकिस्तानकी कपड़ेके लिए मांगकी लोचकी सहायतासे किया जासकता है। यदि भारतकी कपासके लिए मांग अधिक लोचदार है तो इस लाभका मुख्य अंश भारतको प्राप्त होगा। क्योंकि यदि पाकिस्तान अपनी दो कपासकी गांठोंका विनिमय-मूल्य कपड़ेके तीन थानोंसे थोड़ाभी अधिक करेगा तो भारत द्वारा कपासके लिए कुल मांगमें भारी कमी आजाने से पाकिस्तानको इस विनिमय द्वारा प्राप्त होनेवाले कुल लाभमें भी भारी कमी होनेकी सम्भावना है। भारत द्वारा कपासके लिए मांग कम लोचदार होनेसे लाभका मुख्य अंश पाकिस्तान को प्राप्त होगा और थोड़ा अंश भारत को। पाकिस्तानकी कपड़ेकी मांग अधिक अथवा कम लोचमयी होनेसे यह अनुमान लगाया जासकता है कि कौनसा देश लाभ का मुख्य अंश प्राप्त करेगा और कौनसा अल्पांश। इसप्रकार वस्तुओंके उत्पादन-व्यय और उनकी मांगकी लोचके आधारपर दो देशोंमें उनके पारस्परिक विनिमयके भाव निश्चित होतेरहते हैं। समय समयपर इन भावोंमें परिवर्तन होते रहते हैं। यदि परिवर्तन मांगमें परिवर्तन होनेके कारण हों तो वह देश जिसकी वस्तुओंकी मांग बढ़जाती है अथवा जिसकी वस्तुओंकी मांगकी लोच कम होजाती है, अधिकतर लाभ प्राप्त करता है। उत्पादन-व्ययमें परिवर्तन होनेसे लाभ-हानिका निर्णय करना इतना सुगम नहीं। क्योंकि होसकता है कि उत्पादन-व्यय बढ़नेसे यदि उस वस्तुकी मांग अधिक लोचदार नहीं है तो पहिलेसे अधिक मूल्यभी प्राप्त होसके। इसीप्रकार उत्पादन-व्यय कम होनेपर प्राप्त मूल्यके कम होनेकी भी सम्भावना है। केवल इतना होसकता है कि मूल्य कम होनेसे उस वस्तुकी मांग बढ़जाये और कुल प्राप्त लाभ पहिलेसे अधिक हो। इन भावोंमें परिवर्तन उस देशके लिए अधिक महत्वपूर्ण है जो अपनी उत्पत्तिका अधिकांश दूसरे देशोंको भेजदेता है।

२६

उन्मुक्त और संरक्षित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

उन्मुक्तता के लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्तका अर्थ यहहुआ कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें प्रत्येक देश उन वस्तुओंके उत्पादनमें संलग्न होगा जिसको उत्पन्न करनेकी उसे अन्य देशोंकी अपेक्षा सापेक्ष रूपमें अधिक सुविधा प्राप्त होगी और अन्य वस्तुओंको जो उसे भाड़ा इत्यादिके व्ययकी गणनाके अनन्तर स्वयं उत्पन्न करनेकी अपेक्षा अन्य देशोंसे कम मूल्यपर मिलसकती हैं, उन देशोंसे मंगवायेगा। इसप्रकार संसारके प्रत्येक देशमें मिलनेवाले उत्पादनके साधन ऐसी वस्तुओंके उत्पादनमें लगाये जायेंगे जिनकी वे अधिकतम उत्पत्ति करनेके योग्य होंगे। फल-स्वरूप सब प्रकारकी वस्तुओंकी संसारमें अधिकतम उत्पत्ति होगी और प्रत्येक देश के निवासियोंकी वस्तुओंके रूपमें आय उच्चतम होगी। यह कार्य सुचारु रूपसे तभी चल सकताहै जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्मुक्त हो।

इसके अतिरिक्त विविध प्रकारके कच्चे माल लोहा, कोयला, कपास, पटसन इत्यादिका संसारके विशेष भागोंमें ही मिलना अथवा उत्पन्न होना सम्भव है। संसारके अन्य भाग जिनको प्रकृतिने ऐसी वस्तुओंके उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रदान नहीं की, इन वस्तुओंको अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वाराही प्राप्त करसकते हैं। अन्यथा उन्हें इस प्रकारकी वस्तुओंसे वंचित रहना पड़ेगा। आधुनिक जीवन तथा रहन सहनके लिए इस प्रकारकी वस्तुओंकी अत्यन्त आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुएभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका उन्मुक्त होना कल्याणकारी ही सिद्ध होता है। श्रमविभाजन के लाभोंका उल्लेख होचुका है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमविभाजन द्वारा समस्त संसारमें वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रा बढ़नेसे प्राप्त होनेवाले लाभ तभी उपलब्ध होसकते हैं जबकि वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन कृत्रिम प्रतिबन्धों द्वारा न रोकाजाये।

इसके अतिरिक्त यहतो स्पष्टहै ही कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके उन्मुक्त होनेसे किसीभी देशमें किसी अन्य देशसे आनेवाली वस्तुओंके मूल्य उस स्थितिकी तुलना में तो कमही होंगे जबकि उनके आयातपर कर लगादिये जायें। मूल्योंका कम होना उपभोक्ताओंके लिए हितकारी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी उन्मुक्तताके कारण ऐसे एकाधिकारियोंका जो उपभोक्ताओंके हितका ध्यान न रखतेहुए केवल अधिकतम लाभ प्राप्त करनेकी धुनमें उन्मुक्त रहतेहैं, स्थापित होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होजाता है।

संरक्षण

आय-कर और संरक्षण

जब वस्तुओंके आयात-निर्यातपर करों द्वारा प्रतिबन्ध लगादिये जातेहैं तो उसे व्यापारके संरक्षणका नाम दियाजाता है। आयात-निर्यात कर दो प्रकारके होते हैं। एकतो राजस्व-कर और दूसरे संरक्षण-कर। राजस्व-कर लगानेसे किसीभी देशका उद्देश्य अपना राजकीय कार्य चलानेके लिए अधिक आय प्राप्त करना होताहै और संरक्षण-करों द्वारा स्वदेशी उद्योग धन्धोंको विदेशी प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित करके प्रोत्साहित करना। ये दोनों उद्देश्य परस्पर विरोधीहैं क्योंकि अधिकतम संरक्षण प्रदान करनेवाले कर वे करहैं जिनके किसी वस्तुके आयातपर लगा देनेसे उस वस्तु का आयात देशमें नितान्त बन्द होजाता है और इसकारण सरकारको तनिकभी आय प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत अधिकतम आय उन करोंसे प्राप्त होगी जिनके किसी वस्तुपर लगानेसे किसी वस्तुके आयातमें तनिकभी नहीं या बहुत थोड़ी कमी आती है।

संरक्षण के लाभ और हानियां

बहुतसे आधुनिक अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार संरक्षण-करोंका लगायाजाना कई आर्थिक अथवा अनार्थिक कारणोंसे वांछनीय है। कहाजाता है कि किसी देशका किसी वस्तुकी पूर्तिके लिए किसी अन्य देशपर पूर्णरूपसे निर्भर करना उचित नहीं क्योंकि

युद्धके समय ऐसी वस्तुकी पूर्ति बन्द होजाने के कारण उस देशको हानि पहुंचनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार किसी विशेष व्यवसाय अथवा जन-समुदायको सुरक्षित रखनेके लिए संरक्षण-करोंका लगाना आवश्यक समझा जाताहै। विशेषकर कृषकों की रक्षा इन करोंद्वारा करनेके लिए बहुतसे नीतिज्ञ अपना मत प्रकट करते हैं।

संरक्षण-करों द्वारा सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें उत्पत्तिकी मात्रा बढ़नेकी सम्भावना होजाती है। परन्तु यदि उत्पत्तिकी मात्रा बढ़नेसे वस्तुओंका आयात कम हो जाताहै तो अन्य वस्तुओंका निर्यातभी कम होगा और यदि किन्हीं विशेष उद्योग धन्धों में उन्नति होनेके कारण उत्पादनके साधनोंकी अधिक आवश्यकता होजाती है तो ये साधन अन्य उद्योग धन्धोंके लिए उपलब्ध नहीं रहते और उन उद्योग धन्धोंमें अवनति से होनेवाली हानि संरक्षित धन्धोंमें होनेवाले लाभसे अधिक होसकती है।

संरक्षण-करोंकी सहायतासे उत्पन्न वस्तुओंकी खपतके लिए विदेशीके स्थानपर स्वदेशी बाज़ारकी स्थापना अथवा प्रसारकी सम्भावना है। परन्तु जैसा हम ऊपर कहचुके हैं, स्वदेशी बाज़ारके प्रसारके साथ विदेशी बाज़ारका संकुचित होतेजाना भी अनिवार्यसा है।

सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें उन्नति होनेसे उनमें काम करनेवालोंके पास अधिक क्रय-शक्ति आनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंके उत्पन्न करने वाले उद्योग धन्धोंमें भी उन्नति आने लगतीहै परन्तु निर्यात कीजानेवाली वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोंमें अवनति होनेसे उनमें काम करनेवालोंकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोंमें भी अवनतिका प्रादुर्भाव सुनिश्चित है। संरक्षण-करोंकी सहायतासे किसी देशसे निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रा उस देशमें आयात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रासे अधिककी जासकती है। आयात कीजानेवाली वस्तुओंको कमकरना इसलिए अभीष्टहै कि विदेशी ऋणोंके परिमाणमें अधिकाधिक वृद्धि न होती चलीजाये। परन्तु वस्तुओंके आयातमें ही केवल कमी करनेसे इस वृद्धिको रोकना सम्भव नहीं है। संरक्षण-करोंके कारण लोगोंको विदेशोंमें ऋण लेनेमें कोई बाधा नहीं आती। जबतक परोक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी मात्रा बढ़ती रहतीहै तो प्रत्यक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी मात्रामें कमी करनेसे परिणाम केवल प्रत्यक्ष रूपमें निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रामें

कमी करना होगा। संरक्षण-करोंका लगाना इसलिएभी उचित समझा जाताहै क्योंकि अन्य देशोंने इस प्रकारके कर लगारखे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कोईभी देश संरक्षण-कर लगाकर न केवल अपनीही अपितु अन्य देशोंकी भी हानि करता है। परन्तु इसकार प्रतिकार यह नहींहै कि अन्य देशभी उसी प्रकारका कर लगाकर अपनी तथा उस देशकी औरभी अधिक हानि करनेका अपराध करें।

कई लोगोंका ऐसा विश्वासहै कि संरक्षण-करों द्वारा देशीय श्रमजीवियोंको मिलनेवाले वेतनोंको अन्य देशोंमें इस वर्गको मिलनेवाले वेतनसे अधिक रखा जा सकता है। परन्तु दो देशोंमें श्रमजीवियोको मिलनेवाले वेतनोंमें अन्तरको दूसरे देशके श्रमजीवियोंको अपने देशमें आनेसे प्रतिवन्ध द्वारा रोककरभी सदैव स्थित रखा जासकता है। संरक्षण-करोंको विभिन्न देशोंमें विभिन्न वस्तुओंके उत्पादन-व्यय सम करनेके लिए प्रयुक्त करनाभी उचित समझा जाताहै परन्तु यदि सारे संसारमें उत्पादन-व्यय एकसे होजायेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जो इनमें अन्तरके आधारपर ही होपाता है, जड़से मिटजायेगा। इसके अतिरिक्त अधिकतम उत्पादन व्ययवाले उद्योग धन्धोंको अधिकतम संरक्षणकी आवश्यकता होगी। अर्थात् उत्पादन के साधनोंका कुशलतम प्रयोग करनेकी चेष्टा करना निरर्थकसा होजायेगा।

संरक्षण-करोंके प्रभाव दो प्रकारके होते हैं। एक ओर तो उपभोक्ताओंको मूल्य में वृद्धि होनेके कारण हानि सहन करनीपड़ती है और दूसरी ओर उत्पत्तिमें वृद्धि होनेसे उनकी वास्तविक आयमें वृद्धि होती है। यदि उत्पत्तिकी मात्रामें महत्तम वृद्धि के साथसाथ मूल्योंमें लघुतम वृद्धिहो तो संरक्षण-कर देशके लिए हितकारीही होंगे और यदि मूल्योंमें महत्तम वृद्धिके साथ उत्पत्तिमें लघुतम वृद्धिहो तो संरक्षण-कर उस देशके लिए हानिकारक होंगे। जहांतक मूल्योंमें वृद्धि होनेके कारण उपभोक्ताओंकी हानिका सम्बन्ध है, इसमें तो तनिकभी सन्देह नहीं कि उन्हें हानि होतीहै और इस हानिको निश्चित रूपसे आंकाभी जासकता है परन्तु सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें उत्पत्तिकी मात्राकी वृद्धिको वृद्धि मानलेना उचित नहीं। इस वृद्धि में से अन्य उद्योग धन्धोंकी उत्पत्तिमें संरक्षण-करोंके कारण जो कमी हुईहै, उसको निकालनाभी आवश्यक है। ऐसा करनेपर प्रतीत होगा कि संरक्षण-करोंके कारण लाभकी अपेक्षा हानि अधिक होनेकी सम्भावना है।

संरक्षण-करोंका लगायाजाना किसी विशेष उद्योग धन्धेमें वर्तमान बेकारीकी

समस्याको सुलझानेके लिए अत्यन्त लाभकारी बताया जाताहै। व्यापारकी उन्मुक्तता के पक्षपातीभी यह माननेके लिए तैयारहैं कि किसी विशेष उद्योग धन्धेका संरक्षण-करों द्वारा पुनरुत्थान किया जासकता है क्योंकि संरक्षणकी सहायतासे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होना अनिवार्य है। परन्तु यदि संरक्षण-करों द्वारा किसी विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारी तो दूर होजाये और अन्य उद्योग धन्धोंमें बेकारी बढ़जाये तो कर लगाना विफलसा रहेगा क्योंकि उनके लगानेसे हमारा उद्देश्य कुल बेकारी को दूर करनाथा न कि उस विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारीही को। ऐसाभी असम्भव नहीं कि निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धों में काम करनेवाले लोगोंकी संख्या उन लोगोंसे अधिकहो जिनको सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें नया काम मिला है। ऐसी स्थितिमें तो संरक्षण-कर स्पष्टतया हानिकारक हैं।

अन्तमें आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टिसे पिछड़ेहुए देशोंमें उद्योग धन्धोंको स्थापित करनेके लिए संरक्षण-करोंका प्रयोग आवश्यक मान जाताहै विशेषकर ऐसे उद्योग धन्धोंका उनके शैशवकालमें तो संरक्षण होनाही चाहिए, कारणकि संसारके बहुतसे देशोंकी औद्योगिक उन्नति केवल इस बातपर निर्भरहै कि उन्होंने उद्योग-धन्धे स्थापित करनेका कार्य सर्वप्रथम आरम्भ करलिया था और इसकारण उत्पादन-कार्यमें अन्य देशोंसे अधिक कुशलता प्राप्त करली है। ऐसाभी होसकता है कि अन्य देशोंके पास उन्ही वस्तुओंके उत्पन्न करनेके लिए अधिक साधनहों परन्तु उन साधनोंका यथेष्ट प्रयोग इसलिए न होपाता हो क्योंकि उन साधनोंके प्रयोगके लिए स्थापित उद्योग धन्धों द्वारा उत्पन्न कीहुई वस्तुओंपर आरम्भमें पुराने चिरकालसे स्थापित उद्योग धन्धों द्वारा उत्पन्न कीहुई विदेशी वस्तुओंसे अधिक उत्पादन व्यय पड़ता है। इसकारण उन्मुक्त व्यापारके होनेसे ऐसे उद्योग धन्धोंको स्थापित करना असम्भव होजाता है। ऐसे उद्योग धन्धोंको विदेशी प्रतिस्पर्धासे कुछ कालके लिए सुरक्षित रखना अनिवार्य समझा जाताहै। इस दशामें भी संरक्षण केवल ऐसे उद्योग-धन्धोंको ही देना चाहिए जो प्रौढ़ अवस्था प्राप्त करनेपर अपने पैरोंपर खड़े होनेकी क्षमता प्राप्त करलेंगे। ऐसा कहाजाताहै कि एकबार संरक्षण प्रदान करनेपर ये शिशु उद्योग धन्धे कभीभी प्रौढ़ नहीं होपाते। इनका शैशवकाल बढ़ताही चलाजाता है और एकबार लगाए संरक्षण-करोंका राजनीतिक तथा अन्य कारणोंसे हटाना कठिन होजाता है। अस्थायी रूपमें नियुक्त कियेगये संरक्षण-करोंका स्थायी रूपमें परि-

वर्तित करना अनिवार्यसा होजाता है, क्योंकि यदि उद्योग धन्धोंकी कुछ संस्थाएं संरक्षण करोंका आश्रय लिए बिनाही जीवित रहनेकी क्षमता प्राप्त करलेती हैं तो बहुतसी ऐसी संस्थाएंभी संरक्षणके कारण स्थापित होजाती हैं जिनके संरक्षणके हटातेही नष्ट होजानेकी सम्भावना है। इसकारण उनके व्यवस्थापक संरक्षणके हटानेका सदैव विरोध करतें हैं। संरक्षण-करोंके विरुद्ध इन युक्तियोंमें भलेही सत्य हो और सत्यहै भी परन्तु पिछड़ेहुए देशोंकी औद्योगिक उन्नतिभी तबतक सम्भव नहीं जबतक उनमें स्थापित उद्योग धन्धोंकी शैशव अवस्थामें भलीप्रकार रक्षा न कीजाये। इसकारण औद्योगिक दृष्टिसे उन्नत देशोंमें उन्मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना भलेही आवश्यकहो परन्तु कम उन्नत देशोंको उस समयतक संरक्षण-करों की शरण लेनीही पड़ेगी जबतक वेभी औद्योगिक दृष्टिसे उतनेही उन्नत नहीं हो जाते जितनेकि उनके प्रतिस्पर्धी अन्य देश।

संरक्षण और डम्पिंग

संरक्षणके विरुद्ध अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार इतनी कड़ी आलोचना कीजाने परभी आधुनिक संसारमें कोई बिरलाही देश ऐसा होगा जिसने संरक्षणकी नीतिको न अपनायाहो। इस नीतिके अपनानेसे एक आर्थिक घटनाका प्रादुर्भाव हुआहै जिसने संरक्षणकी नीतिको औरभी परिपुष्ट होनेमें सहायता दीहै। इस घटनाको अंग्रेज़ीमें डम्पिंग कहते हैं। इसकी परिभाषा कई प्रकारसे कीजाती है। जबकि किसी सुरक्षित उद्योग धन्धेमें उत्पत्तिकी मात्रा इतनी अधिक होजाती है कि उसकी खपत देशमें नहीं होपाती तो शेष मात्राको बेचनेके लिए उत्पादक लोग उस वस्तुको विदेशी बाज़ारों में उस मूल्यपर बेचना स्वीकार करलेते हैं जो भाड़ा इत्यादिकी गणना करलेनेके बादभी देशमें उसी वस्तुके प्रचलित मूल्यसे कम होता है। डम्पिंगकी दूसरी परिभाषा इसप्रकार कीगयी है कि विदेशी बाज़ारोंमें उस वस्तुको उसके उत्पादन-व्यय से भी कम मूल्यपर बेचाजाता है और इस मूल्यपर बेचनेसे होनेवाली हानिको स्वदेशी बाज़ारमें अधिक मूल्यपर बेचनेसे होनेवाले लाभ द्वारा पूरा कियाजाता है। डम्पिंग, संरक्षण-नीतिकी पुष्टि दो प्रकारसे करता है। एक जिस देशमें वस्तुओंका इसप्रकार निर्यात किया जाताहै उस देशके उत्पादक अपने उद्योग धन्धोंकी इस अनु-

उचित प्रतिस्पर्धासे रक्षा प्राप्त करनेके लिए संरक्षण-करोंका लगायाजाना आवश्यक समझते हैं। दूसरे निर्यात करनेवाला देशभी इस भयसे कि विदेशी बाज़ारमें सस्ते मूल्यपर बिकीहुई वस्तु दुबारा स्वदेशमें न लौटआये, उस वस्तुके आयातपर संरक्षण-कर लगादेते है।

इस सम्बन्धमें इतना कहदेना आवश्यक न होगा कि डम्पिगकी नीतिका अनुसरण उससमय तक नहीं किया जासकता जबतक स्वदेशमें उस वस्तुके उत्पादकोंको उसके उत्पादनका एकाधिकार प्राप्त न हो क्योंकि पूर्णप्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें सब मूल्य मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होंगें और इसकारण उत्पादक स्वदेशमें वस्तुका मनमाना मूल्य लेनेमें असमर्थ रहेंगे। एकाधिकार केवल उसीसमय प्राप्त नहीं होता जबकि उस वस्तुको उत्पन्न करनेवाला एकही उत्पादक हो। ऐसाभी होसकता है कि बहुतसे उत्पादक मिलकर उस वस्तुको निश्चित मूल्यसे कम मूल्यपर न बेचने का समनुबन्ध करले अथवा उस वस्तुकी निश्चित मात्रासे अधिक उत्पत्ति करनेपर प्रतिबन्ध लगालें।

निर्यात और आर्थिक सहायता

कभी कभी कई देशोंकी सरकारें अपने देशकी औद्योगिक उन्नतिके हित वस्तुओंके निर्यातपर आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं। इसके कारण उत्पत्ति तथा निर्यात की मात्रामें वृद्धि होती है। अधिक निर्यातके कारण विदेशी बाज़ारमें वस्तुका मूल्य कम होजाता है और देशी बाज़ारमें बढ़जाता है। इस प्रकारकी आर्थिक सहायता और संरक्षण-करों द्वारा दीगयी सहायतामें कोई विशेष अन्तर नहीं। उन के सब गुण और दोष इस प्रकारकी सहायतामें भी विद्यमान हैं।

अन्तमें हमें यहभी उल्लेख करदेना चाहिए कि डम्पिग अथवा निर्यातके लिए दीगयी आर्थिक सहायताके प्रतिकारके रूपमें संरक्षण-करोंका लगाना आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं क्योंकि साधारणतया इन करोंद्वारा आयात होनेवाली वस्तुओंका रोकना सम्भव नहीं जबतक कि करोंके परिमाण ही अत्यन्त अधिक न करदिये जायें। परन्तु प्रत्येक स्थितिमें संरक्षण-करों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजनको धक्का लगनेकी सम्भावनाहै जिसके कारण वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रामें कमी होनेसे प्रत्येक

देशकी हानि होना निश्चित है। सम्भवहै कि किसी विशेष स्थितिका सुलझाव संरक्षण-करों द्वारा होसकता हो परन्तु कौन जानताहै कि इनके दुरुपयोगके कारण लाभके स्थानपर हानि हो।

व्यापारिक समनुबन्ध

अर्थशास्त्रकी परिभाषामें व्यापारिक समनुबन्धसे हमारा अभिप्राय उन समनुबन्धोंसे है जो आयात-निर्यात-करोंसे सम्बन्ध रखते हों। इस प्रकारके समनुबन्धोंमें केवल दो अथवा दो से अधिक देश अपने आपको समनुबद्ध करसकते हैं। इस प्रकारके समनुबन्धोंमें एक धारा प्रायः ऐसी पायीजाती है जिसके द्वारा यह निश्चित करदिया जाता है कि दोनों देश परस्पर एक दूसरेसे कैसा व्यवहार करेंगे। विशेषकर तीन प्रकार की धाराएं इस व्यवहारको सुनिश्चित करनेके लिए काममें लायीजाती हैं। समता की धाराके अनुसार यह निश्चित करदिया जाताहै कि प्रत्येक देश दूसरे देशके निवासियों और वस्तुओंसे उसी प्रकारका व्यवहार करेंगे जो वे अपने देशके निवासियों और वस्तुओंसे करते है। 'जैसी लेनी वैसी देनी' की धाराके अनुसार यह निश्चित करदिया जाताहै कि प्रत्येक देश दूसरे देशके निवासियों और वस्तुओंसे उसीप्रकार का व्यवहार करेगा जैसाकि दूसरा देश पहिले देशके निवासियों और वस्तुओंसे करता है। श्रेष्ठतम व्यवहार किये जानेवाले राष्ट्रकी धाराके अनुसार समनुबद्ध देश परस्पर उससे बुरा व्यवहार नहीं करसकते जो वे किसी अन्य देशसे कररहे हैं।

साम्राजिक वरीयता से हमारा अभिप्राय उन व्यापारिक समनुबन्धोंसे है जो ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशोंको परस्पर समनुबद्ध करते थे। इन समनुबन्धों द्वारा साम्राज्यके भीतरही उत्पन्न कीगयी वस्तुओंके आयातपर साम्राज्यके बाहरसे आनेवाली वस्तुओंसे कम कर लगाया जाताथा। ओटावा में कीगयी १९३२ की भारी साम्राज्य-सभामें इस प्रकारके साम्राजीय पक्षपात दिखानेकी प्रथाको भलीप्रकार पुष्ट कियागया था। इसी सभामें भाग लेकर भारतने साम्राजीय पक्षपातके सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

३०

आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष

आर्थिक प्रगति

पहिले अध्यायमें हमने बतायाथा कि हमारे सभी प्रकारके आर्थिक कार्योंका चरम लक्ष्य समाजके आर्थिक क्षेममें वृद्धि करना है। प्रत्येक मनुष्य, कुटुम्ब अथवा समाज इस बातके लिए प्रयत्नशील रहताहै कि वह अपने साधनोंकी वृद्धिकरे और उन साधनोंका इस प्रकारसे उपयोग करे कि उसको न्यूनतम लागत-व्ययसे अधिकतम वस्तुएं प्राप्तहो सकें। आर्थिक क्षेममें वृद्धि प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक साधनोंकी पूर्ण-नियुक्ति बनी रहे और इस पूर्ण-नियुक्तिके फलस्वरूप जिन वस्तुओं और सेवाओंकी उत्पत्ति होतीहै, उनका समुचित वितरण हो।

आर्थिक दृष्टिकोणसे हम उस देशको प्रगतिशील कहतेहैं जिसमें जन-संख्याके साथ साथ उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि होतीहो; उत्पत्तिकी क्रिया इसप्रकार की हो कि किसी दियेगये परिमाणकी वस्तुओंको बनानेमें उत्पादन-व्ययकी मात्रा कम होती रहे अथवा दियेगये साधनोंसे उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि होती रहे; वस्तुओं और सेवाओंका स्वरूप उत्कृष्ट होता रहे; जीवन-स्तरमें वृद्धि होतीरहे और लोगोंको भौतिक सुख और क्षेम प्राप्त करनेके लिए स्वास्थ्य और अवकाश मिलता रहे। गत १५० वर्षोंके आर्थिक इतिहाससे पता चलताहै कि इस कालावधिमें अनेक पाश्चात्य देशोंमें आर्थिक प्रगति बहुत वेगपूर्वक हुई है। इस प्रगतिका सूत्रपात अठारहवीं शताब्दीके दूसरे भागमें इंगलैंडकी औद्योगिक क्रान्तिसे हुआ। प्रगतिका मुख्य कारण शिल्प कला विज्ञानकी उन्नति है। इस कालमें बहुतसे नये नये आविष्कार हुए। मशीन, वाष्प-शक्ति और विद्युत्-शक्तिके प्रयोगसे उत्पादन-क्रियामें बहुत वृद्धि हुई। श्रम-विभाग और विशिष्टीकरणको प्रोत्साहन मिला। सड़कें, नहरें, मोटर, रेल, जहाज इत्यादि यातायातके साधनोंमें भी वृद्धि हुई। साख और चेकके

प्रयोगसे और मिश्रित पूंजीवादी कम्पनियोंके स्थापनसे उत्पत्ति और व्यापार प्रोत्साहित हुए। सबसे बड़ी बात यहहुई कि पूंजीके संचय और उसके लगावमें बहुत वृद्धि हुई। बिना पूंजीकी वृद्धिके आर्थिक प्रगति असम्भव है। भैषज्य और शल्य चिकित्सा और स्वास्थ्य-विद्याकी वृद्धिसे रोग और मृत्यु संख्यामें कमी हुई और आयुमान में वृद्धि हुई।

आर्थिक प्रगति संसारके सभी देशोंमें समान रूपसे नहीं हुई। अनेक देश अभीतक बहुत पिछड़े हुए है। वहां जीवन-स्तर बहुत नीचा है। मुख्य धन्धा खेती है जो कि पुराने ढंगपर ही कीजाती है। बचत और पूंजीका लगाव बहुतही कम परिमाणमें है। औद्योगिक कला विज्ञान पिछड़ा हुआ है। जापानको छोड़कर एशियाके सभी देशोंकी स्थिति इसीप्रकार की है। अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिकामें भी इसप्रकार के अनेक देश है। परन्तु शनैः शनै इन सभी देशोंका कम या अधिक मात्रामें उद्योगीकरण होरहा है और प्रगतिशील देशोंके आविष्कारोंसे लाभ उठानेकी प्रवृत्ति होरही है। इसके प्रतिकूल कुछ देशोंमें जहां पिछले सौ डेढ़सौ वर्षोंसे बड़े वेगके साथ और बड़ी मात्रामें उद्योगीकरण का विकास और विस्तार हुआ; कुछ शिथिलताके आभास का अनुमान किया जाता है। कुछ लोगोंका विचारहै कि इन देशोमें आर्थिक विकास चरमावस्थामें पहुंच चुका है। जन संख्याकी वृद्धि रुकगयी है। रेल, जहाज, बिजली के सामानके आविष्कारोंकी सम्भावना कम है। पिछड़ेहुए देशोंमें उद्योगीकरण के कारण मशीनसे बनीहुई वस्तुओंके निर्यात-व्यापारमें भी कमी आनेकी सम्भावना है। इन सभी कारणोंसे कुछ अर्थशास्त्री इस परिणामपर पहुचेहैं कि संयुक्त राज्य जैसे देशोंमें अब आर्थिक प्रगतिमें मन्दी आनेकी आशंका है। इस प्रकरणमें हम इस विवादपूर्ण विषयका विवेचन नहीं कररहे कि क्या वास्तवमें कुछ देशोंमें इसप्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगयीहै कि वहां बचतके परिमाणको पूर्णरूपसे पूंजीके रूपमें लगानेकी सम्भावना नहीं रहगयी है। हमारा अभिप्राय केवल इतनाही बतलानाहै कि कुछ पाश्चात्य देशोंमें आर्थिक प्रगति बड़े वेगसे हुई है।

आर्थिक चक्र

परन्तु इस प्रकारकी आर्थिक प्रगति अविरत तथा अविरोध रूपसे नहीं हुई है। समय

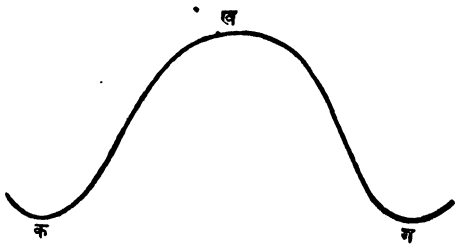
समयपर इसमें व्याघात हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कालतक आर्थिक विकासमें वृद्धि होतीजाती है। पूंजीके लगावमें वृद्धि होतीहै, आयमें, उत्पत्ति और नियोगकी मात्रामें भी वृद्धि होती रहती है। परन्तु सहसा इस क्रममें कुछ विघ्न उपस्थित होजाते हैं। आर्थिक अवयवोंमें कुछ ऐसी विकृतियां उत्पन्न होजाती हैं कि उत्पादक वर्गोंको पूंजीके लगावकी मात्रा कम करनी पड़ जातीहै जिसके फलस्वरूप उत्पत्तिके साधनोंमें बेकारी फैलने लगतीहै; आय और उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आने लगतीहै और आर्थिक कार्य-स्तरमें शिथिलता आजाती है। कुछ कालके बाद शनैः शनैः पुनः परिस्थिति बदलती है। पूंजीके लगावके कार्यको फिरसे प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पत्तिके साधनोंकी मांग और उनकी आयमें वृद्धि होने लगती है। इसप्रकार से आर्थिक उत्कर्ष होने लगता ह। परन्तु दुर्भाग्यवश इस उत्कर्षके अन्तर्गत कुछ इसप्रकार की विषमताएं उत्पन्न होजाती हैं कि उत्कर्षका अन्त होजाता है और फिर अपकर्षका समावेश होजाता है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि आर्थिक प्रगतिमें उत्कर्षके बाद अपकर्ष और अपकर्षके बाद उत्कर्ष और पुनः अपकर्ष लहरोंके सदृश आते जाते रहते हैं। इस लहरके समान ऊपर नीचे उठने और गिरनेकी आर्थिक गति को हम आर्थिक चक्र कहेंगे। गत २०० वर्षोंकी आर्थिक प्रगतिमें इसप्रकार के आर्थिक चक्र विशेषकर अधिक औद्योगिक देशोंमें स्पष्ट रूपसे अनुभव हुए हे। हमारे कहने का प्रयोजन यह नहींहै कि २०० वर्ष पूर्वकी आर्थिक पद्धतिमें किसी प्रकारके संकट नहीं आये अथवा कम औद्योगिक देशोंमें आर्थिक संकट कम मात्रामें आते हैं। प्राचीन कालके आर्थिक संकट आधुनिक आर्थिक संकटोंसे भिन्न प्रकारके थे और उनके कारण सुबोध होतेथे। भूकम्प, बाढ़, दुर्भिक्ष, युद्ध इत्यादि कारणोसे ही प्राचीन कालके आर्थिक संकट सम्बन्धित हैं। ये कारण स्पष्ट प्रतीत होजाते हैं। हमारे शास्त्रोंने छै प्रकारके संकटोंका वर्णन किया है।

अति वृष्टिर्नावृष्टः मूषकाः शलभाः शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेतारीतयः स्मृताः॥

अर्थात् बहुत वर्षा जिसके कारण बाढ़ आजाती है; वर्षाका बिलकुल न होना अर्थात् सूखा पड़ना जिससे दुर्भिक्ष होजाता है; टिड्डीदल, तोते जो कि फ़सल पेड़ पौधोंको हानि पहुंचातेहैं और राजाओंका निकट होना जिससे युद्धकी आशंका रहतीहै ये छै संकट बताये गये हैं।

परन्तु आधुनिक कालके आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारण बाहरसे नहीं परन्तु आर्थिक प्रगतिके अन्तर्गतही उत्पन्न होते रहते हैं। आर्थिक अवयवोंके सम्बन्धोंमें स्वयमेव कुछ इसप्रकार की विषमता का प्रादुर्भाव होजाता है जिससे कि आर्थिक अस्थिरता कभी उत्कर्ष और कभी अपकर्ष बनी रहती है। ऐसा प्रतीत होताहै कि पूंजीवादी आर्थिक पद्धति; जिसका चलन लाभकी आशापर केन्द्रित रहता है, के अन्तर्गत ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होजातीहैं कि आर्थिक संकट अनिवार्यसा होजाता है। १९२९-१९३३ का विश्वव्यापी संकट इतना उग्र हुआकि अर्थशास्त्रियोंका ध्यान विशेष रूपसे इसके विश्लेषणकी ओर आकृष्ट हुआ। गत १५-२० वर्षोंमें इस विषयपर बहुत खोजपूर्ण कार्य हुआ है।

वैसेतो आर्थिक प्रगतिमें छोटी बड़ी अनेक प्रकारकी लहरें पायीगयी हैं परन्तु जिन लहरोंको अधिक महत्व प्राप्तहै उनकी अवधि ७ वर्षसे ११ वर्षतक है अर्थात् इस अवधिके भीतर एक आर्थिक चक्र पूरा होजाता है। आर्थिक चक्रका एक प्रतिरूप नीचे दिया जाता है :



क स्थानसे ग स्थान तक पहुंचनेपर एक आर्थिक चक्र पूरा होता है।

आर्थिक चक्रको चार भागोंमें विभक्त कियाजाता है :

(१) उत्थान

(२) उत्कर्ष

(३) अपकर्ष

(४) गर्त

आर्थिक चक्र गर्तसे निकलकर उत्थानके पथपर आरूढ़ होता है। उत्थानमें प्रगति उत्पन्न होनेलगती है और आर्थिक क्रियाओंमें उत्कर्ष व्याप्त होजाता है।

कुछ समयके बाद उत्कर्षका अन्त होजाता है और अपकर्ष आरम्भ होजाता है जोकि बढ़ते बढ़ते आर्थिक व्यवस्थाको गर्तमें पटक देता है। फिर धीरे धीरे आर्थिक चक्र गर्तसे निकलकर उत्थानकी ओर अग्रसर होताहै और फिर पूर्ववत् वही क्रम चलता रहता है। अतएव इस विषयके विवेचनमें इसी समस्याका समाधान करना पड़ता है कि क्या कारणहै कि आर्थिक क्रियाएं क्रमशः इन चारों परिस्थितियों में चक्कर लगाती हुई अग्रसर होती हैं।

आर्थिक अवस्थामें इसप्रकार का परिवर्तन अनेक अवयवोंमें दृष्टिगोचर होता है। इस विषयसे सम्बन्धित, उत्पत्ति, आय और नियोग, मुख्य तीन अवयव हैं जिनके आंकड़ोसे भी चक्रवत् परिवर्तन का बोध होता है उत्कर्ष कालमें आर्थिक साधनोंको अधिक काम मिलताहै अतएव नियोगके परिमाणमें वृद्धि होती है। उत्पत्तिके परिमाण में भी वृद्धि होतीहै और आयभी बढ़ती है। ये तीनों अवयव एक दूसरेसे संलग्न हैं। कुछ अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार नियोगके आंकड़ोंसे आर्थिक अवस्थाका निरूपण ठीक प्रकारसे होसकता है। अपकर्षकी अवस्थामें आर्थिक साधनोंमें बेकारी प्रारम्भ होनेलगती है और गर्तकी अवस्थामें बेकारी चरम सीमापर पहुंचजाती है।

बेकारी

इस प्रकरणमें हम बेकारीके विषयमें पाठकोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं विशेषकर श्रमजीवियोंकी उस बेकारीकी ओर जिसका परिमाण १९२९-१९३३ के आर्थिक संकटके कालमें संयुक्त राज्य, इंगलैंड इत्यादि औद्योगिक देशोंमें बहुत बढ़गया था। वैसेतो बेकारी अनेक कारणोंसे उत्पन्न होजाती है। यहांपर हम यहभी लिखदेना चाहतेहैं कि बच्चे, बूढ़े, अपाहिज और जो उद्यम करनाही न चाहते हों इसप्रकार के लोगोंके सम्बन्धमें बेकारीका प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है। वे लोग बेकार समझे जातेहैं जो उद्यम करनेको उद्यतहैं परन्तु उनको कामही न मिलरहा हो।

कुछ इस प्रकारके उद्योग धन्धे होतेहैं जिनको 'मौसमी' कहा जासकता है। उदाहरणके लिए भारतवर्षमें चीनीके कारखानोंमें काम करनेवाले श्रमजीवियोंको साधारणतः नवम्बरसे मईके महीनेतक काम रहता है। उसके बाद वे बेकार हो

जाते हैं। परन्तु इस प्रकारकी बेकारीका पूर्व ज्ञान रहता है अतएव इसका प्रबन्ध किया जासकता है। फ़ैशन और रुचिमें परिवर्तन होनेसे भी कुछ व्यवसायोंमें अवनति होजाती है और बेकारी आजाती है। परन्तु आशाकी जातीहै कि नये उद्योग-धन्धोंमें काम बढ़ जानेसे कुल बेकारीमें वृद्धि नहीं होगी। इसीप्रकार श्रम-निवारक मशीनोंके प्रयोगसे और उद्योग धन्धोंके वैज्ञानीकरणसे भी बेकारी होजाती है। इस सम्बन्धमें भी यह आशा कीजातीहै कि यह बेकारी दीर्घकालिक नहीं होगी। पहिले जिन उद्योग धन्धोंमें मशीनोंका प्रयोग हुआहो अथवा वैज्ञानीकरण हुआ हो उनमें उत्पादक-व्ययमें कमी होनेके कारण मूल्यमें भी कमी आनेकी प्रवृत्ति होगी और इसके फलस्वरूप मांगमें वृद्धि होनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी जिससे अधिक श्रमजीवियोंकी भी नियुक्ति होगी। यदि इन वस्तुओंकी मांगमें पर्याप्त वृद्धि न भी हो तबभी मूल्यमें कमीके कारण उपभोक्ताओंको जो बचत होगी उसको वे वस्तुओंमें व्यय करेंगे जिससे उन उद्योग.धन्धोंमें वृद्धि होगी और श्रमजीवियों कोभी काम मिलेगा। इसप्रकार बेकारी की मात्रामें कमी होजायगी। इन कारणों के अतिरिक्त श्रमजीवियोंके हड़ताल करने और मिल-मालिकोंके द्वारतालसे भी अल्पकालिक बेकारी उत्पन्न होजाती है।

पूर्वोक्त कारणोंसे जो बेकारी उत्पन्न होजाती है उसकी तुलनामें आर्थिक अपकर्ष और गर्तसे जनित बेकारी कहीं अधिक भीषण समझी जातीहै इसका कारण यहहै कि इसप्रकार की बेकारीका परिमाण बहुत अधिक रहता है। संयुक्त राज्यमें १९२९-१९३३ के अपकर्ष कालमें लगभग २५ प्रतिशत श्रमजीवी बेकार होगये थे। यह बेकारी पूंजीवादसे संलग्न आर्थिक-चक्रका परिणामस्वरूप है। अतएव इसको दूर करनेकी समस्याभी बहुत कठिन है। जिन उपायोंसे आर्थिक अपकर्षकी गरिमा को घटाया जासकेगा और आर्थिक क्रियाओंके स्तरको सन्तुलित रूपसे उठाया जायगा उन्हीं उपायोंसे इसप्रकार की बेकारी भी कमकी जासकेगी।

हमने बताया कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके सम्बन्धमें उत्पत्ति, आय और नियोगके आंकड़ोंका प्रयोग कियाजाता है। इन प्रधान आर्थिक अवयवोंके अतिरिक्त औरभी अवयवहैं जो उत्कर्ष और अपकर्षके साथ प्रभावित होते रहतेहैं और इनके आंकड़ेभी इस विषयपर प्रकाश डालते हैं। इनमें मुख्य द्रव्यका विशेषकर साख-द्रव्यका परिमाण, मूल्य-स्तर, ब्याजकी दर और लाभकी दर हैं।

आर्थिक चक्र के सिद्धान्त

आर्थिक चक्र एक गहन और गूढ़ विषय है। इसके अन्तर्गत सभी आर्थिक अवयवों के परिमाण और सम्बन्धोंमें परिवर्तन होता रहता है। अतएव इसका कोई एकही कारण नहीं होसकता है। जिन अर्थशास्त्रियोंने इस विषयकी गवेषणाकी है वह सभी इस विचारसे सहमतहैं कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको किसी एक वस्तु-स्थिति द्वारा समझाया नहीं जासकता है। इसका सृजन अनेक कारणोंसे सम्बन्धित है जिनमेंसे कुछ आर्थिक हैं, कुछ क्रियाशील हैं और कुछ निष्क्रिय, कुछ नियन्त्रण-साध्य हैं और कुछ नियन्त्रणमें नहीं लाये जासकते हैं। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहींहै कि आर्थिक चक्रको समझानेके लिए अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित कियेगये हैं। इन सिद्धान्तोके अनुयायी अपने अपने दृष्टिकोणको अधिक महत्व देते हैं। अपने प्रतिपादित कारणको प्रधान और अन्य कारणोंको गौण समझते हैं। इस पुस्तकमें हम इन भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंकी विस्तृत विवेचना करनेमें असमर्थ हैं। केवल मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंकी मूल बातोंको पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न कियागया है।

कृषि-सिद्धान्त

आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको समझानेके लिए एक पुराना मत खेतोंकी उत्पत्तिके परिमाणसे सम्बन्धित है। कहाजाता है कि सब उद्योग धन्धोंका आधार खेतोंसे उत्पन्न हुआ शस्य और कच्चा माल है। अतएव जब खेतोसे होनेवाली उत्पत्तिमें वृद्धि होतीहै तो इससे आर्थिक उत्कर्ष होताहै और जब खेतोंकी उत्पत्तिमें कमी आजातीहै तो आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाता है। खेतोंकी उत्पत्तिके परिमाणमें परिवर्तन होनेका मुख्य कारण वृष्टिके परिमाणमें परिवर्तन होना है। इंगलैंडके प्रोफ़ेसर जेवन्स का कहनाहै कि सूर्यके तापमें परिवर्तन होताहै और यह चक्र १०-११ वर्षमें पूरा होता है अर्थात् १०-११ वर्षकी अवधिके अन्तर्गत सूर्यके तापकी तीव्रता और मन्दीके काल क्रमसे आते रहते हैं। आर्थिक-चक्रकी औसत अवधिभी इसी परिमाणकी समझी जातीहै। सूर्यके तापका प्रभाव वृष्टिके परिमाणपर पड़ता है।

जब सूर्यके तापमें प्रखरता रहती है तो प्रचुर मात्रामें वृष्टि होती है और शस्योंकी वृद्धि होती है। सूर्यके तापमें मन्दी आनेपर वृष्टि कम होतीहै और खेतोंकी पैदावार भी घट जाती है। अमेरिकाके प्रोफ़ेसर मूर नेभी मौसमके प्रभावसे खेती और खेतीके प्रभावसे आर्थिक चक्रको समझानेका प्रयत्न किया है।

खेतीका आर्थिक परिस्थितिमें विशिष्ट स्थान है, यह मानना पड़ता है। परन्तु जब हम आधुनिक आर्थिक विकासको ध्यानमें रखते हुए संयुक्त राज्य, इंगलैंड इत्यादि औद्योगिक देशोंके उत्कर्ष और अपकर्षके कालकी आर्थिक परिस्थितिकी छानबीन करतेहैं तो हमको खेतीकी उपजमें परिवर्तनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखायी देता है। एक बात तो यहहै कि जिस प्रकारका स्पष्ट आर्थिक चक्र अन्य उद्योग धन्धोंमें पायाजाता है, उसप्रकार का खेतीकी उपजमें नहीं पायाजाता है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक देशोंमें जहां आर्थिक चक्रमें अधिक तीव्रता देखीगयी है वहां कृषिका महत्व घटता जारहा है। उदाहरणके लिए संयुक्त राज्यमें कृषिकी उपज कुल उपजका केवल दसवां भाग है। इसके साथ साथ सिंचाईके साधनोंकी वृद्धिके कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी वृद्धिके कारण और शस्योंको सुरक्षित रखने के प्रबन्धमें उन्नतिके कारणभी आधुनिक कालमें कृषिकी उपजमें अधिक परिवर्तन नहीं होने पाता है।

वास्तवमें ऐसा प्रतीत होताहै कि जब अन्य उद्योग धन्धोंमें समृद्धि रहतीहै तो कृषिकी उपजकी मांगकी वृद्धिसे इस व्यवसायमें भी समृद्धि आनेकी प्रवृत्ति होतीहै और जब अन्य उद्योग धन्धोंमें शिथिलता आजाती है तो कृषिकी उपजकी मांगके घट जानेसे इस व्यवसायमें भी मन्दी आनेकी आशंका रहती है। यदि कृषिकी उपज में वृद्धि ऐसे कालमें हुईहो जबकि अन्य उद्योग धन्धोंमें अवसाद छाया हुआ हो तो इस वृद्धिसे कृषिकी उपजका मूल्य-स्तर औरभी नीचे गिरने लगता है। अतएव हम इस परिणामपर पहुंचतेहैं कि कृषिकी उपजके परिमाणमें परिवर्तनका प्रभाव अन्य आर्थिक क्षेत्रोंकी परिस्थितिपर निर्भर करता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके सम्बन्धमें मनोवैज्ञानिक कारणोंको

अधिक महत्व देते हैं। इनका अभिप्राय यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक कारण स्वतन्त्र कारणहै परन्तु इनका कहनाहै कि इन कारणोंको इतना महत्व नहीं दियाजाता है जितना दियाजाना चाहिए।

आर्थिक क्षेत्रमें मनोवैज्ञानिक परिस्थितियोंका समावेश आशा, निराशा, आकांक्षा इसप्रकार की प्रतिक्रियाओंके रूपमें होता है। आधुनिक कालमें पूंजीका मशीन इत्यादि चिरस्थायी उपकरणोंमें लगाव और उनसे प्राप्त होनेवाली आयके बीच समयका अधिक मात्रामें अंतराय होता है। इसकारण आर्थिक कार्योंमें अनिश्चितता और संशयका समावेश होगया है। इसका परिणाम यह होताहै कि इन कार्योंमें दृष्टिगोचर कारणोंकी क्रिया और प्रतिक्रियामें स्थिरता नहीं रहती है जितनी अन्य प्रकारके आर्थिक कार्यों में। कभी कभी उत्पादकवर्ग आवश्यकतासे अधिक आशा-वादीहो उठताहै और कभी बहुत निराशावादी। उत्कर्षका सम्बन्ध आशा और अपकर्षका निराशासे कियाजाता है। इस प्रकरणमें प्रोफ़ेसर पीगू का कहनाहै कि उत्कर्षके कालमें आशाजनित भूलें और अपकर्ष कालमें निराशाजनित भूलें हुआ करती है। इन भूलोंके कारण आर्थिक परिस्थितियोंके औचित्यके हिसाबसे कभी तो पूंजीका लगाव बहुत अधिक मात्रामें और कभी बहुतही संकुचित मात्रामें किया जाताहै जिसके फलस्वरूप आर्थिक परिस्थिति असन्तुलित होजाती है।

इस संक्षिप्त रूपमें बतायेगये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तको आर्थिक चक्र समझने और समझानेमें हमको उपयुक्त स्थान देना पड़ताहै और किसीभी अर्थशास्त्रीने इस सिद्धान्तको नगण्य नहीं समझा है। जोजो विषय मनुष्यसे सम्बन्धितहैं उनमें मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और मनोवृत्तियोंका समावेश अवश्यही रहेगा। परन्तु ये मनोवृत्तियां समस्याके मूलतक नहीं पहुंचती हैं। यदि उत्पादकोंमें नैराश्य छाया हुआहै तो उसका कोई न कोई कारण अवश्यही होना चाहिए। इसीप्रकार आशा का संचार होनेके लिए भी मनसे बाहर कोई कारण होना चाहिए। इन मूल कारणों को छोड़कर स्वतन्त्र रूपसे मानसिक प्रतिक्रियाओंको इनका स्थान नहीं दिया जा सकता है। हां इस बातको मान लेना पड़ताहै कि प्रतिक्रियाकी उग्रता औचित्यकी सीमाको लांघ गयीहो जिसके कारण आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षमें अधिक तीव्रता उत्पन्न होगयी हो।

द्रव्य सम्बन्धी सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री जिनमें हौट्रे का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है, द्रव्यके प्रसार और संकुचनसे आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। आधुनिक कालमें साख-द्रव्यकी प्रधानताके कारण और इसके परिमाणकी अस्थिरताके कारण आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होजाती है। साख-द्रव्यके प्रसारसे आर्थिक उत्कर्षका सूत्रपात होता है। यदि बैंक ब्याजकी दर कम करदें अथवा ऋण देनेकी शर्तोंमें अधिक उदारता दिखायें तो साख-द्रव्यकी मांग बढ़जायेगी क्योंकि अपकर्षके गर्त की अवस्थामें बैंक ऋण देनेको उत्सुक रहते हैं। हौट्रेके मतमें व्यापारी वर्गको ब्याजकी दरमें थोड़ीभी कमी होनेसे वस्तुओंके संचयमें वृद्धि करनेकी प्रवृत्ति होती है। जब वह नये साख-द्रव्य द्वारा वस्तुओंको मोल लेताहै तो यह द्रव्य उपभोक्ताओं की आयके रूपमें प्रकटहोता है। उपभोक्ताओंकी आयमें वृद्धि होनेके कारण उनके व्ययमें भी वृद्धि होने लगतीहै जिसके फलस्वरूप वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होनेलगती है और मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होती है। मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेसे उत्पादकोंको अधिक लाभ प्राप्त होताहै क्योंकि उत्पादन-व्ययमें धीरे धीरे वृद्धि होती है। इस लाभकी वृद्धिके कारण पूंजीके लगावमें भी वृद्धि होने लगतीहै और उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें भी वृद्धि होती है। उत्पादक वर्ग बैंकोंसे अधिक परिमाणमें ऋण लेतेहैं जिससे पुनः उपभोक्ताओंके आय और व्ययमें वृद्धि होतीहै और पूंजीके लगावको नया प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार आर्थिक उत्थानको अपनेही अन्तर्गत कारणोंसे प्रगति प्राप्त होनेलगती है और उत्कर्षकी अवस्था प्राप्त होजाती है। जबतक बैंक द्रव्यकी बढ़तीहुई मांगको पूरा करते रहतेहैं तबतक उत्कर्षकी अवस्था बढ़ी रहती है।

इस सिद्धान्तके अनुसार ज्योंही बैंक साख-द्रव्यके प्रसारमें कमी करने लगतेहैं वैसेही अपकर्षका सूत्रपात होजाता है। अब प्रश्न यहहै कि जैसे जैसे साख-द्रव्यमें वृद्धि होती रहतीहै, बैंककी नकदी का अनुपात कम होता रहताहै और यदि उनके नकदीके कोषमें पर्याप्त मात्रामें वृद्धि न होसके तो एक समय आजायेगा जबकि उन को अपना हाथ रोकना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त साख-द्रव्यकी वृद्धि और आर्थिक कार्य-स्तरकी प्रगतिके कारण समाजमें नकदीकी आवश्यकता भी बढ़नेलगती है।

साथही साथ केन्द्रीय बैंकभी द्रव्य-स्फीतिकी आशंकासे अपनी द्रव्य-नीति द्वारा साख-द्रव्यका नियन्त्रण करनेकी चेष्टा करते है। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकोंको इस प्रकारकी नीतिको कार्य रूपमें लाना आवश्यक होजाता था। साख-द्रव्यके प्रसारमें रोकथाम करनेके लिए बैंक ब्याजकी दरमें वृद्धि करदेते हैं और पुराने ऋणोंके वापस होनेपर नया ऋण उससे कम परिमाणमें देते हैं। इसप्रकार साख-द्रव्यका संकुचन प्रारम्भ होजाता है।

इस संकुचनसे आर्थिक अपकर्षभी प्रारम्भ होजाता है। व्यापारी बढ़ीहुई ब्याज की दरपर अपने वस्तुओंके संचयको कम करनेलगते हैं और संचित वस्तुओंको शीघ्रता से बेचनेकी चेष्टा करते है। इससे उपभोक्ताओंकी आय और व्ययमें कमी आजाती है और विविध प्रकारकी वस्तुओंकी मांगभी घटजाती है। मांगके घटजाने पर मूल्य-स्तर गिरने लगताहै और लाभकी मात्रामें कमी आजाती है और सीमान्त उत्पादकों को तो हानि उठानी पड़ती है। इसके फलस्वरूप पूंजीके लगावमें कमी होजाती है और आर्थिक साधनोंमें बेकारी आनेसे उपभोक्ताओके आय और व्ययमें पुनः कमी होजाती है। इसप्रकार अपकर्ष आरम्भ होनेपर स्वयमेव वह गर्तकी ओर जाने लगता है। गर्तपर पहुंचनेपर धीरे धीरे बैंक प्रकृतिस्थ होनेलगते हैं। पुराने ऋणों के वापस होनेसे और नये ऋणोंकी मांग न होनेके कारण बैंकोंमें नकदीका परि-माण बढ़ने लगताहै और वे ऋण देनेको उत्सुक होनेलगते हैं। अतएव वे ब्याजकी दर कम करतेहैं और ऋण देनेमें अधिक उदारता दिखाने लगते है। जब व्यौपारी इस परिस्थितिका लाभ उठाने लगतेहैं तो पुनः आर्थिक क्रियाओंके स्तरमें पूर्ववत् उत्थान और प्रगतिका संचार होनेलगता है। हौट्रेके मतानुसार यदि केन्द्रीय बैंक और अन्य व्यापारी बैंक अल्पार्थ द्रव्य-नीतिका प्रयोग करतेरहें तो कोई कारण नहीं है कि उत्पादक वर्ग विशेषतः व्यापारी वर्ग इसका लाभ न उठाएं।

यहबात सभीको मान्यहै कि वर्तमान आर्थिक प्रणालीमें द्रव्यको प्रमुख स्थान प्राप्तहै और द्रव्यकी अस्थिरताके कारण आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होसकती है। परन्तु आर्थिक-चक्रकी वास्तविकताका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेसे पताचलता है कि सभी आर्थिक अस्थिरताएं द्रव्यजनित नहीं होतीं। द्रव्यका सुप्रबन्ध होनेपर ही इन अस्थिरताओंका अन्त नहीं होसकेगा। यह ठीकहै कि आर्थिक उत्कर्षकी वृद्धिके लिए द्रव्यका प्रसार आवश्यक है। परन्तु यदि उत्पादक वर्गको अपनी पूंजीके लगाव

से लाभकी आशा न होतो वे केवल ब्याजकी दरमें कमीके कारणसे ही बैंकोंसे अधिक मात्रामें साख-द्रव्यकी यांचना नहीं करेंगे। अनुभवसे ज्ञात होताहै कि आर्थिक गर्त की अवस्थामें जबकि बैंक प्रर्याप्त मात्रामें ऋण देनेके योग्य रहतेहैं और केन्द्रीय बैंकभी अपनी ब्याजकी दर कम करके अथवा खुले हाटकी क्रियाओंसे आर्थिक क्षेत्र में द्रव्यके चलनमें वृद्धि करनेकी चेष्टा करता है, उत्पादकवर्ग तबतक इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी चेष्टा नहीं करतेहैं, जबतक कि उनको पूंजीके लगावसे लाभ होनेकी आशा न हो। यह आशा केवल ब्याजकी दरपर ही निर्भर नहीं रहती है। नये आविष्कार, नये बाज़ार, उत्पादन-व्ययमें कमी—इस प्रकारके वातावरणमें ही उत्पादकोंमें आशा और विश्वासका संचार होता है। यदि इस प्रकारका वातावरण न हो तो केवल साख-द्रव्यको अधिक मात्रामें कम बाज़ारकी दरपर उपलब्ध करनेसे ही उत्थानका कार्य आरम्भ नहीं होगा। हौट्रेके मतमें अल्पकालीन ब्याजकी दरमें परिवर्तन करना पर्याप्त होताहै परन्तु अन्य अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार पूंजीके लगाव का सम्बन्ध विशेष रूपसे दीर्घकालीन ब्याजकी दरसे होता है।

हायेक का सिद्धान्त

प्रोफ़ेसर हायेकने द्रव्य-सम्बन्धी परिस्थितियों द्वारा वास्तविक आर्थिक परिस्थितियों का सम्बन्ध दर्शातेहुए यह बतलानेकी चेष्टाकी है कि वर्तमान साख-द्रव्य-पद्धतिकी विकृतियोंके कारण पूंजीका लगाव उत्कर्षकालमें असन्तुलित रूपसे बढ़ताजाता है और एक ऐसी अवस्था आजाती है कि आर्थिक प्रगतिमें संकट आजाना अनिवार्य होजाता है। हायेकका कहनाहै कि साख-द्रव्यके प्रसारके आधारपर पूंजीके लगाव और उत्पादक वस्तुओंके उत्पत्तिके परिमाणमें जो वृद्धि होतीहै वह वृद्धि स्थायी नहीं रहसकती है। स्थायी रूपसे पूंजीके लगावकी वृद्धि स्वेच्छापूर्वक बचतके परिमाणपर निर्भर रहती है। यदि बैंकोंकी ब्याजकी दर सन्तुलन ब्याजकी दर (अर्थात् वह दर जहांपर ऋणकी मांग बचतके परिमाणके बराबर रहतीहै) से कम रहतीहै तो इस प्रकारसे जो पूंजीके लगावके कार्यको कृत्रिम उत्साह मिलताहै उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनोंका प्रयोग उपभोगकी वस्तुओंके निर्माणसे हटकर उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके कार्यमें होनेलगता है। इससे उपभोगकी वस्तुओंके मूल्य-स्तर

में वृद्धि होनेके कारण उपभोक्ताओंको विवश होकर अपने उपभोगके परिमाणमें कमी करके उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके हेतु आर्थिक साधनोंको उपलब्ध करनेके लिए बाध्य होनापड़ता है। इस बलात्कारसे जो पूंजी वस्तुओंके निर्माणमें लगायी जातीहै उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनोंका भिन्न भिन्न अवयवोंमें वितरण विकृत होजाता है। इस प्रकारकी आर्थिक रचना स्थायी नहीं रहसकती है, उसपर संकट आना अनिवार्य होजाता है।

साख-द्रव्यके आधारपर पूंजीके लगाव और उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके फल-स्वरूप जब उपभोक्ताओंके आय-स्तरमें वृद्धि होनेवाली है तो उपभोगकी वस्तुओं की मांगमें वृद्धि होनेलगती है क्योंकि उपभोक्ता लोग पुन: अपने उपभोगकी वस्तुओं के परिमाणको उसी स्तरपर लाना चाहतेहैं जहांसे विवश होकर उनको उनसे वंचित होनापड़ा था। यहांपर एक विकट परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। एक ओरतो उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके लिए आर्थिक साधनोंकी मांग रहतीहै और दूसरी ओर उपभोक्ताओंकी आयमें वृद्धि होजानेके कारण उपभोगके पदार्थोंकी मांगमें भी वृद्धि होजाती है और उनके निर्माणके लिएभी आर्थिक साधन चाहिएं। आर्थिक साधन इतनी प्रशस्त मात्रामें नहीं प्राप्त होतेहैं कि दोनोंकी मांगें पूर्णरूपसे पूरी होसकें। हायेकके मतानुसार इस परिस्थितिमें उत्पादक वस्तुओंके निर्माताओंको उपभोगके पदार्थोंको बनानेवाले उद्योग धन्धोंके पक्षमें आर्थिक साधनोंको मुक्त करना पड़ता है। इसके दो प्रधान कारण है। एकतो यहकि उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होनेके कारण इनके उद्योग धन्धोंमें लाभकी वृद्धि होनेलगती है जिसके कारण यह आर्थिक साधनोंको अधिक मूल्य देनेमें समर्थ रहते है। अतएव उत्पादक वस्तुओंको बनाने वाले उद्योग धन्धोंके साथ प्रतिस्पर्धामें अपना हाथ ऊपर करसकते हैं। दूसरा कारण यहहै कि इस अवसरपर बैंकभी साख-द्रव्यको अधिक मात्रामें प्रसारित करनेमें असमर्थ होतेजाते हैं। अतएव वहभी ब्याजकी दरमें वृद्धि करदेते हैं। इस प्रकारकी परिस्थिति में उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें कमी आजाती है और उनपर पूंजीके लगावकी मात्राभी संकुचित होने लगतीहै और आर्थिक अपकर्षका सूत्रपात हो जाता है।

हायेकने अपकर्षकी दशाका पर्याप्त विवेचन नहीं किया है। उसका कहनाहै कि अपकर्ष उत्पादक वस्तुओंके उद्योग धन्धोंसे प्रारम्भ होकर सारी आर्थिक क्रियाओं

पर छाजाता है। इसका कारण यह बताया जाताहै कि इन उद्योग धन्धोंमें संकट आनेके कारण पूंजीके लगावमें कमी आजाती है और द्रव्य बेकार संचित होनेलगता है। द्रव्यके चलनके परिमाणमें संकुचन होनेलगता है। मूल्य-स्तर गिरने लगताहै और लाभकी दर ब्याजकी दरसे कम होनेलगती है। आय और मांगमें इस प्रकार की कमी होनेके कारण उपभोगके पदार्थोंको बनानेवाले उद्योग धन्धोंमें भी मन्दी छाजाती है।

आर्थिक अपकर्षके कालमें आर्थिक क्षेत्रको इन नयी परिस्थितियोंके योग्य बनाने की चेष्टा कीजाती है। साख-द्रव्य जनित उत्पत्तिके उपकरणोंके विस्तारको कम किया जाता है। इसप्रकार कष्ट सहतेहुए आर्थिक परिस्थिति स्थिरताकी ओर (नीचे स्तर पर) अग्रसर होती है। मूल्य-स्तरमें स्थिरता आजाती है और नैराश्यका अन्त हो कर आशाका संचार होनेलगता है और चूंकि बैंकोंके पास बेकार संचित नकदीका कोष पड़ारहता है अतएव वेभी उद्योग धन्धोंको कम ब्याजकी दरपर उदारतापूर्वक ऋण देनेको प्रस्तुत रहते हैं। इसप्रकार आर्थिक-चक्र पुनः उत्थानके पथपर चढ़ने लगता है।

हायेकका यह सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितिकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करताहै और यह दिखानेकी चेष्टा करताहै कि साख-द्रव्यके प्रसारसे किसप्रकार आर्थिक परिस्थिति विकृत होजाती है। परन्तु सभी परिस्थितियोंमें द्रव्यके प्रसार से आर्थिक विकृतियोंका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी नहीं है। जब उत्पादनके साधनों में बेकारी छायी हो तो ऐसी अवस्थामें द्रव्यके प्रसारसे यदि इनकी नियुक्ति होजाये तो कोई कारण नहींहै कि इस प्रकारका आर्थिक विस्तार अवांछनीय सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त बिना अन्य बाह्य प्रेरणाओंकी सहायताके केवल ब्याजकी दरमें कमी होनेसे आर्थिक उत्थान प्रारम्भ होसकता है, इस प्रकारका विश्वास अनुभवसे प्रमाणित नहीं होता है।

उपभोग-हानि सिद्धान्त

एक और सिद्धान्त जो विशेष रूपसे आर्थिक संकटोंके कारणोंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा करताहै, समाजवादियोंकी विचार धाराका द्योतक है। इसको हमने उपभोग-

हानि सिद्धान्तका नाम दिया है। इस सिद्धान्तके मूलमें यह बातहै कि पूंजीवादी आर्थिक पद्धतिमें सम्पत्ति और आयके वितरणमें बहुत असमानता है। आयका एक बड़ाभाग एक छोटे व्यक्तिवर्ग के पास पहुंचताहै जिसमें अधिक परिमाणमें बचत करनेकी प्रवृत्ति होती है। उपभोगके पदार्थोंकी अधिकतम मांग कम आयवाले व्यक्तियोंकी होती है। आयके वितरणकी असमानताके कारण कम आयवाले व्यक्तियों की मांग उस अनुपातमें नहीं बढ़तीहै जिस अनुपातमें वस्तुओंकी उत्पत्तिमें वृद्धि होती है। इसीकारण इन वस्तुओंकी बिक्री कम होजाती है और उत्पादकोंको मूल्य-स्तर घटानेको बाध्य होना पड़ताहै जिससे उनका लाभ घटजाता है अथवा हानि होनेलगती है। यही आर्थिक संकटका कारण होजाता है क्योंकि लाभमें कमी अथवा हानिके कारण उत्पत्तिके परिमाण और आर्थिक साधनोंके नियोगमें कमी होनेलगती है। वितरणकी असमानतासे जो उपभोगकी हानि होतीहै, उसको दूसरे रूपसे सापेक्ष अतिशयोत्पति भी कहसकते हैं अर्थात् इस प्रकारकी उत्पत्ति जिसकी द्रव्य-मयी मांग न होनेसे उत्पादक-व्ययके बराबर मूल्य प्राप्त नहीं होसकता है।

हौब्सन जो इस सिद्धान्तका प्रमुख प्रतिपादकहै, कहताहै कि अधिक आय-स्तर वाले लोग अपनी बचतको बराबर पूंजीके कार्यमें लगाते रहतेहैं जिससे उत्पादक वस्तुओंके निर्माणमें वृद्धि होतीरहती है। अब चूंकि उत्पादन-क्रियाओंमें जो द्रव्य-मयी आय होतीहै, उसका एकबड़ा हिस्सा उन लोगोंके पास पहुंचजाता है जिनमें बचत करके उसको पूंजीके रूपमें लगानेकी प्रवृत्ति होती है, अतएव इन उत्पादित वस्तुओंकी मांग पूरी नहीं होपाती है। हौब्सन कहताहै कि यदि पारिश्रमिककी वृद्धि करके कम आय-स्तरवाले लोगोंकी आयमें वृद्धि करदीजाये जिनमें अपनी आयके एक बड़े भागको उपभोगकी वस्तुओंमें व्यय करनेकी प्रवृत्ति होतीहै तो इससे मांग का परिमाण बनारहे और आर्थिक क्रियाएंभी ठीक ठीक चलतीरहें क्योंकि उपभोग की वस्तुओंके निर्माणके लिएही उत्पादक वस्तुओं (यन्त्र, मशीन इत्यादि उपकरण) का निर्माण कियाजाता है। अतएव उत्पादक वस्तुओंकी मांग बनीरहे। पूंजीवादी आर्थिक पद्धतिमें समय समयपर आयके वितरणकी असमानताके कारण उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें हानि होजाती है। अतएव पूंजीके लगावमें भी कमी करनीपड़ती है जिसके फलस्वरूप आर्थिक संकटका प्रादुर्भाव होजाता है।

यह बात सभीको मान्यहै कि पूंजीवादी पद्धतिमें आयका वितरण बहुत असमान

है और यहभी सभी मानतेहैं कि श्रमजीवियोंके आय-स्तरको ऊंचा करके उनके जीवन-स्तर को ऊंचा करना भौतिकही नहीं परन्तु आर्थिक दृष्टिसे भी अत्यन्त आवश्यक है। उपभोग-हानि सिद्धान्तका छिद्रान्वेषण इस दृष्टिकोणसे नहीं किया जाता है। हमतो यह जानना चाहतेहैं कि क्या उपभोगके लिए वस्तुओंकी मांगकी हानिके कारणसे आर्थिक संकटका जन्म होता है। इस कसौटीपर यह सिद्धान्त ठीक नहीं उतरता है। पहिले तो हौब्सनकी इस उक्तिमें ही तथ्य नहींहै कि सारीकी सारी बचत पूंजीके रूपमें परिणत होकर आर्थिक क्रियाओंमें लगादी जातीहै। जैसा कि हम बचत और पूंजी-लगावके सिद्धान्तमें देखेंगे, आर्थिक अस्थिरता और अपकर्ष का एक प्रधान कारण यहहै कि बचत पूंजीके रूपमें क्रियाशील न होकर बेकार संचित होनेलगती है। इसके अतिरिक्त आर्थिक उत्कर्षके कालमें जब श्रमजीवियोंका पूर्ण नियोग होने लगताहै, उपभोगके परिमाणमें वृद्धि होतीहै न कि हानि। हां यहबात अवश्यहै कि जब आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाताहै तो उद्यम और आयमें कमी आनेके कारण उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें भी कमी आजाती है और इसके कारण अपकर्ष शीघ्रतासे गर्तकी ओर अग्रसर होने लगता है। उपभोग-हानि होती अवश्यहै परन्तु यह अपकर्षका कारण नहीं अपितु उसको उत्तेजित करती है। इस सम्बन्धमें एकबात औरभी कही जासकती है। अनुभव और आंकड़ोंसे पता चलताहै कि अपकर्ष का प्रारम्भ उत्पादक वस्तुओंवाले उद्योग धन्धोंमें होताहै और इन्हीं उद्योग धन्धोंमें आर्थिक-चक्रका वेगभी रहता है। हौब्सनके मतानुसार पहिले संकट उपभोगकी वस्तुओंको बनानेवाले उद्योग धन्धोंमें होना चाहिए।

बचत और पूंजी-लगाव सिद्धान्त

आधुनिक चक्रके विवेचन और विश्लेषणमें आधुनिक कालमें एक नये और महत्व-पूर्ण दृष्टिकोणका विकास हुआहै। यह दृष्टिकोण बचतकी मात्रा और पूंजीके लगावकी मात्राके सामंजस्यसे सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोणका आर्थिक-चक्रमें समावेश करनेका विशेष श्रेय इंगलैंडके प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स को दियाजाता है। केन्स का कोई निजी सिद्धान्त आर्थिक-चक्रको पूर्णरूपसे समझाने के लिए प्रतिपादित नहीं है। उसने बचत और पूंजीके लगावकी इस प्रकारकी परिभाषाओंका प्रयोग

कियाहै कि इन दोनोंका परिमाण सदाही समान रहता है। इस प्रकारकी समानता प्रकट करनेमें कोई वैध दोष नहींहै परन्तु प्रगतिशील आर्थिक-चक्रको समझानेमें बचत और पूंजीके लगावकी समानता मानकर चलनेमें हम अपनेको वास्तविकता से हटाहुआ पाते हैं। अतएव हम इस बचत और पूंजीके लगावके सिद्धान्तकी विवेचना करनेमें बचत और पूंजीके लगावके परिमाणमें असमानता होनेकी सम्भावना को मानतेहुए आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको समझानेमें इसका प्रयोग करेंगे।

हम विश्लेषणके कार्यको आर्थिक गर्तकी अवस्थासे प्रारम्भ करते हैं। कल्पना कीजिए किसी संयुक्तिक कारणसे पूंजीके लगावमें वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होजाती है। होसकता है कि यह कारण नये आविष्कार, शिल्पकला, विज्ञानमें उन्नति, युद्ध-सामग्रीके निर्माणकी वृद्धि अथवा ब्याजकी दरमें कमी होनेसे सम्बन्धित हो। इस पूंजीके लगावमें वृद्धिके लिए द्रव्य या तो पूर्व संचयसे लियाजायेगा अथवा बैंक नये साख-द्रव्यकी सृष्टि करके उत्पादकोंको उपलब्ध करेंगे अथवा दोनों रीतियां साथ साथ प्रयोगमें आयेंगी। इसप्रकार पूंजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे बढ़जायगी और यह वृद्धि पुरानी बचतको काममें लाकर अथवा नये साख-द्रव्य के प्रयोगसे पूरी कीजायगी। अनुभवसे ज्ञात होताहै कि पूंजीके लगावके परिमाणमें बचतके परिमाणसे कहीं अधिक अस्थिरता रहतीहै क्योंकि पूंजीका लगाव उसकी वर्तमान और भविष्यकी उत्पादकता और लाभकी आशापर निर्भर रहताहै। पूंजीके लगावकी अस्थिरताही आर्थिक अस्थिरताका प्रधान कारण समझी जाती है।

गुणक सिद्धान्त

पूंजीके लगावमें वृद्धि होनेसे आर्थिक साधनोंको अधिक काम मिलताहै और उनकी आयमें भी वृद्धि होती है। जब इस बढ़ीहुई आयको उपभोक्ता लोग भिन्न भिन्न पदार्थोंपर व्यय करते हैं तो उन वस्तुओंके बनानेवालोंकी आयमें वृद्धि होतीहै और जब येलोग अपनी बढ़ीहुई आय व्यय करतेहैं तो इसके फलस्वरूप नयी आय उत्पन्न होती है। इसप्रकार प्रारम्भमें पूंजीके लगावकी मात्राको बचतकी मात्रासे बढ़ानेसे अन्ततोगत्वा कुल आयमें कईगुनी वृद्धिहो सकती है। उदाहरणके लिए यदि प्रारम्भ

में पूंजीका लगाव बचतसे १००० रुपया अधिकहो तो उसके व्ययसे १००० रुपया प्रारम्भिक आय होगी। मानलीजिए इस प्रारम्भिक आयका कुछ हिस्सा बचा लियागया और शेष उपयोगकी वस्तुओंपर व्यय कियागया। इस व्ययसे जो आय होगी उसको द्वितीय आय कहसकते हैं। इस द्वितीय आयका परिमाण प्रारम्भिक आयसे कम होगा। इसीप्रकार द्वितीय आयका कुछ हिस्सा बचालिया जायगा और शेष उपभोगकी वस्तुओंपर व्यय किया जायगा। इससे तृतीय आयका सृजन होगा जिसका परिमाण प्रारम्भिक आयसे कम होगा। इसीप्रकार चतुर्थ, पंचम इत्यादि स्तरोंमें नयी आयका परिमाण कम होता जायगा। यदि हम इनसब स्तरोंकी आयों को जोड़ें तो हमको ज्ञातहोगा कि यह कुल आय १००० रुपयेसे कईगुनी अधिक है। यदि यह कुल आय ३००० रुपयाहो तो हम कहसकते है कि पूंजीके लगावकी मात्रामें बचतकी मात्रासे १००० रुपयेके आधिक्यसे ३००० रुपयेके बराबर कुल आय हुई। इस सम्बन्धको हम 'गुणक सिद्धान्त' कहेंगे। उपरोक्त उदाहरणमें गुणक ३ है। स्पष्टहै कि गुणकके परिमाणका बचतके परिमाणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि प्रारम्भिक आय सबकी सब बचाली जाय तो इससे उत्तरगामी आय नहीं होगी और गुणक एक होगा। यदि आधी आय बचायी जाय तो गुणक दो और यदि चोथाई आय बचायी जाय तो गुणक चार होगा। जैसे बचतकी मात्रासे पूंजी के लगावमें वृद्धि होनेसे कुल आयमें इस अन्तरसे अधिक मात्रामें वृद्धि होतीहै इसी प्रकार जब पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतसे कमहो जातीहै तो कुलआय इस अन्तरसे अधिक मात्रामें घटजाती है।

गति-वृद्धि सिद्धान्त

उपभोग्य वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होनेसे पूंजीके लगावको भी प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होती है। उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें जिस परिमाणमें वृद्धि होतीहै, उससे बड़े परिमाणमें उत्पादक वस्तुओंकी मांगकी वृद्धि होती है। उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें वृद्धिके फलस्वरूप पूंजीके लगावमें जो वृद्धि होता है उस सम्बन्धको 'गति-वृद्धि सिद्धान्त' द्वारा समझाया जाता है। इस पूंजीके लगावमें वृद्धिके लिए द्रव्य बैंकोसे प्राप्त किया जाताहै और गुणक सम्बन्धी

बचतसे भी प्राप्त होता है। इस प्रकार पूंजीके लगावमें वृद्धि होनेसे पुन: आयमें वृद्धि होती है और पुन: गुणक सिद्धान्त सम्बन्धी आयका चक्र चलने लगता है। इससे पुन: पूंजीके लगावको उत्तेजना मिलतीहै और इसप्रकार की क्रिया और प्रतिक्रिया चलने लगती है। यह गति-वृद्धि–सिद्धान्त अपकर्षके कालमें भी लागू होता है। जब उपभोग्य वस्तुओंकी मांग कम होजातीहै तो उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें इससे कहीं अधिक शिथिलता आजाती है।

गुणक और गति-वृद्धिके सिद्धान्तके आधारपर हम अनुमान करसकते हैं कि जब पूंजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे बढ़जाती है तो आर्थिक उत्कर्षमें तीव्रता क्यों आने लगती है। अब प्रश्न यहहै कि इस प्रगतिमे बाधा क्यों पड़जाती है और पूंजीके लगावमें कमी क्यों होने लगती है। एक कारणतो यहहै कि जैसे जैसे उत्पादक वस्तुओंके निर्माणमें वृद्धि होती रहतीहै कुछ समय बाद आर्थिक साधनोंको प्राप्त करनेके लिए उत्पादक-व्ययमें वृद्धि करना अनिवार्य होजाता है। इसके अतिरिक्त यदि इस परिस्थितिमें बैंकभी ब्याजकी दरमें वृद्धि करदें तो नये उद्योग धन्धे जिस लाभकी आशासे चलाये गयेथे, वह आशा क्षीण होने लगती है। टिकाऊ उत्पादक वस्तुओंकी मात्रामें वृद्धि होनेपर कुछ समयके बाद उनकी सीमान्त उत्पादकतामें ह्रास होने लगता है। इन सभी कारणोंके फलस्वरूप कुछ अशक्त उद्योग धन्धे पहिले ही धक्केको सम्हालनेमें असमर्थ होतेहैं और अपने व्यवसायका क्षेत्र कम करना आरम्भ करदेते है। अन्य उद्योग धन्धेभी शंकित होने लगतेहैं और शीघ्रतासे अपने को उऋण करनेका प्रयत्न करते है। वे पूंजीके लगावसे हाथ खीचने लगते हैं। वे अपनेको ऋण-शोधनशील बनाये रखनेके लिए पूंजीको बचतके रूपमें रखने लगते हैं। जब चालू बचतकी मात्रा पूंजीके लगावके रूपमें बाहर न निकलकर संचित रूपमें रखीजाने लगतीहै तो इससे भयानक आर्थिक विकृतिका सूत्रपात होजाता है। जो आय बचतके रूपमें रोकली गयी उससे उत्पादक वर्गकी इसी परिमाणमें हानि होगी जिससे पूंजीके लगावको औरभी धक्का पहुंचेगा।

जैसेही पूंजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे कम होने लगती है, गुणक सिद्धान्त और गति-वृद्धि सिद्धान्त आर्थिक-चक्रको वेगके साथ अपकर्षकी ओर ढकेल देते हैं। पूंजीके लगावमें कमीके कारण आर्थिक साधनोंमें बेकारी आने लगतीहै और आय-स्तर गिरने लगता है। प्रारम्भिक आयमें कमीके कारण द्वितीय, तृतीय

तथा आगेके स्तरोंकी आयभी घटती जातीहै और आयमें कुल कमी पूंजीके लगाव में कमीसे कईगुना अधिक होजाती है। आयकी कमीके कारण उपभोग्य-वस्तुओं की मांगमें भी कमी आजाती है जिससे पूंजीके लगावमें औरभी अधिक ह्रास हो जाताहै और इस कमीसे भी गुणक-रूपी आय वेगसे कम होने लगती है। इसप्रकार आर्थिक-चक्र गर्तकी ओर अग्रसर होने लगता है।

आर्थिक-चक्र गिरताही क्यों नहीं जाताहै और कहांपर जाकर रुकताहै, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। उपभोग्य वस्तुओंकी मांगमें उत्पादक वस्तुओंकी मांगकी अपेक्षा अधिक स्थिरता होती है। अतएव आर्थिक अपकर्षकी प्रगतिमें एक रोक इस दिशासे आती है। जीवन-स्तरको अधिक मात्रामें गिरनेसे बचानेकी सभी चेष्टा करते हैं। जिसके निमित्त पुरानी बचतभी व्यय करने लगते है। इसप्रकार उपभोग्य वस्तुओंकी मांग एक स्तरपर पहुंचकर स्थिर होजाती है। इससे कुछ अंश में उत्पादक वस्तुओंकी मांगभी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उत्पादक वस्तुएंभी समयके प्रभावसे और बराबर काममें लानेसे जीर्ण और अव्यवहार्य होजाती है। इन को बदलनेके लिएभी पूंजीका लगाव होता रहता है। इसप्रकार चिनगारी सुलगती रहतीहै और यदि इससमय पर पूंजी लगानेके नये अवसर प्राप्तहों और उत्पादक वर्गमें आशाका संचार होनेलगे तो शनैः शनैः उत्थानका क्रम आरम्भ होने लगेगा।

बचत और पूंजीके लगावका सिद्धान्तभी सम्पूर्ण आर्थिक-चक्रको नहीं समझाता है। परन्तु इस दृष्टिकोणसे विवेचना करनेमे एक विशेषता यहहै कि हम इसमें अधिक उदारता पाते हैं। द्रव्यसम्बन्धी मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सिद्धान्तोंको इस के अन्तर्गत लिया जासकता है। यही कारणहै कि अर्थ-चक्रकी आधुनिक विवे-चनामें इस सिद्धान्तको एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।

उत्कर्ष और अपकर्ष का प्रतिकार

पूंजीवादी पद्धतिके अन्तर्गत आर्थिक-चक्रका पूर्णरूपसे उन्मूलन करना असाध्य प्रतीत होता है क्योंकि इसके संस्थान और सम्बन्ध इस प्रकारके होतेहैं जिनसे अस्थिरता उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकती है। परन्तु आर्थिक योजना और नियन्त्रण द्वारा कुछ अंशतक इसका निराकरण किया जासकता है। इसका भार विशेषरूपसे राज्य

के ऊपर डाला जाताहै कि वह अपनी राजस्व-नीति द्वारा और द्रव्य-नीति द्वारा आर्थिक अस्थिरतामें कमी लानेका प्रयत्न करे। स्पष्टहै कि आर्थिक विषयोंमें राज्य का जितना अधिक हाथ होगा, उसी हिसाबसे वह इस कार्यमें सफलता प्राप्तकर सकेगा। पहिले महायुद्धके बाद और विशेष रूपसे १९२९-१९३३ के विश्व-व्यापी आर्थिक संकटके बाद राज्यका हस्तक्षेप देशके आर्थिक कार्योंमें बहुत बढ़गया है और यह प्रवृत्ति बढ़तीही जारही है। आधुनिक कालमें राज्य द्वाराभी एक बड़ी मात्रामें पूंजी लगानेका कार्य होता है। हमने देखा कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष का एक प्रधान कारण पूंजीके लगावकी मात्रामें अस्थिरता आजाना है। अन्य उत्पादक तो द्रव्यात्मक लाभकी आशासे पूंजी लगातेहैं और जब लाभकी आशा घटने लगतीहै तो वे भी पूंजीके लगावमें कमी करने लगजाते है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाता है परन्तु राज्यके पूंजी-लगावका उद्देश्य इसप्रकार का द्रव्यात्मक लाभ नहीं होताहै। अतएव राज्यतो अपने पूंजीके लगावके कार्यमें अस्थिरता आनेको रोक सकता है। साथही साथ राज्य अपनी पूंजीके लगावकी नीति द्वारा कुछ अंशतक क्षतिपूरकका कार्यभी करसकता है। उदाहरणके लिए यदि आर्थिक परिस्थिति इस प्रकारकी होगयी हो कि पूंजीपति पूंजीके लगावके परिमाणको घटाने लगगये हों और द्रव्यका संचय होना प्रारम्भ होगया हो तो राज्य को चाहिए कि ऐसी परिस्थितिमें वह अपनी पूंजीके लगावमें वृद्धि करके क्षतिपूरकका काम करे। यह आवश्यक है कि योजनाएं पहिलेसे ही तैयार रहें ताकि उचित समयपर तत्काल यह कार्यरूपमें परिणत की जासकें। नहीं तो आर्थिक साधनोंके कुप्रयोगकी आशंका होगी। राज्योंके पास इसप्रकार की योजनाओंकी कमी नहीं होसकती है। नहर, सड़क, रेल और अनुपयोगी भूमिको उपयोगी बनाना इत्यादि अनेक प्रकारके कार्य सभी देशोंमें वांछनीय हैं। इन कार्योंके लिए राज्यको द्रव्य चाहिए। इस सम्बन्धमें राज्यको या तो वह द्रव्य, जो कि बेकार संचित होरहा हो, ऋणके रूपमें लेकर पुनः चलनमें लाना चाहिए अथवा नये साख द्रव्यसे अपने कार्यों का सम्पादन करना चाहिए। कर द्वारा द्रव्य प्राप्त करनेकी चेष्टा से पूंजीके लगावमें औरभी कमी आनेकी आशंका रहती है।

राज्यके पूंजीके लगावमें वृद्धि होनेसे गुणक-सिद्धान्त कार्यान्वित होने लगेगा और इससे उपभोक्ताओंकी आय और मांगकी मात्रामें भी वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होगी।

यह आवश्यकहै कि राज्यका इस पूंजीके लगावका कार्य अपकर्ष आरम्भ होतेही चालू करदिया जाय। देर होजानेसे जब आर्थिक परिस्थिति गर्तकी ओर बहुत दूर तक अग्रसर होगयी हो तो फिर राज्यको रोकथाम करना बहुत कठिन होजायगा। अपकर्षके कालमें बेकारोंको द्रव्य-रूपमें सहायता देकरभी कुछ अंशतक उपभोगके पदार्थोंकी मांग बनायी रखीजा सकती है। इसीप्रकार सर्वसाधारणके उपभोगकी वस्तुओंपर कर-भार हलका करनेसे उनकी मांगमें वृद्धि होनेकी सम्भावना रहती है।

उत्कर्षके कालमें राज्यको यह देखना पड़ताहै कि पूजीका लगाव असन्तुलित रूप में न बढ़ने पावे। इसकेलिए राज्यको पूंजीके लगावके नियन्त्रणकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त राज्यको अपनी पूजीके लगावकी मात्राको भी इस आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनाना पड़ेगा। ऐसी परिस्थितिमें राज्यको अपने व्ययमें कमी करनी पड़ेगी। अपने बजटमें बचत लानेका प्रयत्न करना पड़ेगा। कर-नीति द्वाराभी इसप्रकार का प्रबन्ध करना पड़ेगा कि उत्कर्षमें उत्तेजना न आनेपाये।

जैसा ऊपर बतलाया जाचुका है कि आर्थिक क्रियाओंको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यकहै कि उपभोक्ताओंकी मांग बनी रहे। क्योंकि कम आयवाले लोग अपनी आयका अधिकांश उपभोगके पदार्थोंमें व्यय करतेहै और धनी वर्गमें बचत करनेकी प्रवृत्ति अधिक मात्रामें पायीजाती है। अतएव इसप्रकार की कर-नीति जिसके द्वारा धनका वितरण कम आयवालोंके पक्षमें हो, उपभोगकी मात्राको प्रोत्साहित करनेमें सहायता देसकेगी।

द्रव्यनीति द्वाराभी आर्थिक-चक्रकी विषमताओंको कम करनेमें सहायता प्राप्त होसकती है। केन्द्रीय बैंकका धर्महै कि वह निरन्तर आर्थिक परिस्थितियोंका अध्ययन करतारहे और सदैव सतर्क रहे। जैसेही विषमताओंके लक्षण प्रकट होनेलगें वैसे ही अपने उपकरणोंको उनके प्रशमनके लिए काममें लानेलगे और सरकारका ध्यान भी इसकी ओर आकर्षित करे। केन्द्रीय बैंकपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। उसको देशकी द्रव्य और बैंक प्रणालीपर पूरा अधिकार प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। ब्याजकी दरका आर्थिक अवयवों और उसके सम्बन्धोंपर बडा प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय बैंकको चाहिए कि वह समय समयपर आर्थिक परिस्थितिके अनुसार ब्याजकी दरमें परिवर्तन लानेकी चेष्टा करे।

वास्तवमें राजस्व नीति और द्रव्य नीतिका सामंजस्य करकेही उत्कर्ष और अपकर्ष सम्बन्धी व्याधियोंको कम कियाजा सकता है। अतएव सरकार और केन्द्रीय बैंक दोनोंकी नीतिमें विरोध नहीं होना चाहिए। केन्द्रीय बैंकोके राष्ट्रीयकरणसे यह आशा कीजाती है कि ये दोनों नीतियां एक दूसरेको सहायता देतीहुई आर्थिक-चक्रकी व्याधियोंके प्रशमनमें सफल होसकेंगी।

३१

राजस्व का स्वरूप और क्षेत्र

राज्य और शासन की आवश्यकता

मनुष्य समाजमें रहना पसन्द करता है। प्राचीन कालके इतिहाससे ज्ञात होताहै कि वह किसी कुनबे, कबीले अथवा गिरोहका सदस्य रहा है। आधुनिक कालमें समाजका क्षेत्र बढ़कर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय होगया है। जब मनुष्य साथ साथ रहने लगतेहैं तो अनेक इसप्रकारकी आवश्यकताएं उत्पन्न होजाती है जिनको सामूहिक आवश्यकताएं कहसकते है। इसप्रकारकी आवश्यकताओंको पूरा करने का प्रबन्ध समाजको करना पड़ता है। उदाहरणके लिए बाहरी आक्रमणसे समाज की रक्षा कोई व्यक्ति-विशेष नहीं करसकता है। यह सारे समाजका ही कर्तव्य हो जाता है कि वह मिलकर शत्रुको मार भगाये। इसी प्रकार मनुष्योके साथ रहनेसे मारपीट, चोरी, डकैती होनेकी सम्भावना रहतीहै। इससे अशान्ति पैदा होजाती है। समाजका यहभी कर्तव्य होजाता है कि वह इन व्याधियोंसे अपने सदस्योंकी रक्षाका प्रबन्धकरे और आततायीको दंड दे। इसके अतिरिक्त संक्रामक रोगोंसे तथा अग्निकांडसे समाजके व्यक्तियोंको बचानेका प्रबन्ध भी करना पड़ता है। इसप्रकार के सामूहिक कर्तव्योंका पालन करनेके लिए तथा समाजके जीवनको व्यवस्थित करनेके लिए राज्य और शासनका सूत्रपात हुआ और शनैः शनैः उनका विकास हुआ। जिसप्रकार श्रम-विभाग और विशिष्टीकरण से मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी अधिक मात्रामें और अधिक सुगमता और कुशलताके साथ तृप्ति करसकता है, उसी सिद्धान्तके अनुसार सामूहिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध एक विशेष संस्था द्वारा अधिक प्रवीणता और तत्परताके साथ होसकता है। एक प्रकारसे राज्य और शासनकी स्थापना और उनका विस्तार श्रम विभाग की विशिष्टताका एक उदाहरण है।

प्रारम्भमें इस प्रकारकी आवश्यकताओंका क्षेत्र परिमित था। राज्यके तीन प्रधान कर्तव्य समझे जातेथे। पहिला—बाहरी आक्रमणसे रक्षाका प्रबन्ध, दूसरा—समाजके भीतर शांति-रक्षाका प्रबन्ध और तीसरा—सरकारी इमारत, सड़क, पुल और नहर इत्यादिके निर्माणका प्रबन्ध। शनैः शनैः अनुभवसे ज्ञातहुआ कि इन कार्यों के अतिरिक्त अनेक कार्य औरभी हैं जिनका सम्पादन राज्यद्वारा अधिक सुगमता और कम व्ययके साथ होसकता है। उदाहरणके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा का प्रबन्ध करना, डाक, तार, मुद्रा और बांटका प्रबन्ध करना इत्यादि। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञातहोगा कि आधुनिक कालमें हमारे आर्थिक कार्योंका शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र होगा जिसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें राज्यका हस्तक्षेप न होता हो। दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, आजकल हमको अन्न और वस्त्र सदृश प्रारम्भिक वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिए राज्यका मुंह देखना पड़ता है क्योंकि इन वस्तुओंकी कमीहै और जनताके हितके लिए यह आवश्यकहै कि इनका वितरण इसप्रकार से हो कि धनी और निर्धनी सभी लोगोंको उचित मूल्यपर ये वस्तुएं प्राप्त हों। यह कार्य राज्य द्वाराही किया जासकता है। इसप्रकार भिन्न भिन्न परिस्थितियों का सामना करनेके लिए राज्यके आर्थिक कार्योंका क्षेत्र बढ़ता जारहा है और इसके आगेभी विस्तृत होनेकी सम्भावना है।

आर्थिक कार्यों में राज्यके हस्तक्षेप की आवश्यकता

कुछ काल पहिले ऐसी विचारधारा थी कि लोगोंको अपने आर्थिक कार्य करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ऐसा कहा जाताथा कि क्योंकि मनुष्य समाजका ही अंग है इसलिए अपने हितके लिए जोकोई भी कार्य वह करेगा उससे समाजका हितही होगा। राज्यका कर्तव्य यही समझा जाताथा कि वह रक्षा, न्याय, सड़क इत्यादिका प्रबन्ध करदे। अन्य आर्थिक कार्योंमें राज्यका हस्तक्षेप अनावश्यक हीनहीं परन्तु अनुचित भी समझा जाता था। इसप्रकार की आर्थिक व्यवस्थाको पूंजीवादका नाम दियागया है।

पूंजीवादके अन्तर्गत आर्थिक कार्यों और आर्थिक सम्बन्धोंको देखनेसे पता चलता है कि किसीभी व्यक्तिके स्वहितके कार्योंसे समाजका हित होना अवश्यम्भावी नहीं

है। उदाहरणके लिए यदि कोई पूंजीपति मजदूरोंसे १६ घंटे प्रतिदिन काम ले और उनको केवल जीवन-निर्वाह योग्य वेतनदे तो उसका तो लाभही होगा परन्तु मजदूरों और उनके बच्चोंके स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन-स्तरपर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसप्रकार की परिस्थितिको पैदा होनेसे रोकनेके लिए आजकल राज्यकी ओरसे न्यूनतम-वेतन और अधिकसे अधिक कामके घंटे निश्चित करदिये जाते है। इसीप्रकार यदि ज़मीन्दार किसानोंसे मनमाना लगान वसूल करें और जब चाहें तब उनको निकालदें तो इससे ज़मीन्दारोंका लाभ और किसानोंकी हानिही होगी। अब इन दोनों वर्गोंकी लाभ-हानिको दृष्टिमें रखतेहुए और यह देखतेहुए कि मज़दूरों और किसानोंकी संख्या मिल-मालिकों और ज़मीन्दारोंकी संख्यासे कईगुना अधिकहै, यह निश्चयहै कि इस प्रकारकी स्वेच्छाचारितासे समाजकी हानिही होगी। ऐसी अवस्थाओंमें राज्यका हस्तक्षेप करना नितान्त आवश्यक होजाता है।

इतनाही नहीं आधुनिक कालमें राज्यसे यह आशाकी जातीहै कि वह क्रियात्मक रूपसे समाजके आर्थिक कार्योंमें सहयोगदे और अपनी आर्थिक और राजस्व-नीतिको बदलतीहुई आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनाये। वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें उत्पत्तिके साधन कभी कभी बेकार पड़े रहतेहै और आर्थिक मन्दी—जोकि पूंजीवादमें समय समयपर उत्पन्न होजाती है, के अवसरपर तो यह बेकारी बहुत बड़ी मात्रामें होजाती है। इससे राष्ट्रीय आयमें कमी और रहन सहनमें क्षति होजाती है। ऐसी अवस्थामें राज्यका कर्तव्य होजाताहै कि वह अपनी राजस्व-नीति द्वारा बेकारी हटानेका नहीं तो कम करनेका प्रयत्न तो अवश्य करे और आर्थिक-पद्धतिको उत्कर्ष की स्थिरताकी ओर अग्रसर करे। कर, व्यय और ऋण सम्बन्धी अध्यायोंमें बताया जायेगा कि राज्य किन किन उपायोंसे इसप्रकार के कार्य करसकता है।

राजस्व के मुख्य विभाग

ऊपर दियेगये वृत्तान्तसे स्पष्ट होजाता है कि राज्यके आर्थिक कार्योंके क्षेत्रमें बहुत वृद्धि होगयी है। इन कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यको साधनोंकी आवश्यकता होती है। ये साधन कहांसे और किस प्रकारसे प्राप्त कियेजायं और इनका समाजके उत्पादन और वितरणके कार्योंमें किसप्रकार का प्रभाव पड़ेगा, इसप्रकारके विषयों

का विवेचन राजस्वका एक मुख्य अंग है। जिसप्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को द्रव्यरूपी आयसे पूरी करताहै इसीप्रकार सामूहिक आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिए राज्यको भी द्रव्यके रूपमें आयकी आवश्यकता होती है। यह आय आधुनिक कालमें प्रधानत: राज्य अपनी प्रजासे कर के रूपमें लेता है। राज्यको अपनी सम्पत्ति और अपने उद्योग धन्धोंसे भी कुछ आय होती है। कुछ छोटी मोटी मदें आयकी औरभी है जिनका विवेचन राज्यकी आयके अध्यायमें किया जायेगा।

राजस्वका दूसरा विभाग व्यय सम्बन्धी है। सामूहिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध करनेके लिए राज्यको द्रव्यका व्यय करना पड़ता है। व्ययकी अनेक मदें है। कितना व्यय किस मदमें कियाजाय और किस कालमें कियाजाय यह एक महत्वपूर्ण विषय है। राज्य जब बड़ी मात्रामें विविध कार्योंमें व्यय करताहै तो इसका प्रभाव सारे आर्थिक क्षेत्रपर पड़ता है। अतएव राज्यको बहुत सोच समझकर अपनी व्यय-नीति निर्धारित करनी पड़ती है।

अनेक ऐसे अवसर आजाते हैं जबकि राज्यकी सामान्य आय, व्ययके लिए पर्याप्त नहीं होती है। उदाहरणके लिए रेल, नहर, युद्ध इत्यादि मदोंपर बहुत व्यय होता है और राज्य अपनी सामान्य आयसे इनकी पूर्ति करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। अतएव उसको ऋण लेना पड़ता है। कभी कभी द्रव्यके अत्यधिक प्रसारको कम करनेके लिएभी राज्य ऋण लेता है। आधुनिक कालमें प्रत्येक राज्यके ऋणकी मात्रामें बहुत वृद्धि होगयीहै और इससे अनेक समस्यायेंभी उत्पन्न होगयी है। अतएव यहभी राजस्वका एक पृथक विभाग बनगया है।

आय और व्ययका हिसाब रखना, बजट बनाना, बजटकी मदोंको राज्य-परिषद द्वारा स्वीकृत करवाना और स्वीकृतिके अनुसार भिन्न भिन्न विभागों द्वारा भिन्न भिन्न मदोंमें व्ययका प्रबन्ध करना और उसकी जांच परताल करना—इसप्रकार के कार्यभी बहुत महत्वपूर्ण है। इनका विवेचन राजस्व प्रशासन विभागके अन्तर्गत कियाजाता है।

राजस्व-शास्त्रके यही चार मुख्य विभाग है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि राजस्वके ये चारों विभाग एक दूसरेसे पृथक है। विवेचनाकी सुगमताके लिए ही इनको अलग अलग कियागया है अन्यथा एकका दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणके लिए राज्यके व्ययका समाजके ऊपर क्या प्रभाव पड़ा इसको पूरी तौर

युद्धकालीन ऋण ४०५
राज्य और शासन की आवश्यकता ३५१; आर्थिक कार्यों में—के हस्तक्षेप करने की आवश्यकता ३५२; की आय ३६८; की आय की मदें ३६८; के उद्योग-धन्धे ३६९; की आय का वर्गीकरण ३६२; की अच्छी आय पद्धति की विशेषताएं ३७२; ऋण ४०३; ऋण का प्रयोजन और महत्व ४०३
राजस्व के मुख्य विभाग ३५३; का स्वरूप और क्षेत्र ३५१
राष्ट्रीय-आय १८०; का अर्थ १८०; की माप-विधि १८१; की वैकल्पिक माप-विधियां १८२; और भौतिक कल्याण १८३; राष्ट्रीय आय मापने के लाभ १८५;
रिकार्डो ११६, १२६, १८८-१८९, १९१-१९३, २०१
रिकार्डो का भूमि-कर सिद्धान्त १८८; के सिद्धान्त की आलोचना १९१
रौबिन्स १७०
लाभ २१७; शुद्ध और मिश्रित—२१७; का भूमि-कर सिद्धान्त २१७; जोखिम और—२२०; का प्रगतिशील सिद्धान्त २२१; अधिकतम सामाजिक—सिद्धान्त ३५५
लॉक ११५
व्यवस्था १५०; की आवश्यकता १९२; के रूप १२८
वैज्ञानिकप्रबन्ध का अर्थ तथा उद्देश्य १६६; के दोष १६८
वाकर ११८, २१७
वालरेस १०५, ११९
व्यापार उन्मुक्त और संरक्षित—३२०
व्यापारिक विषमता सिद्धान्त २९४; समनुबन्ध ३२७
व्हाइट योजना ३०५
वावी १६५
विक्सटीड ११९, २१५
विक्सेल १४७, १५२
विनिमय वस्तु—की प्रथा २२४; का माध्यम २२५; —साध्य नोट २३६; स्वर्ण—द्रव्य पद्धति २४८; द्रव्य का—मूल्य २६१; मूल्य और —मूल्य; २६१ विदेशी—२९०; विदेशी—की आवश्यकता २९०; स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति और विदेशी —२९५; नियन्त्रित विदेशी —२९७; अविनिमय साध्य द्रव्य पद्धति और विदेशी—३००
विनियोग सर्वोत्तम—का सिद्धान्त १३१
विश्वबैंक ३१०
वीज़र ११९, १२४
वैकल्पिक व्यय १२०
श्रम की गतिशीलता ७७; बाज़ार

६३; और उत्पादन-व्यय सिद्धान्तों की त्रुटियां ११८; की परिभाषा १३४; कुशलता १४०; विभाजन के लाभ १४२
स्थानापन्नता की दर ५२; की लोच ५७; सीमान्त—१००; दो प्रकार की स्थानापन्न वस्तुएं ६६
स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति २४६; अमुद्रित —२४७; के गुण और दोष २४६; का अन्त २५४
स्वर्ण मुद्रा पद्धति २४७
स्वर्ण विनिमय द्रव्य पद्धति २४८
सट्टा ६४
सन्तुलन आर्थिक १०४; मूल्यों का १०५; संस्था का १०७; उद्योग और उसका १११; उत्पादन और उसका १११
समाजवाद १७५
साख द्रव्य २३६; द्रव्य का सृजन २४०; और साख पत्र २७५
साधनों की अविभाज्यता १३२
सापेक्ष मूल्य ६८
साम्यवाद १७६
सीमान्त उपयोगिता २५; सम—उपयोगिता नियम २८; उपयोगिताओं का अनुपात ५३; उत्पादन व्यय ८६-६१; आय ८६, ६२; उपयोगिता सिद्धान्त ११६; उत्पत्ति सिद्धान्त १६८; तृप्ति १०२
सूचकअंक २६३
ह्रासशील जन-संख्या १३६
हंटिंग्टन १४०
हायेक ३३६–३४१
हायेक का सिद्धान्त ३३६
हेन्री जॉर्ज ३८२
हौट्रे ३३७–३३६
हौब्सन ३४२–३४३